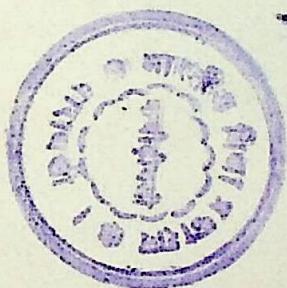




101

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

[Nireeshwarwad : Bharatiya Ewam Paschatya]



निरीक्षरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

डॉ० याकुब मसोह

पी-एच्० डी० (एडिनबरा), डी० लिट्० (पटना)

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन-विभाग,
मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

सम्मेलन भवन, पटना-३

© बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार
(शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत
अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ संख्या : ५४

प्रथम संस्करण : १९७३

२,०००

मूल्य : १०.४० (दस रुपया चालीस पैसे)

प्रकाशक : निदेशक, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, कदमकुर्आ, पटना-३

मुद्रक : श्री देवेन्द्रनाथ मिश्र, युगान्तर प्रेस, पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना पर-चालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं : यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ "निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य" डॉ० याकुब मसीह की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए महत्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

अस्मिन्नाम्य दुधंशु

पटना

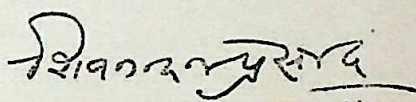
दिनांक ६ मई, १९७३

अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ "निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य" मगध विश्व-विद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० याकुब मसीह जी की मौलिक रचना है। डॉ० मसीह अपने विषय के विद्वान और अनुभवी लेखक हैं। इन्हें अध्ययन-अध्यापन के व्यापक अनुभव के साथ-साथ हिंदी में पाठ्य-ग्रंथों के लेखन का भी सुदीर्घ अनुभव है। अतएव, प्रस्तुत ग्रंथ भी विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसका मुद्रण-कार्य युगान्तर प्रेस, पटना-४ ने किया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री रंजन सूरिदेव ने किया है। प्रथम कुछ पृष्ठों को छोड़ कर शेष ग्रंथ में प्रूफ पर मुद्रणादेश लेखक ने स्वयं देने की कृपा की है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।



पटना

दिनांक ६ मई, १९७३

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी



प्राक्कथन

मैं स्वयं ईश्वरवादी हूँ और मेरी दृष्टि में जिसको भी ईश्वर के प्रति आस्था है, वह उसके जीवन की अनुपम निधि है। परन्तु, आस्था ज्ञान नहीं है। आस्था मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक कारणों पर आधृत होती है और फिर इसका सम्बन्ध वैयक्तिक तथा सामूहिक अचेतन से रहता है। अनुभववाद की ईश्वरविरोधी युक्तियों के सामने ईश्वरवाद टिक नहीं सकता है। तो भी, मैं समझता हूँ कि ईश्वरवाद का सत्यापन ईश्वरवादी के धर्मपरायण, न्यायप्रिय, अनुशासनप्रिय तथा शान्तिपूर्ण जीवन से सिद्ध होता है। ईश्वर की संगति प्राप्त कर चलने में अनेक समस्याएँ काफ़ूर हो जाती हैं और कष्ट-वहन की शक्ति का संचार होता है। परन्तु, इस विज्ञान-प्रधान युग में ईश्वरवाद को ग्रहण करना विचारकों के लिये अन्धविश्वास मालूम देता है। वैज्ञानिक विचारधारा ने ईश्वर को विश्व से निर्वासित कर दिया है और जीवन की व्यस्तता और उसकी आवश्यकताओं एवं अभ्यर्थनाओं ने ईश्वर को अनावश्यक सिद्ध कर मानव-हृदय को ईश्वर-शून्य कर दिया है।

बाइबिल की कथा के अनुसार, ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने के कारण ईश्वर ने आदम और हौवा को अदन के उद्यान से निर्वासित कर दिया। परन्तु, मानव को अदन की बारी से निर्वासित कर देने पर स्वयं ईश्वर अशान्त हो गया। बाइबिल की कथा के अनुसार, वह अभी तक आँखें विछाये बाट जोहता रहता है, कि पापी व्यक्ति अपने पापों को मानकर ईश्वर से क्षमा-याचना कर फिर से ईश्वर की सन्तान कहलाने के योग्य सिद्ध हो। परन्तु, इस विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगिकीकरण के युग में अदन की बारी विस्मृत हो गयी है, स्वर्ग-प्राप्ति की लिप्सा भी समाप्त हो गयी है। मानव ने ऐहिकतावाद के ज्ञानवृक्ष का फल खा लिया है और अब वह स्वयं ईश्वर-तुल्य अच्छे-बुरे का निर्माता हो गया है। मानव वालिग हो चुका है। नीत्से का सपना साकार हो गया है। मानव ने ईश्वर को विश्व और अपने हृदय से निर्वासित कर दिया है।

बचपन का स्वप्न भंग हुआ, नींद टूटी, चेतना आयी। कटु वास्तविकता आ धमकी। बेचैनी और अशान्ति। जीवन शुष्क और निरुद्देश्यपूर्ण प्रतीत होने लगा है। कारण? अभी तक जीवन का मूल्य ईश्वर-केन्द्रित था।

(आ)

समझा जाता था, कि यह जगत् ईश्वर की रचना है, जिसमें ईश्वर ने मानव को ईश्वर की आज्ञाओं के पालन करने और ईश्वर-तुल्य पवित्र होने के लिये रचा है। परन्तु, ईश्वर के प्रति मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अनास्था हो जाने से मानव के लिये ईश्वर भ्रम-मात्र है। तब मानव-जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है ? (ईश्वर की अनुपस्थिति में जीवन का कोई भी न तो उद्देश्य हो सकता है और न मूल्य (द्र० अ० ८))। मानव ऑक्सीजन के सहारे वायुविहीन चन्द्रलोक में वास कर सकता है; स्वर्ग-सुख की भी कामना छोड़कर इस ऐहिक जीवन को सुखी बनाने की बात कर सकता है। परन्तु, मूल्य विना निरुद्देश्यपूर्ण जीवन को यापन करना दुस्साध्य प्रतीत होता है। यदि प्रयोगशालाओं का कोई मूल्य न हो, यदि समस्त मानव-इतिहास यादृच्छिक हो, यदि मानव के हृदय-भावों की कहानियाँ निरर्थक प्रलाप हों, तो मानव-जीवन का क्या अर्थ हो सकता है ? दुःखान्त में भी प्रयोजन गर्भित रहता है, निर्मम हत्या के पीछे भी कोई रहस्य छिपा रहता है। परन्तु, सम्पूर्ण विश्व की निरुद्देश्यपूर्णता मानव-चिन्तक के लिये असह्य प्रतीत होती है।

परन्तु, ईश्वरवाद एकमात्र धर्म नहीं है। भारत में जैन, बौद्ध तथा शांकर वेदान्त में निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता है। क्या इस निरीश्वरवादी अध्यात्म-वाद से शुष्क जीवन को शान्त किया जा सकता है ? हाँ, परन्तु इसे वर्तमान-कालिक युग की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना चाहिये। मेरी समझ में भारतीय निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता में समकालीन समीचीनता है। यदि मैं इसे मिट्ट करने में असमर्थ हुआ हूँ, तो यह अन्य दार्शनिकों की चुनौती है।

प्रायः, भारतीय दार्शनिक समझते हैं कि यदि वे पाश्चात्य विचारकों के दर्शन का मन्थन करते रहें, तो उससे उन्हें पूर्ण सन्तोष मिलेगा। यह उनके लिये सम्भव है। परन्तु, इससे अन्य पाठकों को क्या लाभ ? पाश्चात्य विचारों में झूमनेवाले पाश्चात्य समस्याओं से जूझते हैं, जो भारत की समस्या नहीं है। तो क्या केवल भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया जाय ? यह अनिवार्य है, परन्तु शास्त्रीय दर्शन हमारे चिन्तन का इतिहास है, न कि जीवित धारा। क्या इस समय कोई सांख्य के प्रकृति-पुरुष की तत्त्वमीमांसा को न्याय-संगत समझता है ? या, कितने विश्वविद्यालय के छात्र मोक्ष-ज्ञान प्राप्त करने के लिये आते हैं ? परन्तु, कोई भी देश अपने संस्कार और इतिहास को भुला नहीं सकता है। उनसे समकालीन पाठ सीखना चाहिये।

(इ)

मैं विज्ञान को भारतीय विचार और संस्कृति की समकालीन मान्यता मानता हूँ। यदि विज्ञान को जीवन की प्रमुख मान्यता स्वीकार कर लिया जाय, तो इसके परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिये। मेरी समझ में विज्ञान को मान्यता देने पर अनुभववादी दर्शन को इसका तार्किक परिणाम समझना चाहिये। फिर, यदि अनुभववाद को स्वीकार कर लिया जाय, तो यह भारतीय चिन्तन और आध्यात्मिक विचारधारा के लिये चुनौती हो जाती है। मैंने इन चुनौतियों का उल्लेख किया है।

इस पुस्तक में अनेक ऐसे निष्कर्ष हैं, जिन्हें सम्भवतः बहुमान्यता न मिले। उदाहरणार्थ, मैंने जैन, बौद्ध तथा औपनिषद परम्परा को अवैदिक माना है, प्रारम्भिक रूप में षड्दर्शनों को निरीश्वरवादी सिद्ध किया है, शांकर वेदान्त में ज्ञानयोग को मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन समझा है और अन्त में निर्वाण तथा मोक्षगति को मनोवैज्ञानिक स्थिति स्वीकार किया है। मैंने भारतीय निरीश्वरवादी परम्परा को दार्शनिक चिन्तन का, न कि धार्मिक मत-मतान्तर का विषय बनाया है।

मैंने, 'Indian Atheism and Radical Theology' नामक पुस्तक मोतीलाल बनारसीदास को सन् १९७० ई० में छापने के लिये भेजी थी। परन्तु, छपने में विलम्ब देखकर मैंने टंकित लिपि को वापस ले लिया। उसके बाद श्रीदेवीप्रसाद चट्टोपाध्याय-लिखित 'Indian Atheism' पुस्तक देखने को मिली। मैंने, इस पुस्तक से बहुत लाभ उठाया है और अध्याय ७ में इस पुस्तक का प्रभाव स्पष्ट दिखेगा। परन्तु, श्रीदेवीप्रसाद चट्टोपाध्याय द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी हैं और मैं अनुभववादी तथा ऐहिकतावादी हूँ। इसलिये, मैं उनकी भौतिकवादी युक्तियों को न्यायसंगत नहीं मानता हूँ। मैंने प्रस्तुत पुस्तक को अपनी टंकित पाण्डुलिपि के आधार पर लिखा है।

मैं, बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी के अध्यक्ष सुविख्यात मनीषी डॉ० लक्ष्मी-नारायण सुधांशुजी का तथा अकादमी के निदेशक सौजन्यपूर्ण विद्वान् डॉ० शिवनन्दन प्रसाद का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे आश्वासन देकर इस कृति को समाप्त करने की उत्प्रेरणा प्रदान की।

३-११-१९७२

—या० मसीह



विषय-सूची

प्राक्कथन :

अध्याय १

विषय-प्रवेश :

धर्म एवं धर्मदर्शन १; धर्मदर्शन तथा दर्शन ६; ईश्वर और ईश्वर-वाद ११; निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ १३ ।

अध्याय २

हिन्दुत्व के आर्य-अनार्य तथा प्राग्वैदिक-वैदिक तत्त्व :

सिन्धुतट-सभ्यता २३; वैदिक ईश्वरवाद तथा एकत्ववाद ३०; बहुदेवतावाद ३०; ईश्वरवाद ३२; एकत्ववाद ३५ ।

अध्याय ३

भारतीय निरीश्वरवाद की रूपरेखा :

विषय-प्रवेश ३६; षड्दर्शन में निरीश्वरवाद का स्थान ४४; सांख्य-दर्शन ४५; योग-दर्शन ४६; न्यायवैशेषिक-दर्शन ५३; अनीश्वरवादी व्याख्या ५७; पूर्वमीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवाद ५८; अद्वैत-वेदान्त ६३ ।

अध्याय ४

निरीश्वरवादी जैन धर्मदर्शन :

भारतीय धर्मदर्शन का स्वरूप ६८; जैनधर्म का सारतत्त्व ७४; तत्त्वविचार ७५; आस्रव और बन्धन ७६; संवर-निर्जरा ७७; मोक्ष-प्राप्ति-मार्ग ७७; गुणस्थान ८१; ध्यानयोग ८४, शुक्लध्यान ८६;

(ख)

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ८६; एकत्व-वितर्क-अवीचार ८६; सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती ८६; व्युपरतक्रिया-निवर्त्ती अथवा व्यवच्छिन्न प्रतिपाती ८६; ध्यान के प्रकार ८७; जैन निरीश्वरवाद ८८; जैन आध्यात्मिक कथनों की अर्थपूर्णता ९० ।

अध्याय ५

निरीश्वरवादी बौद्ध धर्मदर्शन :

विषय-प्रवेश ९३; निरीश्वरवाद ९५; कर्मवाद ९७; मध्यममार्ग ९७; चत्वारि आर्यसत्यानि १००; दुःख है १००; दुःख का कारण है : द्वादश निदान १०२; अविद्या १०३; संस्कार १०३; विज्ञान, नामरूप १०४; षडायतन १०४; स्पर्श १०४; वेदना १०४; तृष्णा १०४; उपादान १०४; भव १०५; जाति १०५; जरा-मरण १०५; दुःख-निरोध या निर्वाण १०६; दुःख-निरोध-मार्ग ११०; चित्त-निरोध ११३; समाधि ११४; रूपलोक-ध्यान ११५; अरूपलोक-ध्यान (समापत्ति) ११७; ब्रह्मविहार (अपरिमित) ११९, ऋद्धियाँ १२१; प्रज्ञा १२१; बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता १२३ ।

अध्याय ६

शांकर अद्वैतवाद :

विषय-प्रवेश १२८; ब्रह्म का स्वरूप १३३; मुक्तिमार्ग १४३; कर्म-योग अथवा कर्म-मार्ग १४४; भक्ति-योग १४५; भक्ति का स्वरूप १५१; ज्ञानयोग १५५; मोक्ष का स्वरूप १६१; मोक्ष-कथन की अर्थपूर्णता १६४; टिप्पणी १६५; चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम् १६७ ।

अध्याय ७

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी खण्डन :

विषय-प्रवेश १७३; न्यायकुसुमांजलि की ईश्वरसमर्थक युक्तियाँ १७७; ईश्वर-विषयक युक्ति की सामान्य व्याख्या १८३; न्याय-प्रयोग रूप में उदयनाचार्य द्वारा ईश्वर-प्रमाण १८८; गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य-कृत ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन १९६ ।

(ग)

अध्याय ८

समकालीन निरीश्वरवाद :

विषय-प्रवेश २०६; तर्कबुद्धि के आधिपत्य का विकास २१०; विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार २१७; विज्ञान-विधि पर आधृत अनुभववाद तथा निरीश्वरवाद २२८; अभिकथन २३३; ईश्वर-सम्बन्धी कथनों की सत्यापनीयता-मिथ्यापनीयता २३६; विज्ञानाश्रित ऐहिकतावाद तथा निरीश्वरवाद २४० ।

अध्याय ९

भारतीय निरीश्वरवाद की समकालीन समीचीनता :

समकालीन चुनौती २४७; आध्यात्मिकता २४८; असांसारिकता २५४; समाजवाद की खामियाँ २६१; निष्कर्ष २६५ ।

अनुक्रमणिका

२६८ से २७२ ।

अध्याय १

विषय-प्रवेश

धर्म एवं धर्मदर्शन : मानव अपने को निस्सहाय और निर्बल पाता है। इस निर्बलता का भाव मानव के आदिकाल में अनुमानतः विशेष मालूम देता होगा; क्योंकि मानव अपने को प्रकृति के प्रकोप से बचाने में असमर्थ था। बाढ़, सूखा, संक्रामक रोग, भूकम्प इत्यादि आपदाओं से वह अपने को बचाने में असमर्थ था। यह ठीक है कि गुट और समाज में रहकर मानव अपने दुःख को बाँटकर अपने भार को हल्का कर लेता था। बाद में ज्ञानवृद्धि के साथ उसने अपने को प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने के लिये सामाजिक व्यवस्था के आधार पर अनेक उपायों को भी खोज निकाला। पर, सामाजिक व्यवस्था के कारण यदि मानव प्राकृतिक प्रकोपों से अपने को बचाने के लिए थोड़ा-बहुत समर्थ हुआ, तो स्वयं समाज ही उसके लिये समस्या के रूप में आ घमका। समाज में अधिकांश व्यक्तियों का शोषण और दमन होने लगा। शोषकों को भी अनेक स्थितियों में कुण्ठित हो जाने पर उनमें अपने स्वाभिमान को ठेस लगने तथा आत्मग्लानि के भाव का उदय होने लगा। अतः, मानव में निरन्तर निस्सहायता तथा निर्बलता का भाव बना रहा है। चाहे वह शोषक हो या शोषित, इस भाव को दूर कर वह अपने जीवन में स्थिरता प्राप्त करने की खोज करता रहा है। इसी स्थिरता-प्राप्ति की स्थिति को धार्मिक अनुभव कहा गया है। धर्म की परिभाषा ही दी गयी है : 'धारयति यः असौ 'धर्मः', अर्थात् धर्म वह है, जो मानव को अपने जीवन को धारण (संरक्षण अथवा संचालन) करने में समर्थ करे, अतएव उसे ही 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है।

मानव के अन्दर सत् और असत् की खींचतान लगी रहती है। जब व्यक्ति अपने अन्दर आत्मभाव, नैतिक पर्याप्तता तथा सामाजिक अभियोजन-कार्य के प्रति सफलता का भाव अनुभूत करता है, तब इस स्थिति को सत् की

अवस्था कही जा सकती है। ठीक इसके विपरीत, जब व्यक्ति में प्राणभय, आत्महृन्न, अनस्तित्व का भाव, आत्मग्लानि तथा समाज में पदच्युति का भाव होता है, तब इस स्थिति को असत् कहा जा सकता है। मानव इसी सत् और असत् के पैगों में दोलायमान (झूलता) रहता है। आदिकाल में मानव देवी-देवता तथा ईश्वर के प्रति आस्था प्राप्त कर अपने जीवन में सत् का भान कर अपने को स्थिर पाता था और अब भी अनेक मानव के लिये ईश्वर में आस्था उनके जीवन के लिये अनुपम निधि है। परन्तु, स्वीकारना होगा कि भारतीय धर्मदर्शन में सत् की प्राप्ति केवल ईश्वर-प्रणिधान के ही आधार पर नहीं, वरन् योग, समाधि तथा ध्यान के द्वारा भी अनुभूत की जाती थी। इस समाधिमूलक धर्म में ईश्वर को स्थान नहीं दिया गया है और इसलिये समाधिमूलक धर्म को निरीश्वरवादी कहा जा सकता है। (भारतीय निरीश्वरवाद कतई भौतिकवाद नहीं है। भारतीय निरीश्वरवाद आध्यात्मिक भी है, अर्थात् इसके अनुसार पारलौकिक परम गति और ऐहिक जीवन मानव का परम लक्ष्य और उसकी अन्तिम गति नहीं है।) भारतीय निरीश्वरवाद तीन प्रकार का देखा जाता है :

१. हीनयानी निरीश्वरवाद तत्त्वमीमांसा-विरोधी है; क्योंकि इसके अनुसार न आत्मा और न कोई भी तत्त्व नित्य और शाश्वत है। फिर, इसके अनुसार किसी भी परम तत्त्व का विषय-चिन्तन करना बृथा है।
२. जैन निरीश्वरवाद तत्त्वमीमांसापोषी है; क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक जीव में निहित उसकी नित्य आत्मा है, जिसका गुण शुद्ध चैतन्य है।
३. शांकर निरीश्वरवाद तत्त्वमीमांसात्मक है; क्योंकि इसके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही परम तत्त्व है। शांकर अद्वैतवाद को इसलिये निरीश्वरवाद कहा जाता है कि इसमें ईश्वर के स्थान को गौण और ईश्वर की आराधना को ब्रह्मप्राप्ति का सहायक एवं साधन-मात्र माना जाता है।

जब कहा जाता है कि भारतीय निरीश्वरवाद आध्यात्मिक है, तब यहाँ स्वीकार किया जाता है कि यह परम्परागत धर्म के अन्तर्गत गिना जायगा। परन्तु, यदि निरीश्वरवाद आध्यात्मिक न होकर ऐहिकतावादी (Secularist)।

हो जाय, तो क्या इसे भी धर्मदर्शन के अन्तर्गत गिना जा सकता है ? ऊपर से देखने पर ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को धर्म या धर्मदर्शन की संज्ञा देना सही नहीं मालूम देता है । परन्तु, पाश्चात्य निरीश्वरवादी अपने को -ईसाई कहते हैं और इस हैसियत से वे अपने निरीश्वरवाद को 'धर्म' संज्ञा देते हैं । यहाँ विचारकों को 'धर्म' के अर्थ को स्थिर करना चाहिये ।

(क) व्यापक अर्थ में उसी प्रक्रिया को 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये, जिसमें व्यक्ति का सम्पूर्णत्व सन्निहित हो । चूँकि इस अतिव्यापक अर्थ में समाजवाद, साम्यवाद तथा ऐहिकतावाद को भी 'धर्म' कहना चाहिये, इसलिए पाश्चात्य विचारक धर्म की परिभाषा को इतना व्यापक नहीं बनाना चाहते हैं । पाश्चात्य विचारकों के अनुसार समाजवाद तथा साम्यवाद में धर्मों का विरोध किया जाता है । ऐसी स्थिति में धर्मविरोधी समाजवाद को 'धर्म' संज्ञा देना अनुचित मालूम देता है । परन्तु, पाश्चात्य विचारकों की यह आपत्ति निर्मूल है । समाजवाद में ईश्वरवादी धर्म का विरोध किया गया है । परन्तु, धर्म को ईश्वरवाद समझना सही नहीं है । जैन और बौद्ध धर्म में (विशेषतया हीनयानी सम्प्रदाय में) ईश्वर को अस्वीकारा जाता है, तो भी इन्हें 'धर्म' कहा जायगा; क्योंकि इन धर्मों में पारलौकिक अव्यात्मवाद छिपा हुआ है । परन्तु, यदि पारलौकिक स्थिति को नहीं स्वीकार किया जाय, तो क्या तब भी धर्म किसी-न-किसी रूप में संरक्षित रह जाता है ? मेरी समझ में यह परिभाषा पर निर्भर करता है और साथ-ही-साथ कुछ मान्यता पर भी । मेरी यह मान्यता है कि मानव के अन्दर सम्पूर्णत्व होने की आकांक्षा जन्मजात है और इसलिये मानव अपने को सम्पूर्ण करने, अपने को धारण रखने में जिस प्रक्रिया की सहायता ले, उसे 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये । अतः, मैं ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद, समाजवाद, साम्यवाद को भी 'धर्म' संज्ञा देने को तैयार हूँ । मेरी समझ में मानव बिना किसी-न-किसी धर्म के नहीं रह सकता है । किसी भी आदर्श के प्रति सम्पूर्ण आत्मनिवेदन तथा आत्मसमर्पण अथवा आत्मग्रसन को धर्म की संज्ञा दी जा सकती है । इस रूप में धर्म को मानव के लिये पूर्वानुभविक मान्यता कहा जाता है । इस स्थल पर जर्मन देश के प्रसिद्ध विचारक वॉनहोयफर की उक्ति याद दिलायी जाती है । वॉनहोयफर ने कहा है कि मानव अब पूर्णतया वयस्क हो गया है

और अब उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। मानव अब बिना किसी धर्म के रह सकता है।

(ख) यह ठीक है कि बॉनहोयफर ने बताया है कि यह कहना ठीक नहीं है कि मानव बिना धर्म के नहीं रह सकता है। परन्तु, 'धर्म' का अर्थ बॉनहोयफर के लिये संकीर्ण अर्थ में था। अन्य पाश्चात्य धर्मविचारकों के साथ बॉनहोयफर ईश्वरवाद को ही 'धर्म' संज्ञा देते थे। चूँकि ईश्वर में आस्था के विलयन को उन्होंने स्वीकार किया है, इसलिये वे निरीश्वरवाद को 'धर्म' नहीं मानते हैं। परन्तु, केवल संकीर्ण अर्थ में धर्म को ईश्वरवाद के समतुल्य समझा जा सकता है। जैन और हीनयानी बौद्ध मतों को निरीश्वरवादी रहने पर भी धर्म ही माना गया है। पर क्या पारलौकिकता को अस्वीकार करने पर भी किसी भी मानव-प्रक्रिया को 'धर्म' कहा जा सकता है? मेरी समझ में व्यापक अर्थ में ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को भी धर्म कहा जा सकता है, यदि इस प्रकार का व्यक्ति ऐहिक जीवन को अपना आदर्श मानकर अपने जीवन को इसके सुधार तथा उत्थान के लिये उत्सर्ग कर दे। इसका मुख्य कारण है कि हमलोगों ने धर्म को मानव को धारण रखने की प्रक्रिया में सन्निहित किया है और पाश्चात्य देशों में ऐहिकतावादी समाजवादी तथा निरीश्वरवादी अपने को समाज के उत्थान-कार्य में आत्मनिवेदित कर देते हैं और इस प्रकार सर्वसुखाय एवं सर्वहिताय के आदर्श के आधार पर अपने जीवन को मूल्यपूर्ण, अर्थपूर्ण तथा स्थिर करते हैं। इसलिये, धर्म के इस व्यापक रूप में ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को भी 'धर्म' संज्ञा दी जा सकती है।

इस स्थिति में एक प्रश्न पूछा जा सकता है, 'क्या ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद धर्म है या धर्मदर्शन?' धार्मिक व्यवहार को ही साधारणतया 'धर्म' कहा जाता है। उदाहरणार्थ (ईश्वर की स्तुति करना, प्रार्थना, जप-तप तथा समाधि आदि को 'धर्म' कहा जा सकता है। इन धार्मिक अनुष्ठानों में अन्तर्निहित विश्वास तथा तात्त्विक सिद्धान्त को धर्मदर्शन कहा जा सकता है।) उदाहरणार्थ, बुद्ध धर्म के तल से ईश्वरवादी ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित करता है, ईश्वर से सम्भाषण करता है, ईश्वर से अपने पापों की क्षमा-याचना करता है इत्यादि। धार्मिक स्तर पर भक्त के लिए ईश्वर वास्तविक सत्ता मालूम देता है,

वरन् ईश्वर की तुलना में अन्य सभी वस्तुयें अवास्तविक प्रतीत होती हैं। परन्तु, धर्मदर्शन के स्तर पर ईश्वरवादी ईश्वर का विषय-चिन्तन करके तत्सम्बन्धी प्रत्यय का स्पष्टीकरण करता है, उसके अस्तित्व के विषय में युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, ईश्वर के गुणों की व्याख्या करता है इत्यादि। अतः, धार्मिक व्यवहार में आत्मसंलग्नता, आत्मग्रसन अथा अन्तर्लिप्तता देखी जाती है, और इसकी तुलना में धर्मदर्शन में अपेक्षाकृत तटस्थता देखी जाती है। धर्मदर्शन में धार्मिक व्यवहार में अन्तर्निहित सिद्धान्त को स्पष्ट किया जाता है, ताकि धार्मिक संगोष्ठी तथा सम्भाषण सम्भव हो सके। अतः, धर्म आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है; परन्तु धर्मदर्शन अतिवैयक्तिक विचार है। परन्तु, धर्म और धर्मदर्शन के भेद को लक्ष्मणरेखा नहीं मानना चाहिये।

धर्म में धर्मदर्शन गभित रूप में रहता है और धर्मदर्शन में भी धर्म के प्रति आस्था रहती है; क्योंकि विना धर्मों के प्रति आस्था के धर्मों में निहित सिद्धान्त को व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्मों के प्रति संलग्नता के रहते हुए भी धर्मदर्शन में तटस्थता वरतनी चाहिये। (अतः, किसी भी धर्मदर्शन को समझने के लिये धर्म में अन्तर्लीनता चाहिए और फिर धर्म में निहित विचारों को व्यक्त करने के लिए तटस्थता अपनानी चाहिए। ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी मालूम देती हैं, अर्थात् संलग्नता और तटस्थता) परन्तु, जीवन को ही विरोधाभासी पक्षों के बीच दोलन कहा जा सकता है और यही बात धर्मदर्शन में निहित संलग्नता-तटस्थता, आत्मनिष्ठता-अतिवैयक्तिकता की कसाकसी में पायी जाती है और धर्मदर्शनिक के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह इन परस्परविरोधी पक्षों के तनाव में समतोल को बनाये रखे। धर्मदर्शन में व्यक्त किये गये सिद्धान्त को धार्मिक व्यवहार से समर्थित करते रहना चाहिये और धार्मिक अनुभूति को तटस्थ एवं व्यापक सिद्धान्त के आधार पर आत्मनिष्ठता के स्तर से उठकर इसे व्यापक रूप देना चाहिये। अब प्रश्न होता है कि धर्मदर्शन में किस प्रकार से तटस्थता को अपनाकर धर्म में निहित सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया जाता है। धर्मदर्शन की तटस्थता तथा सिद्धान्तों की व्यापकता दर्शन से प्राप्त होती है। अतः, धर्मदर्शन और दर्शन के आपसी संबंध पर थोड़ा प्रकाश डालना अपेक्षित है।

धर्मदर्शन तथा दर्शन : दर्शन का सम्बन्ध जीवन के साथ रहता है और दर्शन जीवन के मार्ग-दर्शन के लिए विश्वचित्रण किया करता है। चूँकि प्रत्येक युग का विश्वचित्रण मानव-अनुभूति का आयाम और उसके बौद्धिक क्षितिज को व्यापक बनाता जाता है, इसलिये विश्वचित्रण नवीन अनुभूतियों के साथ बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म ने यूरोपीय विचार में नैतिकता, संघीय सहयोग तथा पाशविक वृत्तियों के शिक्षण में सहायता दी। परन्तु, नैतिकता के विकास के साथ व्यष्टि का उदय हुआ और बौद्धिक स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव हुआ। इसी बौद्धिक स्वतन्त्रता के प्रचार एवं प्रसार से अन्त में विज्ञान की स्थापना हुई। विज्ञान की विधि तथा उसके निष्कर्ष ने दार्शनिक चित्रण को एक नया रूप दे दिया। गैलेलियो तथा न्यूटन ने देकात् के यन्त्रवाद को साकार किया है और इसी यन्त्रवाद ने डार्विन के जैविक विकासवाद को स्थापित किया। पुनः इसी यान्त्रिक विकासवाद के आधार पर तकनीकी तथा औद्योगीकरण का विकास हुआ। अन्त में, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के आधार पर ऐहिकता का विकास हुआ है। अब प्रत्येक अनुभूति की गहराई के साथ युगदर्शन बदलता गया और फिर प्रत्येक संशोधित युगदर्शन ने नवीन अनुभूतियों को जन्म दिया। अतः, दर्शन के द्वारा प्रस्तुत विश्वचित्रण परिवर्तनशील होता रहा है। इस समय भारत में जातिभेद, साम्प्रदायिक भेद, आर्थिक विषमता, अन्धविश्वास इत्यादि जीवन की वे समस्याएँ हैं, जिनका विना समाधान किये राष्ट्रीय विकास नहीं हो सकता है। हमें मानव का ही ऐसा चित्रण करना है कि इस चित्रण के द्वारा सभी प्रकार की विषमता तथा भेदभाव को दूर किया जाय तथा इस चित्रण के आधार पर ऐसी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था बनायी जाय कि बहुजनहिताय एवं बहुजनसुखाय का सिद्धान्त चरितार्थ हो। उदाहरणार्थ, ऐहिकतावादी समाजवाद मानव का ऐसा चित्रण करता है कि इसके आधार पर शोषणहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। परन्तु, यहाँ एक आपत्ति उठायी जाती है, जो भारतीय दार्शनिकों के लिये एक महत्त्वपूर्ण चुनौती है।

परम्परागत दर्शन के अनुसार यह बात कही जा रही है कि दर्शन का काम है कि वह विश्वचित्रण करे अथवा मानव के आदर्श स्वरूप की रूपरेखा

प्रस्तुत करे। समकालीन युगदर्शन के अनुसार कहा जाता है कि यह दर्शन का काम ही नहीं है कि वह विश्वचित्रण करे तथा वर्तमानकालिक समस्याओं से अपना सम्बन्ध रखे। इस विश्लेषणवादी परम्परा के अनुसार सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान करने का काम राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य प्रकार के सामाजिक अध्ययनों का है। इस दार्शनिक धारा के अनुसार नियमों की स्थापना करना विज्ञान का काम है, न कि दर्शन का। चूँकि दर्शन विज्ञान नहीं है, इसीलिये दर्शन किसी भी प्रकार का विज्ञान नहीं दे सकता है और न यह परम सत्ता या ईश्वर का ज्ञान दे सकता है। तब दर्शन का क्या काम रह जाता है? भाषा-विश्लेषण तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रत्ययों का अर्थ-स्पष्टीकरण। दर्शन के इस नये काम को समझने की आवश्यकता है।

भाषा विभिन्न प्रकार की होती है। वह भाषा, जो हमारी अनुभूति को तथ्यानु रूप व्यक्त करे, उसे प्रथमस्तरीय भाषा कहा जा सकता है। परन्तु, उस प्रथमस्तरीय भाषा का भी अध्ययन कर द्वितीय स्तरीय भाषा की रचना की जाती है। जिस प्रकार प्रथम स्तरीय भाषा द्वितीयस्तरीय भाषा का विषय होती है, उसी प्रकार तृतीयस्तरीय भाषा का विषय द्वितीयस्तरीय भाषा होती है। उदाहरणार्थ, हम अपने सामने सफेद कागज देखते हैं और कहते हैं :

“यह कागज सफेद है।”....(१)

फिर हम ‘यह’, ‘सफेद’ इत्यादि प्रयुक्त प्रत्ययों का भी अध्ययन करते हैं। उदाहरणार्थ,

‘यह’ निदर्शात्मक प्रत्यय है। }(२)
‘सफेद’ गुणवाची प्रत्यय है। }

तृतीय स्तर का भी कथन निम्नांकित रूप से बताया जा सकता है :

यह का अध्ययन दो प्रकार से हो सकता है। यह को या तो वस्तुनिर्देश के लिए काम में लाया जा सकता है, या यह शब्द पर विचार किया जा सकता है। जब हम यह शब्द पर विचार करते हैं, तब इसे उद्धरण-चिह्न में लिखा जाता है। जैसे :

यह टेबुल, यह कुर्सी इत्यादि। }(३)
‘यह’ दो अक्षरों से बना है। }

यदि भाषा के इस स्तर-सिद्धान्त पर ध्यान दिया जाय, तो (स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी कथन, जिनमें साक्षात् अनुभूति को व्यक्त किया जाता है, वे प्रथमस्तरीय भाषा में होते हैं) उदाहरणार्थ, धार्मिक व्यक्ति आपस में अपनी धर्मभाषा में सम्भाषण करते हैं। ईसाई ईश्वर, ईसा, मण्डली, प्रेम-व्यवहार, कुंवारी मरियम, ईश्वर का ईसा में अवतार इत्यादि शब्दों को व्यवहार करता है। ईसाई अपने धार्मिक अनुष्ठान में न तो ईश्वर, ईश्वर के पुत्र ईसा, अवतार, कुंवारी से जन्म लेने इत्यादि पर विचार करता है और न ईश्वर के अस्तित्व पर चिन्तन करता है। ईसाई के लिए कुंवारी से जन्म लेना, ईश्वर से प्रार्थना करना इत्यादि वास्तविक बातें हैं। परन्तु, धर्मदर्शन में चाहे वह ईसाई हो या न हो, उसे ईसाई-धर्मभाषा पर विचार करना पड़ता है और उसे निर्धारित करना पड़ता है कि ईसाई किस प्रकार की सत्ता को 'ईश्वर' कहता है, वह कुंवारी को किस रूप में दिना व्याघात के माता कहता है इत्यादि। धर्मदर्शन में धर्मभाषा के सम्बन्ध में ही उच्चस्तरीय भाषा का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक धर्मदर्शन की भाषा को अपना विषय बनाता है। अतः, दर्शन की भाषा तृतीयस्तरीय भाषा है। यही बात विज्ञान और दैनिक ज्ञान के विषय में कही जाती है।

वैज्ञानिक अपनी पद्धति के अनुसार अपने क्षेत्रविशेष का गणितीय भाषा में यन्त्रों के द्वारा प्राप्त सामग्रियों का अध्ययन करता तथा तद्विषयक नियमों की स्थापना करता है। भौतिकी की भाषा भौतिकी के वैज्ञानिक अच्छी तरह समझते हैं। परन्तु, भौतिकीशास्त्री अपनी प्रयुक्त भाषा पर नहीं विचार करता है। उसका साक्षात् विषय शब्द, प्रकाश, ताप इत्यादि होता है। परन्तु कुछ वैज्ञानिक हैं, जो अपने विषय के अनुसन्धान और भाषा, विधि इत्यादि का अध्ययन करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, कार्नेप, न्यूरथ, श्लिक, ब्रिजमैन इत्यादि वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक भाषा, विधि इत्यादि का अध्ययन किया है। कार्नेप और श्लिक भौतिकीशास्त्री थे, परन्तु जब वे प्रयोगशाला को छोड़कर प्रयोगविधि पर ही चिन्तन करने लगे, तब वे वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक कहलाये। यहाँ भी दार्शनिक का सम्बन्ध साक्षात् प्रदत्तों तथा प्रयोगशाला में प्राप्त सामग्रियों से नहीं रहता है। यहाँ उनकी भाषा द्वितीय-स्तरीय भाषा हो जाती है।

यही बात दैनिक जीवन की भाषा में भी लागू होती है। व्यावहारिक जीवन में हम कहते हैं : 'मैं टेबुल का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मुझे कल की बात याद आ रही है' इत्यादि।

दैनिक जीवन में हमें इसकी आवश्यकता नहीं होती है कि 'प्रत्यक्ष', 'याद करने', इत्यादि प्रक्रियाओं के विषय का चिन्तन करें। व्यावहारिक जीवन के लिए टेबुल, कुर्सी, मोटर, भूतकाल की घटना इत्यादि हमारे साक्षात् विषय होते हैं। परन्तु मूर, प्राईस तथा अनेक अनुभववादियों ने अपने जीवन-भर प्रश्न किया है : 'प्रत्यक्ष' किसे कहते हैं ? क्या बिना इन्द्रियानुभव के भी प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है ? क्या प्रत्यक्ष में कोई आधारभूत सरल तत्त्व है, जिसे निम्नलिखित संज्ञा दी जा सकती है ? ये सब प्रश्न दैनिक वस्तुओं के विषय में नहीं हैं। ये सब प्रश्न व्यावहारिक भाषा के विषय में द्वितीयस्तरीय कथन हैं।

अतः, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दार्शनिक का सम्बन्ध साक्षात् अनुभव, प्रदत्त तथा सामग्रियों से नहीं रहता है। फिर अनुभव, प्रदत्त इत्यादि के सम्बन्ध में भाषा-प्रयोग करना पड़ता है। टेबुल देखकर, छूकर, उठाकर हम कहते हैं : 'यह ठोस लकड़ी की बनी मेज है।' परन्तु, यह भाषा प्रथमस्तरीय है। जबतक इस भाषा को ही हम अपना विषय नहीं बनायें, हम दार्शनिक चिन्तन नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि कहा जाता है कि दर्शन का उद्देश्य है कि वह भाषा-विश्लेषण करे, अनेक विभागों में व्यवहृत प्रत्ययों के अर्थ का स्पष्टीकरण करे इत्यादि। तब क्या दर्शन का सम्बन्ध जीवन की अनुभूतियों से साक्षात् रूप में नहीं रहता है ?

यह ठीक है कि जब दार्शनिक अपने कमरे में बैठकर 'प्रत्यय' का विश्लेषण करता है, तब यहाँ यह नहीं कहा जायगा कि वह किसी वस्तुविशेष का प्रत्यक्ष कर रहा है। वह चिन्तन करता है कि जब हम कहते हैं कि हम टेबुल, कुर्सी, संगीत इत्यादि का प्रत्यक्ष कर रहे हैं, तब इस 'प्रत्यक्ष करने' का क्या अर्थ लगाया जा सकता है ? क्या कोरे दर्शन-संवेदन को प्रत्यक्ष कहा जाय ? अन्य इन्द्रियों से प्राप्त भूत अनुभूतियों की आधारभूमि को भी प्रत्यक्ष कहा जाय ? क्या भ्रमपूर्ण टेबुल के दिखने को भी प्रत्यक्ष कहा जाय ? इत्यादि। अतः, स्वीकारना होगा कि दर्शन का सम्बन्ध वस्तुविशेष तथा किसी अनुभूति-

विशेष से नहीं है। तो भी मेरी समझ में दर्शन का सम्बन्ध असाक्षात् रूप से अनुभूति के साथ रहता है। इसकी व्याख्या करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

अनुभूति और भाषा का अवियोज्य सम्बन्ध होता है। अकथनीय अथवा मूक अनुभूति किसी भी संगोष्ठी का विषय नहीं होती है (यही नहीं, अनुभूति प्रचलित भाषा से प्रभावित होती है। प्रचलित भाषा के द्वारा हमारी अनुभूति अपनी लीक पकड़ लेती और उसी रूप में निखरती है। फिर, अनुभूति भी भाषा द्वारा संचालित होकर तीव्र तथा गहरी होती जाती है)। दूसरे रूप में आरम्भ में अनुभूतिविषयक भाषा अनिश्चित होती है और क्रमशः भाषा में परिष्कार तथा तीक्ष्णता आती है। अतः, प्रगति-विकास को अनिश्चित भाषा से परिष्कृत भाषा की ओर बताया जा सकता है और इसी प्रकार कहा जा सकता है कि प्रगति की दिशा अविभेदित अनुभूति से विश्लिष्ट अनुभूति की ओर दिखाई देती है। इसलिये भाषा अनुभूतिविषयक होती और अनुभूति भाषाधृत होती है। अतः, प्रथमस्तरीय भाषा भी अनुभूति-मूलक होती है। पर, क्या द्वितीयस्तरीय भाषा अनुभूतिपरक नहीं होती? मेरी समझ में द्वितीयस्तरीय भाषा में भी परिमार्जित एवं सूक्ष्म अनुभूति रहती है। उदाहरणार्थ धर्मभाषा में विस्मय, आह्लाद, आश्चर्य, रहस्यमय महान् (Tremendous mystery) आदि का भान होता है। परन्तु क्या कार्ल वार्थ, शंकर, रामानुज, पॉल तीलिख तथा विवेकानन्द को धार्मिक अनुभूति नहीं प्राप्त थी? धर्मदर्शन की भाषा धर्मभाषा का परिष्कृत रूप है और दर्शन धर्मदर्शन की परिष्कृत भाषा है। नूँकि भाषा बिना अनुभूति के सम्भव नहीं होती, इसलिए दर्शन में भी सूक्ष्म एवं व्यापक अनुभूति रहती है। कम-से-कम यह बात तुलनात्मक धर्मदर्शन में देखी जाती है। अतः, दार्शनिक विश्लेषण से धर्मदर्शन में सूक्ष्मता आती और धर्मदर्शन की सूक्ष्मता से धर्मभाषा का परिष्कार होता है और धार्मिक अनुभूति में व्यापकता तथा गहनता आती है। यही कारण है कि दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा पाश्चात्य धर्मदर्शन में निरीश्वरवाद की स्थापना हुई और इसी निरीश्वरवादी धर्मदर्शन के द्वारा व्यक्तियों में ऐहिकता, समाज-सेवा की पवित्रता, वसुधैव कुटुम्बकम् इत्यादि का धर्मभाव व्यापक रूप धारण करता जा रहा है। अतः, मेरी दृष्टि के अनुसार, दर्शन तथा धर्मदर्शन से मानव-अनुभूति में सूक्ष्मता तथा व्यापकता का विकास

होना अनिवार्य है फिर, धर्मदर्शन को भी वर्तमान जीवन की समस्याओं से तथा आधुनिक मान्यताओं से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। अतः, मेरी दृष्टि में धर्मदर्शन तथा भारतीय जीवन की समस्याओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिए।

ईश्वर और ईश्वरवाद : हमें निरीश्वरवाद की व्याख्या करनी है। निरीश्वरवाद में ईश्वरवाद का खण्डन किया जाता है। इसलिये अतिसंक्षेप में हमें उस ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करनी चाहिये, जो ईश्वरवाद में निहित है।

‘ईश्वर’ उस परम सत्ता का बोध कराता है, जिसमें व्यक्तित्वपूर्णता पायी जाती है, अर्थात् जिसमें विचार, स्मृति, कल्पना तथा आदर्श की चेतनमय एकता पायी जाती है। जैसे, हम मानव में व्यक्तित्वपूर्णता है; क्योंकि साधारणतया हम बाल्यकाल से अवतक की घटनाओं को स्मरण करते और अपने जीवन में कुछ आदर्शों के आधार पर अपनी समस्त घटनाओं का एकीकरण करके आत्मभाव का अनुभव करते हैं। प्रायः बाल्यकाल से प्रौढावस्था तक हम अपने को एक ही प्रकार का व्यक्ति समझते हैं। इसी प्रकार, समझा जाता है कि ईश्वर भी अनन्तकाल से अवतक एक-सा बना रहता है और वह सभी मानव को एकरूप समझता आया है। फिर, ईश्वर में सभी उदात्त गुण पाये जाते हैं। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्त्ता, पालक, संहारक, परम दयालु इत्यादि माना जाता है। भक्तप्रवर रामानुज ने देहरूप में ईश्वर में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज के ‘षाड्गुण्य-विग्रह’ की संज्ञा दी है। पाश्चात्य ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर परम सत्ता है और चूँकि मानव को अपने ईश्वर को सम्पूर्णतया आत्मसमर्पित करना होता है, इसलिये ईश्वर को भी सर्वोपरि सत्ता होना चाहिये, अर्थात् वह सत्ता, जिससे उच्चतर कोई अन्य सत्ता न हो। यदि ईश्वर से बढ़कर भी कोई अन्य सत्ता हो, तो मानव उसी सत्ता को अपना सर्वस्व न्योछावर करेगा, न कि ईश्वर को। इस रूप में पाश्चात्य ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वोच्च परम सत्ता मानते हैं और साथ-ही-साथ ईश्वर से निम्नतर सत्ता की पूजा को ‘मूर्त्तिपूजा’ कहते हैं। मूर्त्तिपूजा को पूजा-दोष कहा जाता है और इस अर्थ में निम्नतर कोटि के देवी-देवताओं को भी अपूज्य माना गया है। देवी-देवता, सन्त-मुनि इत्यादि के प्रति श्रद्धा होनी चाहिये, न कि उनकी पूजा के प्रति।

भारतीय ईश्वरवाद में देवी-देवताओं की पूजा को पूजा-दोष नहीं माना जाता है। परन्तु, यहाँ बताया जाता है कि निम्नतर स्तर के देवी-देवताओं की पूजा करके धीरे-धीरे हम उच्चतम ईश्वर की पूजा के अधिकारी हो सकते हैं। द्वितीय, सभी देवी-देवता अन्तिम रूप में एक ही परम ईश्वर के प्रतीक हैं, जो सीमित रूप में उस एक परम सत्ता का प्रदर्शन कराते हैं। परन्तु, यदि कोई देवी-देवताओं की पूजा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाये, तो यह कहा गया है कि उसकी पूजा निम्नकोटि की पूजा होगी, न कि दुष्टात्मा की पूजा।

भारतीय धर्मदर्शन में सभी प्रकार की पूजा को आदर की दृष्टि से देखा गया है। इसलिये, इसमें धर्म-असहिष्णुता सिद्धान्ततः नहीं पायी जाती है। परन्तु, देवी-देवताओं की पूजा को सापेक्ष माना गया है। केवल एक परमात्मा, परमेश्वर की पूजा को ही निरपेक्ष कहा जाता है। इस देवी-देवताओं की पूजा को सापेक्ष मानकर इसलिये स्वीकार किया गया है कि सभी देवी-देवताओं को एक परम सत्ता का सीमित रूप माना गया है। अतः, भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वरवाद में सर्वेश्वरवाद की छाया देखी जाती है, ईश्वर को सभी वस्तुओं और घटनाओं में अन्तर्व्याप्ति स्वीकार किया है। इसके विपरीत, पाश्चात्य ईश्वरवाद में विशेषकर ईश्वर को विश्व से परे, स्वतन्त्र तथा अतीत (Transcendent) माना गया है। इस अतीत-सिद्धान्त के अनुसार भक्त ईश्वर के बहुत सन्निकट पहुँच सकता है। परन्तु, भक्त कितना ही अधिक ईश्वर के समीप क्यों न पहुँच जाय, वह ईश्वर के साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता है। भक्त और भगवान् के बीच अन्तर रहना अनिवार्य स्वीकार किया गया है।

चूँकि पाश्चात्य और भारतीय ईश्वरवाद में अन्तर है, इसलिये इनमें अनीश्वरवाद भी भिन्न-भिन्न रूप में पाया जाता है। चूँकि भारतीय अन्तर्वर्त्तिता (Immanence) पर विशेष बल दिया गया है, इसलिये निरपेक्ष सत्ता की स्थिति की प्राप्ति को जीवन का चरम उद्देश्य समझा गया है। फिर, चूँकि तर्कसंगत रूप में निरपेक्ष सत्ता को वैयक्तिक अथवा व्यक्तित्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है, इसलिये सर्वेश्वरवादी परम्परा के अनुकूल आत्मसंवर्धन (Culture of the soul) के सिद्धान्त को ही तार्किक रूप में चरम उद्देश्य स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि आत्मसंवर्धन अथवा आध्यात्मिकता के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर या तो

ईश्वर की पूजा को निर्गुण-प्राप्ति (अथवा आत्मप्राप्ति) के लिये साधन माना गया है (शांकर अद्वैतवाद) अथवा अनावश्यक कहा गया है (जैन और हीनयानी मत)। इन बातों को ध्यान में रखकर निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ को स्पष्ट किया जायगा।

निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ :

१. दार्शनिक निरीश्वरवाद अथवा तत्त्वमीमांसात्मक अनीश्वरवाद वह है, जिसके अनुसार कोई परम सत्ता नहीं है, जिसकी पूजा या आराधना की जा सकती है। भारतीय दर्शन में चार्वाक, जैन तथा मीमांसकों के निष्कर्ष को तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद कहा जा सकता है। यही बात १८वीं-१९वीं शताब्दी के पाश्चात्य विचारकों के लिये भी कही जा सकती है। परन्तु, दार्शनिक निरीश्वरवाद को शुद्ध निरीश्वरवाद नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण है कि तत्त्व-मीमांसात्मक चिन्तन को ही समकालीन दर्शन में कोई मान्यता नहीं दी जाती है। इसलिये तत्त्वमीमांसात्मक ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद, दोनों को ही भ्रमपूर्ण वकवास कहा जाता है। दूसरी बात है कि वास्तव में तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवादी ईश्वर के प्रति तटस्थ नहीं रहता है। प्रायः कुछ निरीश्वरवादी, जिनमें स्पिनोजा का नाम उल्लेखनीय है, ईश्वरवादी की अपेक्षा ईश्वर के विषय में अधिक चिन्तन करते हैं। निरीश्वरवादी स्पिनोजा को लोगों ने 'ईश्वरोन्मत्त' (God-intoxicated) संज्ञा दी है। तब ऐसे ईश्वरोन्मत्त को कैसे निरीश्वरवादी कहा जाय? अतः, तत्त्व-मीमांसात्मक निरीश्वरवाद को सच्चा निरीश्वरवाद नहीं कहना चाहिये।

२. बात यह है कि तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद के लिये—

(क) ईश्वर है।

(ख) ईश्वर नहीं है।

दोनों ही कथन सार्थक माने जाते हैं। परन्तु, समसामयिक अनुभववादियों के अनुसार ये दोनों ही कथन अर्थहीन वकवास हैं। हमलोगों ने देखा है कि ईश्वर को उपास्य होने के लिये—

(क) सर्वोच्च सत्ता को अनिवार्य रूप से वास्तविक होना चाहिये।

(ख) ईश्वर के सभी उदात्त गुणों को ईश्वर में अनिवार्य रीति से विद्यमान रहना चाहिये।

अब यदि ईश्वर-प्रत्यय से ध्वनित हो कि ईश्वर को 'अनिवार्य वास्तविकता' होना चाहिये, तो कहा जाता है कि यह आत्मविरोधी वाक्यांश है। वास्तविकता-विषयक कथन कभी अनिवार्य नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह भेज भूरी है। यह कथन तथ्यात्मक है। इसे हम इस समय अपनी इन्द्रियों से अनुभूत कर रहे हैं। फिर, इस कथन को निश्चित रूप से सत्य भी कहा जायगा। परन्तु, निश्चितता को अनिवार्यता नहीं कहा जा सकता है। अनिवार्यता वह है, जिसके विपक्ष में कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैसे, लाल गुलाब लाल है।

यहाँ हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि 'लाल गुलाब' लाल न होकर सफेद या पीला हो। यह अनिवार्यता 'लाल गुलाब' की परिभाषा से ही सिद्ध होती है। अतः, अनिवार्यता शाब्दिक प्रयोग-संगति से उत्पन्न होती है। यहाँ इन्द्रियानुभव का कोई स्थान नहीं पाया जाता है। केवल शब्दों को ही समझ लेने पर उन्हें सावधानी से व्यवहृत करने पर तार्किक अनिवार्यता प्राप्त हो सकती है। इसकी तुलना में 'यह भेज भूरी है' निश्चित है, जिसे हम अपनी अनुभूतियों के द्वारा अनेक बार अकेले अथवा बहुतों के द्वारा प्रमाणित कर सकते हैं। परन्तु, हम कल्पना कर सकते हैं कि यह भेज भूरी न होकर काली या सफेद हो। यह भेज भूरी है, परन्तु इसके विषय में हम नहीं कह सकते हैं कि यह भेज अवश्यमेव भूरी होगी।

अतः, यदि ईश्वर वास्तविक हो, तो उसके वास्तविक न होने की कल्पना की जा सकती है, और इस रूप में ईश्वर को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत यदि ईश्वर को अनिवार्य कहा जाय, तो इससे परिलक्षित होता है कि 'ईश्वर' 'लाल गुलाब' के समान शब्दमात्र है, जिसे हम संगत रूप से काम में ला रहे हैं, परन्तु जिसके सम्बन्ध में वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है। अतः, अनिवार्य सत्ता अथवा वास्तविकता आत्मविरोधी प्रत्यय है। ईश्वर-प्रत्यय वन्ध्या माता के समान आत्मविरोधी तथा अर्थहीन है।^१

१. देखें, Y. Masih : *'Introduction to Religious Philosophy'*, Chap. III, Sec. I; फिर *New Essays in Philosophical Theology* में A. Flew, J. N. Findlay, J. J. C. Smart इत्यादि के लेख देखें।

इसलिये ईश्वर है, ईश्वर नहीं है, दोनों ही अनुभववादी के लिये आये-वाये तथा लकभम्मड़ के समान अर्थहीन शब्द हैं, अतः समकालीन निरीश्वरवादी दार्शनिक के लिये ईश्वर-चर्चा करनी ही नहीं चाहिये। पर, ईश्वर-कथन को क्यों अकथनीय कहा जाय ? क्या आत्मविरोध ही इस अकथनीयता का एकमात्र आधार है ?

३. मेरी समझ में ईश्वर-प्रत्यय की आत्मविरोधिता से उत्पन्न निरीश्वर-वाद सभी प्रकार के निरीश्वरवादों की तुलना में उग्र और प्रबल माना जायगा। दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ईश्वर की वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि वास्तविकता का प्रश्न वहीं उठ सकता है, जहाँ तार्किक संगति हो। तार्किक असंगति में आत्मविरोधी प्रत्ययों के अनुरूप तथ्य हो ही नहीं सकता है। भला वन्ध्या माता के अनुरूप किस प्रकार की सत्ता हो सकती है ? दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ईश्वर-विषयक-कथन, अर्थात् ई-कथन इसलिये अकथनीय है कि इसमें आत्मविरोध पाया जाता है। परन्तु, धर्मदर्शन के इतिहास में ई-कथन की अकथनीयता अन्य आधारों पर भी स्वीकारी गयी है।

(क) धर्मदार्शनिकों का कहना है कि ई-कथन इसलिये अकथनीय है कि ईश्वर में असंख्य गुण असीमित रूप में पाये जाते हैं। परन्तु, मानव-भाषा का ऐसा स्वरूप है कि वह असंख्य गुणों को एक साथ नहीं व्यक्त कर सकती है। फिर, मानव-भाषा मानव-अनुभूति पर आश्रित रहती है और मानव-अनुभूति सीमित हुआ करती है। इसलिये मानव-भाषा सीमित गुण को ही व्यक्त कर पाती है। यही कारण है कि मानव ईश्वर के असंख्य गुणों को असीमित रूप में नहीं व्यक्त कर पाता है। पाश्चात्य विचारकों में टॉमस अक्वाइनस को इस कोटि में रखा जा सकता है। सन्त टॉमस के अनुसार हम जानते हैं कि ईश्वर है, परन्तु हम यह नहीं जानते हैं कि उसका क्या असली स्वरूप है। परन्तु, सन्त टॉमस तथा पॉल तीलीख को अज्ञेयवादी कहा जा सकता है, न कि निरीश्वरवादी। यह ठीक है कि यदि ईश्वर मानव-ज्ञान और भाषा से सर्वथा अतीत हो जाय, तो उसके प्रति तटस्थ होना तर्कसंगत रूप से सम्भव है। वर्तमानकालिक निरीश्वरवाद को अज्ञेयवाद का तर्कसंगत परिणाम कहा जा सकता है।

(ख) उपास्य ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये, परन्तु यदि परम सत्ता को व्यक्तित्वहीन मान लिया जाय, तो इस तत्त्वमीमांसात्मक स्थिति में भी उपास्य ईश्वर की वास्तविकता को नकारना कहा जायगा। शंकर के अनुसार परम सत्ता निर्गुण ब्रह्म है, यदि निर्गुण ब्रह्म के गुणों का अभाव हो, तो 'ईश्वर' संज्ञा नहीं दी जा सकती है; क्योंकि ईश्वर में व्यक्तित्वपूर्णता का विशेष गुण पाया जाता है। शंकर ने 'सगुण' ब्रह्म को गौण तथा उच्चतम सत्ता नहीं माना है। शंकर को निरीश्वरवादी इसीलिये कहा जा सकता है कि वे ईश्वर की वास्तविकता को अन्तिम सत् नहीं मानते हैं। परन्तु, शंकर ईश्वर की वास्तविकता को साधन के रूप में सापेक्षतया सत्य मानते हैं। अतः, शंकर को शुद्ध निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है। तो भी ईश्वरवादी दृष्टि से शंकर को निरीश्वरवादी कहा जायगा।

(ग) ब्रैडले, रॉयस, प्रिंगिल-वैटिसन इत्यादि निरपेक्षवादी हैं। तर्कसंगत रूप से इन्हें भी शंकर के समान निरीश्वरवादी कहा जायगा। परन्तु ये पश्चात्य प्रत्ययवादी अपने को विषयनिष्ठ प्रत्ययवादी कहते हैं और विषयनिष्ठ प्रत्ययवाद के अनुसार परम सत्ता पूर्ण एकत्व है, जिसमें सभी अनेकत्व संगत रूप से व्यवस्थित पाया जाता है। अतः, निरपेक्ष सत्ता में व्यक्तित्वपूर्णता का अभाव नहीं, वरन् व्यक्तित्वपूर्णता का असीमित रूप पाया जाता है। इसलिये इन निरपेक्षवादियों के अनुसार परम सत्ता अतिवैयक्तिक (Super-personal) है, न कि व्यक्तित्वहीन। यह ठीक है कि रॉयस ने अतिवैयक्तिक सत् की व्याख्या की है। परन्तु, इनके अनुसार वास्तव में अतिवैयक्तिक परम सत्ता व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का रूप धारण कर लेता है। बोसकेट के निरपेक्षतावाद में व्यक्तित्व की किसी भी प्रकार की संरक्षा नहीं होती है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद में परम सत्ता को 'अतिवैयक्तिक' संज्ञा देने पर भी वास्तव में ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता की संरक्षा नहीं होती और अन्त में निरपेक्ष प्रत्ययवाद से निरीश्वरवाद की भावना में योगदान प्राप्त होता है।

(घ) पॉल तीलिख् पाश्चात्य धर्मदार्शनिकों में प्रमुख स्थान ग्रहण करते हैं। वे परम सत् को 'निरुपाधिक अतीत' (Transcendent unconditioned) संज्ञा देते हैं। 'निरुपाधिक' पद से अभिलक्षित होता है कि परम सत् को किसी भी उपाधि अथवा गुण से विभूषित नहीं किया जा सकता है। परन्तु, क्या अज्ञेयवाद का आश्रय लेकर परम सत् को अनुपास्य और अकथनीय मान

लिया जाय ? शंकर के विपरीत पॉल तीलिख् परम सत्ता को अनिर्वचनीय नहीं कहते हैं। तो क्यों परम सत्ता को 'निरुपाधिक' कहा जाय ? पॉल तीलिख् का कहना है कि परम सत्ता सत् (Being) है और फिर मानव इस परम सत् को विना प्रतीकों (Symbols) की मदद से नहीं जान सकता है। परन्तु, कोई प्रतीक क्यों न हो, वह एक समय परम सत् का भान (Apprehension) कराने में सहायक होता है और फिर ज्ञानवृद्धि अथवा युगदर्शन की चाल के साथ अन्त में क्षीण पड़कर फीका और व्यर्थ हो जाता है। अतः, पॉल तीलिख् सभी प्रतीकों को परम सत् में भागी होने, उससे शक्ति प्राप्त करने तथा उसके आधार पर अपने को स्थिर करने में सापेक्षतया सहायक मानते हैं; साथ-ही-साथ उन्हें निरपेक्ष रूप से परम सत् के भान करने में समर्थ नहीं मानते हैं। अतः, पॉल तीलिख् का मत बहुत-कुछ शंकर के मत से मेल खाता है। शंकर के अनुसार प्रत्येक देवी-देवता उसके लिये सत्य है, जो उसके संस्कार से मेल खाकर उसके विवेक को विमल बनाने तथा जिज्ञासु की बुद्धि को तीक्ष्ण करने में समर्थ और मनोवैज्ञानिक स्तर पर सहायक होता है, परन्तु शंकर के अनुसार, निरपेक्ष रूप में सभी देवी-देवता असत्य कहे जा सकते हैं; क्योंकि अन्तिम ब्रह्म-प्राप्ति में सभी देवी-देवता का तिरोधान हो जाता है। अन्तर यही है कि शंकर प्रत्ययवादी हैं और पॉल तीलिख् अस्तित्ववादी। फिर, शंकर देवी-देवता तत्त्वमीमांसात्मक सत्तायें हैं और इन सत्ताओं को पॉल तीलिख् सत्ता नहीं मानते और देवी-देवता के स्थान पर 'प्रतीक' पद को व्यवहार करते हैं। परन्तु, जिस प्रकार शंकर देवी-देवता भक्तों के संस्कार पर निर्भर रहकर अन्त में मनोवैज्ञानिक आस्था के विषय-मात्र हो सकते हैं, उसी प्रकार पॉल तीलिख् के अनुसार, प्रतीक भी सामाजिक अचेतन मन पर निर्भर तथा आत्मनिष्ठ कहे जा सकते हैं। इसलिए, पॉल तीलिख् स्वयं निरीश्वरवादी नहीं हैं, परन्तु इनके प्रतीक-सिद्धान्त के द्वारा समसामयिक निरीश्वरवाद के विकास में योगदान अवश्य प्राप्त हुआ है।

४. पाश्चात्य ईश्वरवादी एक अभ्युपगम (Postulate) को स्वीकार करते रहे हैं कि मानव विना ईश्वर की धारणा के नहीं रह सकते हैं। यही कारण है कि सन्त टॉमस, तीलिख् इत्यादि विचारक अज्ञेयवाद को धर्मदृष्टि से खतरनाक नहीं समझते थे। वे कान्त के समान स्वीकारते थे कि ईश्वर आस्था का, न

कि ज्ञान का विषय है। अतः, पाश्चात्य ईश्वरवादियों में अज्ञेयवाद के द्वारा ईश्वर की रहस्यानुभूति प्राप्त होती गयी और अज्ञेयवाद से ईश्वर ओझल न होकर साक्षात्कार का विषय होता आया है। वर्तमान काल में यह स्थिति नहीं रह पायी है। अब लोगों को ईश्वर के प्रति आस्था होती नहीं है और अधिकांश पाश्चात्य व्यक्ति बिना ईश्वर के प्रति आस्था के जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। वॉनहोयफर ने ईश्वर के बिना जीवन की वास्तविकता को देखकर बताया है कि यह 'वर्तमानकालिक मानव की वयस्कता' (Modern man come of age) का बोधक है। यदि ईश्वर को आस्था का विषय माना जाय, तो कहना पड़ेगा कि आस्था मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक निर्धारकों पर निर्भर करती है। अतः, समसामयिक निरीश्वरवाद सांस्कृतिक घटना है और धर्म की व्यावहारिक दृष्टि से इससे धर्म का विलयन सम्भव मालूम देता है। इसलिये, इस सांस्कृतिक निरीश्वरवाद की व्याख्या होनी चाहिये।

यूरोप में एक समय था, जब लोगों में डाइन, जादू-टोना इत्यादि में दृढ़ विश्वास था। फिर, मध्ययुग के बाद भी डाइन और जादूगरनियों को खोज-खोजकर चौराहों पर जलाया जाता था। अब ये घटनाएँ नहीं होती हैं; क्योंकि यूरोपनिवासियों में डाइन, जादू-टोना में विश्वास ही नहीं होता है। फिर एक समय था जब थौर, डायना, जीरुस, जूपिटर इत्यादि देवी-देवताओं में यूरोपनिवासियों को विश्वास था। अब वहाँ के लोगों को इन देवी-देवताओं में विश्वास नहीं होता है। बीसवीं शताब्दी में लोगों को ईश्वर में, ईसा में विश्वास है। परन्तु, यूरोप में दो महायुद्धों के बाद ईश्वर में लोगों का विश्वास फीका पड़ता जा रहा है, गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करनेवालों की संख्या में भारी कमी होती जा रही है। इससे ऐसा भान हो रहा है कि लोगों में ईश्वर के प्रति उसी प्रकार की उदासीनता आ जायगी, जिस प्रकार की उपेक्षा थौर, जूपिटर इत्यादि देवी-देवताओं के प्रति पायी जाती है। इस प्रकार का ईश्वर में अविश्वास ऐसा नहीं है, जो अल्पकालीन है अथवा सामयिक है। इस प्रकार का अविश्वास प्रायः स्थायी रूप से जड़ पकड़ लेगा। इस धार्मिक स्थिति को 'ईश्वर-निघन' (God is dead) की संज्ञा दी गयी है। यहाँ बताया जाता है कि जिस प्रकार जीरुस या जूपिटर यूरोपीय मानव के मानसिक क्षितिज से सर्वदा के लिए ओझल हो गये हैं, उसी प्रकार ईसाइयों

का ईश्वर ईसाइयों के लिए उनकी चेतना से अन्तर्धान हो जायगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को सिद्ध-असिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि मानव के लिए ईश्वर इतना अनर्गल, अर्थहीन और अनावश्यक सत्ता हो जायगा कि उसके विषय में किसी भी प्रकार का चिन्तन किसी को भी आवश्यक नहीं मालूम देगा। ईश्वर के प्रति पूर्ण तटस्थता तथा उपेक्षा को ही सांस्कृतिक निरीश्वरवाद कहा जाता है।

एक समय था, जब समस्त यूरोप में ईसाई धार्मिकों के द्वारा शिक्षण का कार्य होता था। अनेक विद्या-शिविरों में ईसा से प्राप्त उत्प्रेरण के कारण सभी प्रकार की शिक्षा उत्प्रेरित होती थी। अब भी अनेक शिक्षा-मन्दिरों को ईसाई सन्तों और संस्थापकों के नाम पर पुकारा जाता है। इसी प्रकार सभी कलाओं को ईसा पर अर्पित किया गया था। चित्रकारी में ईसा की जीवनी, उसकी शिक्षा तथा विमोक्षक मृत्यु इत्यादि का विषय ही प्रचारित किया गया था। संगीत में भी धर्म-प्रचार, ईसा-भक्ति, ईश्वर-प्रशंसा इत्यादि का उल्लेख किया गया है। अस्पतालों को भी ईसा-सेवा के रूप में संस्थापित किया गया था। आज वे सभी सांस्कृतिक कार्य, जिनसे सभ्य जीवन को सम्पन्न किया जाता है, धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं।

स्कूलों और महाविद्यालयों में आवश्यक नहीं है कि शिक्षक ईसाई हों। यही नहीं, ईसाई-धर्म की शिक्षा भी अब सार्वजनिक विद्यालयों में नहीं दी जाती है। इस समय समस्त यूरोप में विज्ञान, तकनीकी और औद्योगीकरण की तूती बोलती है और इन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के समग्र जीवन पर आधिपत्य जमा लिया है। अब यदि कोई बीमार पड़ता है, तो वह सर्वप्रथम डॉक्टर और चिकित्सा की बात सोचता है, न कि स्वास्थ्य-लाभ के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता है। जब कोई बेकार हो जाता है, तब वह ईश्वर की दुहाई न देकर रोजगार-केन्द्र (Employment exchange) की मदद लेता है। इसी प्रकार, बाढ़, सूखा, तूफान, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक प्रकोपों के होने पर पाश्चात्य व्यक्ति तकनीकी की ओर निहारता है, न कि ईश्वर के प्रति प्रार्थना करता है। अतः, पारलौकिक सत्ता के प्रति विमुखता तथा इस संसार और समाज के प्रति संलग्नता को सांस्कृतिक निरीश्वरवाद कहा जाता है। क्या पाश्चात्य व्यक्तियों को मूल्यों के प्रति आस्था नहीं है?

शायद सामाजिक दृष्टि से पाश्चात्य व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक नैतिक है, परन्तु नैतिकता का स्वरूप बदल गया है। उसका काम जीवन के अनेक प्रतिबन्धों से मुक्त हो गया है। वह अब विश्व के अनेक निवासियों के प्रति सहानुभूति के साथ उन्हें अपने बराबर समझने लगा है और वह सोचने लगा है कि सभी मानव एक विश्व-राष्ट्र के सदस्य हैं। परन्तु, पाश्चात्य विचारक अथवा चिन्तनशील व्यक्ति की दृष्टि ऐहिक है, न कि पारलौकिक। (पाश्चात्य ऐहिकतावादी इसी संसार को एकमात्र परम सत्ता मानकर विज्ञान और तकनीकी के आधार पर बहुसुखाय और बहुहिताय इस विश्व को विकसित करता है, ताकि दिन-दिन मानव-जीवन में दुःख और शोषण की कमी होकर विश्व-सौहार्द स्थापित किया जाय। इसीलिये, ऐहिकतावादी में भी मूल्यों के प्रति आदर है।) अन्तर यही है कि वह स्वर्ग में अविश्वास कर इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का प्रयास करता है। ऐहिकतावादी को पारलौकिक सत्ता के प्रति उदासीन भाव अपनाना चाहिये, अमर जीवन की आकांक्षा को व्यर्थ समझना चाहिये और मानव को अपने ऊपर भरोसा रखकर अपनी बुद्धि और श्रम से त्याग के आधार पर मानव-आदर्शों को साकार करना चाहिये। क्या पारलौकिक देवी-देवताओं के प्रति पराङ्मुखता भारतीय विचारक के लिये नयी पाश्चात्य देन है ? नहीं।

जैन और हीनयानी बौद्धमत के अनुसार ईश्वर को अस्वीकार-मात्र ही नहीं किया जाता है, वरन् इन दोनों मतों के अनुसार, आदेश दिया जाता है कि मानव अपने ही प्रयास से, अपने को अपना दीप बनाकर अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। जैन विचारकों ने ईश्वर के अनस्तित्व के पक्ष में ईश्वरवादियों की युक्तियों का खण्डन किया है। बुद्ध भगवान् ने ईश्वर के प्रति पूर्ण उदासीनता दिखाई है, बुद्ध भगवान् ने ई-कथन को 'अव्याकृत' संज्ञा देकर ईश्वर के प्रति उपेक्षा-भाव प्रदर्शित किया है। (इसलिये, भारतीय विचारकों के लिये अनीश्वरवाद कोई नयी देन नहीं है। इतना ही नहीं, शांकर वेदान्त के अनुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के आधार पर ईश्वर की आराधना के स्तर से ऊपर उठकर ईश्वर के प्रति उदासीनता के भाव को अपनाना चाहिये) यह ठीक है कि शंकर ने इस बात को इतनी स्पष्टता से नहीं कहा है। परन्तु, ईश्वरोपासना के गौणत्व में यह बात निहित है। पर, यह बात बौद्ध समाधि

में स्पष्ट बतायी जाती है कि समाधि को स्थिर करने के लिये बुद्ध भगवान् की प्रतिमा को निमित्त-परिक्रमा के रूप में मनोवैज्ञानिक रूप से सहायक माना जा सकता है। परन्तु, अन्त में सभी निमित्त-परिक्रमाओं के आश्रय को छोड़कर निर्वाण के इच्छुकों को उपेक्षा-भाव अपनाना चाहिये। अतः, भारतीय विचारकों के लिए सांस्कृतिक निरीश्वरवाद को नया नहीं माना जा सकता है। परन्तु, पश्चात्य और भारतीय निरीश्वरवाद ऐहिकतावाद का तर्कसंगत परिणाम है और भारतीय निरीश्वरवाद सांसारिक विमुखता से उत्पन्न अध्यात्मवाद है। अन्त में, दोनों प्रकार के निरीश्वरवाद में मानवतावाद है। कम-से-कम यहाँ दो बातों की चर्चा कर देनी चाहिये।

चूँकि पाश्चात्य देशों में धर्म का प्रमुख सिद्धान्त ईश्वरवाद ही है; इसलिये पाश्चात्य विचारक सोचते हैं कि ईश्वर के प्रति अनास्था हो जाने से धर्मों का विलयन हो जायगा। जैन, बौद्ध तथा शांकर अद्वैतवाद के अध्ययन से इस भ्रान्ति को दूर हो जाना चाहिये। निरीश्वरवादी धर्म भी सम्भव है और कम-से-कम ईसाई-धर्म की तुलना में निरीश्वरवादी धर्म छह-सात सौ वर्ष अधिक पुराना और अब भी प्रचलित एवं जीवित है और लोगों की आस्था का विषय है। अतः, ईश्वर के सांस्कृतिक निधन से धर्म का विलयन नहीं होता है।

द्वितीय, (यदि धर्म का चरम उद्देश्य मानव-जीवन की स्थिरता-प्राप्ति हो, तो ईश्वर-निधन हो जाने पर भी योग, ध्यान तथा समाधि के आधार पर मानव अपने को स्थिर कर पायेगा) अतः, ईश्वर-निधन से धर्म का विलयन नहीं होता है। परन्तु, प्रश्न फिर किये जा सकते हैं। यदि ईश्वर के प्रति अनास्था हो जाय, तो क्या पाश्चात्य व्यक्तियों को पारलौकिक अध्यामवाद के प्रति आस्था हो सकती है? इसके पूर्व कि इस प्रश्न का समाधान किया जाय, निर्वाण-सम्बन्धी मत को स्पष्ट करना आवश्यक होगा। यह ठीक है कि जैन और शांकर मत को अध्यात्मवादी स्वीकारना सही मालूम देता है। परन्तु, मेरी दृष्टि में निर्वाण-गति को सम्पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं अस्तित्ववादी कहा जा सकता है। अतः, पारलौकिक अध्यात्मवाद के प्रति अनास्था हो जाने पर भी निर्वाण-प्राप्ति का उद्देश्य अक्षुण्ण रह जाता है। पर क्या ऐहिकतावाद के साथ बौद्ध समाधि का योग सम्भव हो सकता है? इस पुस्तक का यही प्रतिपाद्य

विषय है और सम्पूर्ण पुस्तक के अध्ययन के बाद ही इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है ।

×

×

×

अब सर्वप्रथम भारतीय निरीश्वरवाद की व्याख्या की जायगी और तब पाश्चात्य निरीश्वरवाद की चर्चा होगी । अन्तिम अध्याय में इन दोनों प्रकार के निरीश्वरवाद का समन्वय किया जायगा ।



अध्याय २

हिन्दुत्व के आर्य-अनार्य तथा प्राग्वैदिक-वैदिक तत्त्व

सिन्धुतट-सभ्यता : अब भी कुछ भारतीय विचारक हैं, जो सोचते हैं कि आर्य भारत के बाहर से नहीं आये हैं और वैदिक धर्म ही भारत का प्राचीनतम धर्म है। परन्तु, अधिकांश विचारक मानते हैं कि आर्य बाहर से भारत में आये और अपने साथ वैदिक धर्म को भी लाये। सम्भवतः, वेदों का अंश भारत में आगमन के पूर्व ही विद्यमान था और इस रूप में वैदिक काल का समय निर्धारित करना कठिन है। परन्तु यह भी स्वीकारा जाता है कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में सभ्य जातियाँ थीं और उनका धर्म भी उन्नत अवस्था में था। इस अर्थ में भारत में प्राग्वैदिक धर्म भी था और अनार्य जातियाँ भी थीं। कम-से-कम यह बात मोहेंजोदाड़ो, हड़प्पा और चान्हूदाड़ो की खुदाई के बाद स्पष्ट हो गयी है। मोहेंजोदाड़ो, हड़प्पा और चान्हूदाड़ो की सभ्यता को 'सिन्धुतट-सभ्यता' संज्ञा दी जाती है।

परन्तु, सिन्धुतट की खुदाई के पहले भी श्रमण, परिव्राजक तथा व्रात्य लोग रहते थे और इन्हें भी अवैदिक ही मानना चाहिये। इसी श्रमण-व्रात्य-परम्परा से बौद्ध तथा जैन धर्म का उद्गम भी अतिसम्भाव्य समझा जाता है।^१ पटना-गया-शाहाबाद, तिरहुत-भागलपुर और मुँगेर को अनार्य देश माना जाता था। गया गयासुर का स्थान था और महावली जरासन्ध को भी असुर-राजा कहा गया है।^२ साथ-ही-साथ, महादेव को इन अनार्यों का भगवान् माना जाता है। ऐसा आभासित होता है कि राजा जनक के पूर्वज भी महादेव के उपासक थे, जिसके धनुष को आर्य राजा राम ने ध्वस्त किया था।^३

अतः, स्वीकारना होगा कि वैदिक धर्म के अतिरिक्त भी अनार्य धर्म था और यह उन्नत धर्म था। आर० एन० दाण्डेकर का कहना है कि वर्तमानयुगीन

१. Bihar Through the Ages, Govt. of Bihar, 1954, p. 121.

२. वही, पृ० ११४।

३. वही, पृ० ११५।

हिन्दुत्व में अविद्या, कर्म-सिद्धान्त, आवागमन तथा मोक्ष को धर्म का स्तम्भ माना जाता है और इनके अनुसार इन चारों मूलतत्त्व को अनार्य लोगों से प्राप्त किया गया है। फिर, इनका यह भी कहना है कि राम, कृष्ण, विष्णु तथा शिव की पूजा भी अवैदिक है।^१ बल्कि दाण्डेकर ने 'Some aspects of the History of Hinduism, 1967.' में बताया है कि वर्तमानयुगीन हिन्दुत्व में वैदिक अंश केवल शब्दों में है, न कि इसके सार रूप में। अब कोई विद्वान् दाण्डेकर के मत का समर्थन करे या न करे, परन्तु ऐसा निश्चित मालूम देता है कि प्राचीन भारत में अवैदिक तथा अनार्य धर्म भी था, जिसका रूप गहन और महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। इस वर्तमान युग में न तो 'अवैदिक' और न 'अनार्य' शब्दों को निन्दात्मक समझना चाहिये।

सिन्धुतट-सभ्यता में प्राग्वैदिक तथा अनार्य धर्म का आभास मिलता है। चूँकि सिन्धुतट की खुदाई में जो लिपि मिली है, उसका अभी तक कोई सर्वमान्य अध्ययन नहीं हुआ है, इसलिये मूर्तियों के अवलोकन-मात्र से ही सिन्धुतट-धर्म की अटकल लगायी जा सकती है। कम-से-कम तीन मूर्तियाँ देवताओं की मूर्तियाँ कही जाती हैं। प्रत्येक मूर्ति में देवता दिगम्बर रूप में योगासन की मुद्रा में दिखाई देता है, जिसकी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर टिकी प्रतीत होती है। देवता के शरीर से नवपल्लव भी निकलते हुए दिखते हैं और उनके दाहिनी ओर हाथी और बाघ है और बाईं ओर गैड़ा और भैंसा है। अतः, यह देवता योगिराज, लिंगराज तथा पशुपति हैं। अतः, जॉन मार्शल, ई० मके, मॉर्टिमर व्हीलर तथा अन्य भारतीय विचारक भी, अटकल लगाते हैं कि यह मूर्ति शिव भगवान् की है।^२ यहाँ उल्लेखनीय बात है कि सिन्धुतट का देवता

१. Asura Varuna, Annal BOR Institute, Vol. XXI, 1941; Rudra in the Vedas, J. of the University of Poona, 1953; Man in Hindu Thought, BOR, Vol. XLIII, 1963.

२. J. Marshall, Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol. I. pp. 52-55; Arthur Probsthain, London 1931; E. Mackay, The Indus Civilization, Lovat Dickson and Thompson, Ltd. 1935, p. 71; Mortimer Wheeler, The Indus Civilization, Supplementary Volume to The Cambridge History of India, 1953; pp. 79-80.

योगी है और कीथ के अनुसार वेदों में योग की बात नहीं बतायी जाती है।^१ अतः, समाधि, योग तथा ध्यान अवैदिक तथा अनार्य मालूम देता है।

केवल सिन्धुतट की खुदाई से ही नहीं और न केवल बिहार-प्रदेश के इतिहास से, परन्तु स्वयं वेदों में उल्लिखित निर्देशों से स्पष्ट होता है कि आर्यों के अतिरिक्त अनार्य भी थे और उनका धर्म अवैदिक कहा जायगा। (आर्य वीर योद्धा थे और वे ऐहिक जीवन की सभी प्रकार की अनुभूतियों के प्रति अनुक्रियाशील रहते थे। वे सांसारिक धन-सम्पत्ति, पुत्र तथा दीर्घजीवन इत्यादि की कामना रखते थे। वे अपने देवताओं की पूजा इसलिए करते थे कि यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता उनकी कामनाओं को पूरा करेंगे। फिर, वे स्वर्गप्राप्ति की भी कामना करते थे और उनका सिद्धान्त था 'स्वर्गकामो यजेत् हव्यः।' स्वर्ग-सुख को ऐहिक जीवन का विस्तारण तथा इसकी सम्पूर्णता समझा जा सकता है। परन्तु, स्वर्गप्राप्ति से भिन्न मोक्ष-सिद्धान्त है। मोक्ष-सिद्धान्त के अनुसार स्वर्ग-सुख नश्वर और अल्पकालिक है और फिर इसमें आनन्द-प्राप्ति नहीं हो सकती है। नित्यता-प्राप्ति केवल ध्यान अथवा समाधि से ही सम्भव हो सकती है। फिर, वैदिक धर्म में यज्ञ की प्रधानता मानी गयी है और इसमें अनेक प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी। इसके विपरीत अवैदिक धर्म में तपस्या, ध्यान, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्म-ज्ञान के आधार पर मोक्ष-प्राप्ति का चरम उद्देश्य माना गया है। बाद में चलकर शैश्वरवादी परम्परा में यज्ञों की बात न करके भक्ति को प्रधान स्थान दिया गया है। परन्तु, भक्ति-परम्परा को पद्मपुराण में द्राविड परम्परा कहा गया है।^२ अतः, ऐसा मालूम देता है कि वैदिक और अवैदिक दो परस्पर-विरोधी परम्परारथे थीं और वे विभिन्न जातियों के द्वारा समादृत होती थीं।

१. A. B. Keith, Religion and Philosophy of the Veda, Vol. II, p. 401.

२. R.³N. Dandekar, Some aspects of the History of Hinduism, p. 109; फिर देखें, श्रीमद्भागवत महापुराण, १ : ४८ : 'उत्पन्ना द्रविडे साहं दृष्टि कर्णाटके गता।' .

स्वयं वेदों में अनार्य जातियों का उल्लेख आता है और उन्हें 'दस्यु' संज्ञा दी गयी है, जिसका अर्थ या तो दास होता है या शत्रु। इन अनार्यों को अयज्ञी कहा गया है; क्योंकि ये वैदिक यज्ञों को नहीं स्वीकार करते थे। फिर, इन्हें अनिन्द्र कहा गया है; क्योंकि ये आर्यों के मुख्य देवता इन्द्र की पूजा नहीं करते थे। इन्हें अन्नत अथवा अन्यन्नती कहा गया है; क्योंकि ये अवैदिक व्रतों को मानते थे। इन्हें 'शिश्नदेवाः' कहा गया है; क्योंकि ये अनार्य लिंगपूजा करते थे। फिर, वैदिक धर्म में तपस्, योग और समाधि के माननेवाले ब्राह्मण, मुनि, यति को स्थान नहीं दिया गया है। ऐसी भी कथा एतरेय ब्राह्मण में बतायी गयी है, जिसके अनुसार इन्द्र ने यति से अप्रसन्न होकर उसे मार डाला और भेड़ियों के आगे उसके मृत शरीर को फेंक दिया।^१

अभी तक हमने इतना ही भर दिखाया है कि प्राचीन भारत में आर्य-अनार्य तथा वैदिक-अवैदिक दो परस्पर-विरोधी धर्म-परम्पराएँ थीं और इस प्रकार की दो विरोधी परम्पराएँ भारत के पश्चिम और पूर्व के देशों में क्रमशः पायी जाती थीं। अभी तक लोगों ने सिन्धुतट-सभ्यता का सम्बन्ध बिहार प्रदेश के ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मों की परम्परा से नहीं जोड़ा है। परन्तु, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अवैदिक सिन्धुतट-सभ्यता और बिहार की धर्म-परम्परा में बहुत समता है।

१. दोनों में शिव भगवान् की पूजा बतायी जाती है, और

२. दोनों में समाधि, योग और ध्यान को प्रधान साधन माना गया है, जिसके आधार पर मोक्षप्राप्ति हो सकती है।

सिन्धुतट की सभ्यता का कुछ अधिक सम्बन्ध द्रविड देशों से है और बिहार के अवैदिक धर्म से कम है। सिन्धुतट-सभ्यता में देवियों को भी स्थान दिया गया है और कम-से-कम यह बात वैदिक धर्म में नहीं पायी जाती है। फिर, भक्ति की परम्परा अधिक द्रविड है और कम सिन्धुतटी है।

यदि समाधि, ध्यान-योग, तपस्या तथा ज्ञान-मोक्ष आदि तत्त्वों पर ध्यान दिया जाय, तो प्रतीत होगा कि ये तत्त्व वैदिक यज्ञ तथा स्वर्गप्राप्ति के चरम उद्देश्य से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अतः, वर्तमानयुगीन तथा

१. ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय ७, २८. १; तैत्तिरीय संहिता, २, ४, ९, २; ६, २, ७, ५; ताण्ड्य ब्राह्मण, १४, २, २८; १८, १, ९।

सनातन हिन्दुत्व में अनार्य और प्राग्वैदिक तत्त्वों की अधिक प्रधानता पायी जाती है और वैदिक परम्परा का अंश कम पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं की आर्य विचारकों ने कालान्तर में उन अवैदिक तत्त्वों को अपने धर्म में स्थान दिया, जिनके प्रति उनकी आस्था जम गयी थी। उसका मुख्य कारण यह था कि योग-ध्यान, तपस्, ब्रह्मचर्य के द्वारा मुनि-यति आदि में अद्भुत शक्ति पायी जाती थी और इसी शक्ति को प्राप्त करने के लिये आर्य ऋषियों ने अन्त में अवैदिक निवृत्ति-मार्ग को अपनाया। आर्य और अनार्य परम्पराओं के सन्धिस्थल के रूप में औपनिषदिक विचारधारा को स्वीकार किया जायगा।

डॉ० आर० एन० दाण्डेकर ने एक ही लेख के एक स्थल पर उपनिषद् को अवैदिक कहा है।^१ और फिर, तीन स्थलों पर उपनिषदों को वैदिक कहा है।^२ डॉ० दाण्डेकर ने उपनिषदों को इसलिये अवैदिक माना है कि इसमें गुरु-अन्तेवादी-सम्बन्ध पाया जाता है और इस प्रकार का सम्बन्ध वैदिक परम्परा में नहीं पाया जाता है।^३ मेरे मत में डॉ० दाण्डेकर का यह विचार बहुत अधिक बल नहीं रखता है। परन्तु, उपनिषदों को अवैदिक और अनार्य मानने के निम्नांकित युक्तियाँ हैं :

- (क) उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति की बात कही गयी है, न कि स्वर्गप्राप्ति की।
- (ख) फिर मोक्षप्राप्ति समाधि तथा ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होती है, न कि यज्ञों के द्वारा।^४
- (ग) परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा को प्रवृत्तिमार्गी कहा जायगा और उपनिषदों को निवृत्तिमार्गी बताया जायगा। कम-से-कम बृहदारण्यक के अधिकतर भाग राजा जनक के तत्त्वावधान में याज्ञवल्क्य के द्वारा रचा गया था और यह

१. Some aspects of the History of Hinduism, p. 79n.

२. वही, पृ० ८५, ८७, ९०।

३. वही, पृ० ७९।

४. राणाडे के अनुसार अधिकांशतः उपनिषदों ने वैदिक यज्ञों का विरोध किया है—Constructive Survey of upanisadic philosophy, p. 6.

रचना तिरहुत देश के अनार्य भाग में सम्पन्न हुई थी।^१ अतः, उपनिषदों को निवृत्तिमार्गमूलक अनार्य परम्परा में गिनना सही मालूम होता है।

परन्तु, डॉ० दाण्डेकर ने उपनिषदों को क्यों वैदिक माना है ? डॉ० दाण्डेकर ने अपने मत की पुष्टि में सन्तोषजनक युक्ति प्रस्तुत नहीं की है। परन्तु, ए० बी० कीथ के मत को दुहराते हुए उन्होंने कहा कि वेद के पुरुषसूक्त और नासदीयस्तोत्र में उपनिषदों की पूर्वछाया पायी जाती है और सम्भवतः इन्हीं स्तोत्रों के फलस्वरूप उपनिषदों की रचना हुई होगी।^२ यह युक्ति छिछली है। इसका कारण है कि स्वयं पुरुषसूक्त तथा नासदीयसूक्त बाद की रचनाएँ हैं, न कि प्राचीन। सम्भवतः ये रचनाएँ उसी समय में हुईं, जब उपनिषदों का उद्गम हो रहा था। (अधिक समीचीन निष्कर्ष यह मालूम होता है कि पुरुषसूक्त तथा नासदीयसूक्त के समय आर्य विचारकों ने अनार्य प्राग्वैदिक धर्मदर्शन को अपना लिया था और इसके बाद वे अपनी रचनाओं में भी परिवर्तन लाने लगे थे। यही कारण है कि आर्य विचारक वैदिक देवताओं में ब्रह्म के गुण को खोजने लगे और इस खोज में उन्हें वरुण देवता का ऐसा रूप मिला, जिसे वे ब्रह्म के रूप में परिणत कर पाये। इसी समय से वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य परम्पराओं ने गंगा-यमुना की धाराओं के समान आपस में मिलकर सनातन हिन्दुत्व का रूप प्रदान किया है।^३

उपनिषदों की शिक्षा को वेदान्त-दर्शन में व्यवस्थित किया गया है और वेदान्त के अनुसार ब्रह्म एकमात्र परम सत्ता है, जो अपनी मायाशक्ति से इस विश्व की रचना करता है। इस वेदान्त-दर्शन को ड्यूशन की सुझाव को मानते हुए डॉ० दाण्डेकर ने बताया है कि वैदिक देवता वरुण से प्राप्त किया गया है। डॉ० दाण्डेकर के अनुसार वरुण को असुर इसलिये कहा गया है कि उसमें आसु का होना बताया जाता है और आसु वह अर्धभौतिक तरल पदार्थ माना गया है, जो सम्पूर्ण विश्व को छाये हुए है।^४ फिर, वरुण को मायावी भी कहा गया है; क्योंकि वह अपनी माया के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को

१. Bihar through the ages, p. 121.

२. वही, पृ० ५३।

३. R. N. Dandekar, *Asura Varuna*, Annals of BOR Institute, Vol. XXI, 1941, pp. 23-24.

संचालित एवं व्यवस्थित करता है।^१ फिर, वरुण को यक्षिन् अथवा जादूगर भी कहा गया है; क्योंकि उसने विश्व को रहस्यमय रीति से उत्पन्न किया है।^२ अतः, डॉ० दाण्डेकर के अनुसार, वरुण-धर्म को ही ब्रह्म-विचार में परिणत कर दिया गया है और इसी वरुण-पूजा से मुक्ति-मोक्ष की चर्चा आयी है, ताकि वरुण के पाशों से व्यक्ति को मुक्त किया जाय।^३

अब वरुण-विचार से ही ब्रह्म-विचार की उत्पत्ति हुई है या नहीं, यह अटकल का विषय रहेगा। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि अवैदिक निवृत्तिमार्ग और वैदिक प्रवृत्तिमार्ग के बीच समन्वय हुआ और इस समन्वय के फलस्वरूप वैदिक विचार में भी क्रान्ति उत्पन्न हुई। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है कि वैदिक धारा प्रवृत्तिमार्गपरक तथा अनेकदेवतापूजक थी। परन्तु, ब्रह्मज्ञान, अर्थात् औपनिषद धारा के प्रभाव में आकर वैदिक अनेकदेवतावाद एकत्ववाद में परिणत हो गया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का सूत्र इसी अनार्य औपनिषद शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। फिर, वैदिक 'ऋत' की भावना कर्मसिद्धान्त में परिणत हो गयी। परन्तु, भगवद्गीता में प्रवृत्ति-निवृत्तिमार्ग का वेजोड़ सम्मिश्रण पाया जाता है। वैदिक परम्परा को स्वीकार करते हुए लोकसंग्रह के निःश्रेयस को स्वीकार किया गया है। फिर, वैदिक वर्णाश्रमधर्म को गीता में सम्पूर्ण समर्थन दिया गया है। यहाँ बताया जाता है कि अपने वर्ण के उपयुक्त निर्धारित कर्मों को निष्काम भाव से सम्पादित करने पर व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । (१८।४५)

फिर कहा है,

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (१८।४८)

(अर्थात्, दोषपूर्ण रहने पर भी अपने वर्ण-धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि अग्नि धुएँ से आवृत होने पर दोषपूर्ण ही रहती है।) यहाँ निष्काम कर्म

१. वही, पृ० २५।

२. वही, पृ० २६।

३. वही, पृ० ३४। फिर इसी बात को डॉ० दाण्डेकर ने Proceedings of the IXth International Congress for the history of religious, Tokyo, 1958, p. 673 में कहा है।

तथा मोक्षसिद्धि में निवृत्तिमार्ग, अर्थात् अवैदिक अंश पाया जाता है और लोकसंग्रह-हेतु वर्ण-धर्म को अपनाना प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् वैदिक परम्परा का अंश देखा जाता है। अतः, भगवद्गीता को हिन्दुत्व का सर्वोच्च धर्मपुस्तक स्वीकार किया जाय, तो इसमें वैदिक-अवैदिक प्रवृत्ति-निवृत्तिमार्ग का सफल समन्वय दिखता है।

वैदिक ईश्वरवाद तथा एकत्ववाद :

अभी तक हमने दिखाया है कि एक ओर अवैदिक तथा अनार्य धर्म-परम्परा थी, जिसमें तपस्, ब्रह्मचर्य, मोक्ष, अविद्या, आवागमन आदि विशेष रूप से पाये जाते थे और दूसरी ओर आर्यधर्म-परम्परा थी, जिसमें पशुबलि, यज्ञ, स्वर्गप्राप्ति तथा बहु-देवत्व पाया जाता था। सामान्य रूप से अनार्य-परम्परा को श्रमणों का अथवा निवृत्तिमार्गियों का धर्म कहा जा सकता है और आर्यों के धर्म को प्रवृत्तिमार्ग, वर्णाश्रम-धर्म आदि नाम से पुकारा जा सकता है। यह ठीक है कि सर्वमान्य हिन्दुत्व में दोनों धाराओं का समन्वय देखा जाता है, परन्तु इस समन्वय में अवैदिक तथा अनार्य तत्त्व वैदिक तत्त्व की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस प्रकरण में बताया जायगा कि धीरे-धीरे वैदिक धर्म में श्रमण-परम्परा तथा निवृत्तिमार्ग अथवा ज्ञान-मोक्ष के निःश्रेयस का स्थान बढ़ता गया। वैदिक धर्म में सर्वप्रथम बहुदेवतावाद था। बाद में वरुण देवता की उपासना में शुद्ध ईश्वरवाद का विकास हुआ और अन्त में समाधिमूलक अवैदिक धर्म के प्रभाव में आकर वैदिक धर्म का विकास एकेश्वरवाद (monotheism) की ओर न होकर एकत्ववाद में परिणत हो गया। बाद में चलकर हम देखेंगे कि एकत्ववाद में निरीश्वरवाद की झलक पायी जाती है और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि समाधिमूलक धर्म में तर्कसंगत रूप से ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती। मानव अपने ही प्रयास से तपस्या एवं समाधि के द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि अवैदिक परम्परा से उत्पन्न जैन और बौद्ध मतों में ईश्वर को स्थान नहीं दिया गया है। अब हमलोग वैदिक धर्म-विकास में बहुदेवतावाद, ईश्वरवाद और एकत्ववाद का आनुक्रमिक अध्ययन करेंगे।

बहुदेवतावाद : अनेक विचारक वैदिक धर्म को बहुदेवतावादी मानते हैं। आर्यों ने प्रकृति में पायी गयी शक्तियों को देवता का रूप दिया है और उन्हें यज्ञादि से प्रसन्न कर वे सन्तान, दीर्घायु, गो-धन तथा स्वर्गप्राप्ति की कामना

करते थे। इनके धर्म-विचार में नररूपीकरण स्पष्ट दिखता है। परन्तु, देवताओं के आह्वान करने के बाद उन्हें देवताओं की उपस्थिति की सबल अनुभूति हुआ करती थी। प्रायः वे देवताओं का आह्वान कर उन्हें कुश का आसन देकर आचमन के लिये जल देते थे, तब देवताओं की पूजा करके उनका विसर्जन करते थे। ये सब बातें ठीक इसी रूप में होती थीं, जिस प्रकार बाइबिल में याहवे अर्धन की वारी में आदम से बातचीत करता था। फ्राँयड ने बताया है कि प्राकृतिक घटनायें मानव के लिये कटु और असह्य होती हैं। वह मानव-जीवन के प्रारम्भ में आज की अपेक्षा और भी अधिक निर्बल और असहाय था। वह इन प्राकृतिक प्रकोपों का साक्षात् सामना नहीं कर सकता था। अतः, मानव ने सर्वप्रथम इन प्राकृतिक शक्तियों को नररूप में देखा, उनकी पूजा कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया। (सत्य है कि देवताओं की पूजा से प्राकृतिक प्रकोपों पर अधिकार नहीं हो सकता है, परन्तु फ्राँयड के अनुसार, मानव को इससे दुःख-वहन करने में मनोवैज्ञानिक सन्तोष मिल जाता है। यही बात योद्धा, वीर, देश-विजयी आर्यों के लिये भी कही जा सकती है।)

पहले देवताओं की संख्या ३३ बतायी जाती थी। बाद में ऋग्वेद, ३।१।१६ में बताया गया है कि देवताओं की संख्या ३,३३६ है। इन देवताओं को द्युस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा पृथिवीस्थान के अनुसार विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। वरुण, मित्र, सूर्य आदि को द्युनिवासी कहा गया है; इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि को अन्तरिक्षनिवासी और अग्नि, सोम आदि को पृथिवीनिवासी कहा गया है। आर्यधर्म के प्रारम्भिक काल में देवियों की संख्या और उनका महत्त्व बहुत कम था। इसलिये माँ दुर्गा, काली तथा शक्ति की उपासना को अनार्य समझा जाता है।

आर्य योद्धा थे और वे सुखप्रिय थे। उन्हें संसारविजेता होना और पृथिवी का भोग करना प्रिय था। स्वर्ग की कामना भी इसी सांसारिक सुख-प्राप्ति के हेतु की जाती थी। इसकी प्रतिध्वनि गीता में भी देखी जाती है :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

(गीता, २।३७)

(मरने पर स्वर्गप्राप्ति और जीतने पर पृथिवी का भोग मिलेगा।)

संसार-विरक्ति, तपस् तथा संन्यास वैदिक धर्म का परम लक्ष्य नहीं था। फिर, युद्ध-नीति को छोड़कर योद्धाओं में नैतिक मूल्यों का विशेष आदर नहीं

होता है। यही बात वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में देखी जाती है। आर्य योद्धाओं के प्रमुख देवता इन्द्र हैं। इन्द्र देवता महाबली हैं और शत्रुओं का दमन करते हैं। वे दस्यु और सम्भवतः हड़प्पा के अनार्य राजा वृत्रासुर के दमन करनेवाले माने गये हैं। परन्तु, वे उषा को मलिन करने से नहीं हिचकते हैं (२।१५-६), मरुत् के साथ झगड़ बैठते (१।१७०-२) और सूर्य के साथ रथ की दौड़ में झगड़ते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि, सूर्य तथा इन्द्र पितृघातक भी बताये जाते हैं।

ईश्वरवाद : परन्तु भारत-विजय के बाद आर्य संगठित समाज में रहने लगे। उनमें नैतिकता की आवश्यकता होने लगी। ऐसी स्थिति में वरुण की पूजा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। ब्रूके^१, ग्रिस्वोल्ड^२ तथा मैक्डोनेल प्रभृति^३ विचारकों ने बताया है कि वरुण देवता को वास्तव में सर्वोच्च सत्ता मानना चाहिये। वरुण देवता धर्मप्रिय, न्यायप्रिय, दयावान् तथा महापवित्र माने जाते हैं। वे पश्चात्ताप करनेवालों का पाप क्षमा करते हैं।

ऋग्वेद १ : २५ (वरुण) :

(कुछ पद्यों का स्वच्छन्द हिन्दी-अनुवाद)

मानव होने के हेतु हम तुम्हारे अनुष्ठानों का प्रतिदिन उल्लंघन करते हैं (१)। तुम मुझे मृत्यु को नहीं सौंप दो, मुझपर क्रोध न करो (२)। हे वरुण ! तुम उड़नेवाले पक्षियों के आकाश-मार्ग और समुद्र के नौका-मार्ग के पूर्ण ज्ञाता हो (७)। घोरव्रती, सुन्दर, प्रज्ञावान् वरुण साम्राज्य-संचालन के हेतु विराजमान दिखाई देते हैं (१०)। भविष्य की सभी घटनाओं को वरुण जानते हैं (११)। हे वरुण ! मेरे आह्वान को सुनो। मुझपर अनुग्रह करो। हे मेरे रक्षक ! मैंने तुम्हारा आह्वान किया है (१६)। तुम आकाश और पृथ्वी के स्वामी हो। तुम हमारी पुकार का प्रत्युत्तर करो (२०)। हे वरुण !

१. A.C. Bouquet, *Hinduism*, Hutchinson Univ. Lib., 1948, pp. 30-31.

२. H. D. Griswold, *The religion of the R G Veda* (Humphrey Milford), 1923, Chap. V, Sec. V.

३. A.A. Macdonell, *The Vedic Mythology*, p. 3.

ऊपर के पाश को हटाओ, बीच के पाश को काटो और नीचे के पाश को हटाकर जीवन प्रदान करो (२१) ।

भक्ति के रूप में भी वरुण की स्तुति की गयी है। ७ : ८६-३ में लिखा है कि 'समुद्र में रहकर भी मुझे प्यास लगी है।' पापक्षमा की याचना वरुण-पूजा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है ।

हे वरुण ! हम तुम्हारे स्तोता हैं । हमें पाश से मुक्त करो । हमें तुम्हारा संरक्षण प्राप्त हो, और तुम हमारा सदा पालन करो ।' (७ : ८८-१०)

हे वरुण ! हम मानवों से जो देवताओं के प्रति अपराध हुआ है या अज्ञानवश तुम्हारे प्रति कर्त्तव्य-पालन में जो त्रुटि हुई है, उन पापों के कारण हमारा विनाश न करो ।' (७ : ८६-११)

'पाप' संज्ञा ईश्वर की महान् पवित्रता के प्रति त्रुटि के निमित्त दी जाती है । अतः, आर्य भक्तों में नैतिक गहराई और पवित्रता का भान स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार की धार्मिक अनुभूति यहूदियों में बहुत बाद में पायी जाती है । अतः, वैदिक पुजारियों में अनुभूति की गहनता देखने में आती है । फिर, नश्वर शरीर-धारण के प्रति विमुखता दिखती है (७ : ८६-१) । इसमें मुक्तिमार्ग की पूर्वछाया प्रतीत होती है ।

वरुण सृष्टिकर्ता हैं और 'ऋत' के द्वारा इस विश्व का संचालन करते हैं । इस ऋत को विश्वजनीन नैतिक विधान समझना चाहिये, जिसके अन्तर्गत मनुष्य और देवता सभी चले आते हैं । वरुण को सर्वद्रष्टा माना गया है; क्योंकि उनकी दृष्टि से छिपकर कोई भी नहीं बच सकता है ।

अटकल लगाना बहुत कठिन है कि कालक्रम में इस नैतिक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, दयालु, पतितपावन ईश्वर का प्रत्यय क्यों विलीन हो गया । यदि वरुण की पूजा जारी रहती, तो सम्भवतः इस पूजा से शुद्ध एकेश्वरवाद की भावना विकसित होती । परन्तु, बार-बार आर्य ऋषियों में एकेश्वरवाद के रूप में अन्य देवताओं का भी विकास हुआ । उनमें विश्वकर्मान्, हिरण्यगर्भ तथा प्रजापति उल्लेखनीय देवता हैं । ऋग्वेद १० : ८२ में बताया जाता है कि विश्वकर्मा ही आदि में थे और तब उन्होंने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की और तब अन्य देवता उत्पन्न हुए । शक्तिमान् विश्वकर्मा ही इस विश्व के रचयिता और पालक हैं ।

विश्वकर्मा ने आकाश-पृथ्वी की रचना की (१)। वे सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ और सबके निर्माता हैं (२) सभी देवता, इन्द्रादि जल-गर्भ में रहते हैं और वह गर्भ जल-द्वारा विश्वकर्मा-धारण किये हुए हैं (६)। विश्वकर्मा आकाश-पृथ्वी, राक्षस तथा देवताओं से पूर्व हैं (५)।

इसी प्रकार, विश्वकर्मा को विश्व का सृष्टिकर्ता के रूप में १० : ८१ में माना गया है : 'विश्वकर्मा के नेत्र, मुख, भुजा और चरण सब ओर हैं..... वे विश्वकर्मा एक हैं' (३)।

परन्तु, हिरण्यगर्भ जिसे प्रजापति भी कहा गया है, सर्वोच्च ईश्वर माना जा सकता है। प्रजापति के विषय में कहा गया है कि आदि में उसने देवता और असुर की उत्पत्ति की। फिर, ऋग्वेद १० : १२१ में बताया है कि हिरण्यगर्भ ने ही आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की है और सभी प्राणियों पर वह एकमात्र प्रभुता करता है। उसे छोड़कर कोई अन्य देवता हवि का भागी नहीं हो सकता है। प्रत्येक पद्य के अन्त में पूछा जाता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (अर्थात् किस देवता को हवि अर्पण करें ?)। अतः, इसका उत्तर होता है कि किसी भी अन्य देवता को, हिरण्यगर्भ को छोड़कर, हवि नहीं अर्पित किया जा सकता है : 'सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए..... उन्होंने आकाश और पृथ्वी को स्थिर किया' (१)। 'जिन्होंने सभी प्राणी को शरीर और बल दिया है और जिनकी आज्ञा का सभी देवता पालन करते हैं और जिनकी छाया में अमरत्व और मृत्यु है, उन्हें छोड़ किन्हें हवि अर्पित करें (२) ?' 'जो देवताओं के भी देवता हैं (८)।' 'वह जो सभी पर प्रभुता करते हैं (१०)।'।

परन्तु, ईश्वरवाद के रूप में ऋग्वेद (१० : ६०) को प्रमुख माना जाता है। इस पुरुषसूक्त में बताया गया है कि ईश्वर विश्व में अन्तवर्त्ती भी हैं और फिर विश्व से अतीत भी हैं (१० : १, ३), फिर इस पुरुषसूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है (१० : ११-१२)। पुनः, इस सूक्त में ईश्वरवाद के साथ सर्वेश्वरवाद की भी ध्वनि मिलती है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (१)

पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भाग्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (२)

हिन्दुत्व के आर्य-अनार्य तथा प्राग्वैदिक-वैदिक तत्त्व

३५

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (३)

पुरुष के सहस्र सिर, पैर, आँख हैं। वह पृथ्वी को ढककर भी दस उँगली इससे अतीत है। जो कुछ है, वह सब पुरुष ही है। वह भूत और भविष्य भी है। वह इस अमर विश्व का पालक है और जो दिव्य भोजन से जगत् का अतिक्रमण करता है। पुरुष इन सब जगत् से श्रेष्ठ है। यह ब्रह्माण्ड इनका एक पगमात्र है तथा इनके तीन पग स्वर्गलोक में हैं।

इस विराट् पुरुष के मन्थन से विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

अब प्रश्न होता है कि क्या वैदिक देवतावाद में एकेश्वरवाद का स्थान है ? एकेश्वरवाद उस धर्मदर्शन को कहा जाता है, जिसके अनुसार केवल एक ही ईश्वर है और उसकी तुलना में अन्य सभी देवी-देवता हीन तथा काल्पनिक हैं। शुद्ध रूप में एकेश्वरवाद केवल यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में पाया जाता है। इन व्यक्तियों के अनुसार केवल एक ही ईश्वर सत्य है और सभी देवी-देवता अवास्तविक हैं। हिन्दुत्व में इस प्रकार का एकेश्वरवाद प्रमुख रूप में नहीं माना गया है। कहीं-कहीं कुछ पन्थों में अपने इष्ट देवता को लोगों ने एकमात्र ईश्वर की संज्ञा दी है। परन्तु, इसे अपवाद कहा जायगा, न कि साधारण दावा। हिन्दुत्व में देवी-देवताओं की सापेक्षता, अनेकता और विविधता मानी गयी है, जिसके आधार पर भारत में धर्म-सहिष्णुता का भाव हजारों वर्षों से बना रहा है। देवी-देवताओं की सापेक्षता का सिद्धान्त हिन्दुत्व के सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद से निस्सृत होता है, जो हिन्दुत्व का प्रमुख धर्म-विचार है।

एकत्ववाद : इसमें सन्देह नहीं कि अनेक देवताओं के स्तुतिगान में एकेश्वरवाद की ध्वनि मिलती है। परन्तु, शुद्ध एकेश्वरवाद नहीं दिखाई पड़ता है। वरुण-देवता अहूर-मज्दा तथा याहवे के समकक्ष गिने जायेंगे, तो भी क्यों नहीं एकेश्वरवाद की उत्पत्ति हुई ? सर्वप्रथम, प्रत्येक जाति की अपनी प्रतिभा होती है। पाश्चात्य देशों में एकेश्वरवाद हुआ, तो भारत में सर्वेश्वरवाद। दोनों के अपने-अपने महत्त्व हैं। परन्तु, ऐसा आभासित होता है

कि अनार्य तथा अवैदिक धार्मिक चिन्तन से ही आर्यों का धर्म-विचार एकत्ववाद की ओर झुका। कम-से-कम औपनिषद विचारधारा में एकत्ववाद बड़ा स्पष्ट मालूम देता है और वैदिक विशेषज्ञों का मत है कि औपनिषद विचार और अन्तिम वैदिक सूक्त लगभग एक ही काल के हैं।^१ ऐसी अवस्था में वैदिक चिन्तन को औपनिषद विचारधारा से प्रभावित होना स्वभाविक था। बात यह है कि औपनिषद काल में योग, समाधि तथा ध्यान के प्रमुख हो जाने पर, उपासना के स्थान पर निर्व्यक्तिक परम सत्ता का साक्षात्कार करना अपरिहार्य हो जाता है और ऐसी अवस्था में ईश्वरवाद के स्थान पर सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक मालूम देता है। परन्तु, इस एकत्ववाद के विकास में भी एक क्रम दिखाई देता है।

मैक्समूलर ने विकल्पेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस हेनोथीज्म या कैथेनोथीज्म के अनुसार बारी-बारी से किसी भी प्रमुख देवता को सर्वोच्च मानकर ही पूजा की जाने लगी, ताकि अन्त में कोई एक देवता एकमात्र ईश्वर का स्थान ग्रहण कर ले। इस रूप में इन्द्र, अग्नि, पुरुष इत्यादि को देवताओं का देवता कहा गया है (ऋग्वेद १०:७६-१, अग्नि; १०:६०-८, पुरुष; १०:१२८-७ इन्द्र)। परन्तु, कीथ और मैकडोनेल मैक्समूलर के विकल्पेश्वरवाद के मत को नहीं स्वीकार करते हैं।^२ इन वैदिक विद्वानों के अनुसार पूजा की वेला में किसी देवता से अभिभूत होकर उस क्षण में उसे सर्वोच्च मानना अथवा 'देवताओं का देवता' पुकारना केवल प्रशस्ति-प्रकाशन है, न कि कोई स्थिर दार्शनिक विचार। कीथ और मैकडोनेल का ही मत सही मालूम देता है; क्योंकि अन्त में वैदिक धर्मचिन्तन में एकेश्वरवाद का विकास न होकर एकत्ववाद की ही स्थापना होती है। इस एकत्ववाद के अनुसार सभी देवता एक ही परम सत्ता के विभिन्न अंग हैं। इस एकत्ववाद की दिशा में प्रगति होने के क्रम में विश्वेदेवाः के प्रति लगभग ४० सूक्तों का प्रणयन किया गया है।

१. V. Raghavan, The Indian Heritage, The Indian Institute of world literature, Third edition, 1963. P. XXXII.

२. A.B. Keith, वही, पृ० ८६; A.B. Macdonell, वही, पृ० १६।

ऋग्वेद ५:२६-१,३ में अग्नि का आह्वान किया जाता है, ताकि वह सब देवताओं को यज्ञ में लाये। फिर, ५:२६-८ में बताया जाता है कि देवताओं को हवियाँ अग्नि के द्वारा पहुँचायी जाती हैं। पुनः, आपः को सम्बोधन कर (७:४६) जलदेवता के द्वारा वरुण, सोम तथा विश्वेदेवा का आह्वान किया जाता है। अपितु, ८:३०-२,४ में बताया गया है कि तैत्तीस देवता हैं, जो स्तुत्य हैं और जो शत्रुओं के भक्षक हैं तथा सभी देवताओं से एक साथ कुशासन ग्रहण करने की प्रार्थना की जाती है। यहाँ मैक्डोनेल का कहना है कि किसी भी देवता को ईश्वर का स्थान नहीं दिया जा सकता है, परन्तु बारी-बारी से एक को दूसरे के अधीन माना जाता है। अन्त में, हम देखते हैं कि वेदों में एकत्ववाद की विजय हो जाती है। अग्नि का आह्वान कर ऋक् ५:३-१ में कहा गया है कि जन्म के समय अग्निदेवता वरुण का रूप, समृद्ध होकर मित्र का रूप और यजमान के लिये इन्द्र का रूप धारण करता है। पुनः, विश्वेदेवाः का आह्वान कर ऋक् १०:११४-५ में कहा गया है कि ईश्वर रूप पक्षी एक ही है, परन्तु विप्र लोग उसे अपने दृष्टिकोण से विभिन्न समझते हैं, विभिन्न छन्दों से उसकी उपासना करते हैं और द्वादश सोमपात्रों को स्थापित करते हैं। अन्त में, परम सत्ता देवताओं का रूप न धारण करके निर्वैयक्तिक सत्ता का रूप ले लेती है, जिसे ऋग्वैदिक सूक्तों में (१०:१२६) सबसे महत्त्वपूर्ण नासदीयसूक्त कहा गया है।

१. न असत् था और न सत् और न व्योम से परे कुछ था.....उस गम्भीर गहन जलगर्भ में क्या था ?
२. न अमरता थी और न मृत्यु। रात और दिन भी नहीं थे। ब्रह्ममात्र श्वासहीन रहते हुए श्वास छोड़ते थे। इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।
३. अन्धकार अन्धकार से आच्छादित था और घोर गर्त था.....।
४. तब सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई और गर्भबीज उत्पन्न हुआ। विप्र बुद्धि के द्वारा सत् को असत् से उत्पन्न कल्पित करते हैं।
- ५-६. प्रकृति के तत्त्व का कौन उल्लेख कर सकता है ? इसके आधार में क्या था ? देवगण भी सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ?

७. इस सृष्टि का रचयिता दिव्यधाम में रहता है। वही इसकी रचना जानता है। यह भी सम्भव है कि उसे भी इस सृष्टि का गर्भ ज्ञात नहीं है।

क्यों ज्ञात नहीं हैं ? क्योंकि परम सत्ता व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर नहीं, सम्भवतः निर्वैयक्तिक सत्ता है, जिससे सभी वस्तुयें निःसृत हुई हैं। मानव और देवता सभी उसी एक ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु वह सबसे परे, बुद्धि और ज्ञान से अतीत है।

अतः, वैदिक धर्म-चिन्तन अन्त में समाधिमूलक औपनिषद धारा में विलीन हो जाता है। धीरे-धीरे पशु-यज्ञ की प्रथा भी कम होने लगी और लोगों में सद्भावना भी जगी। निम्नांकित पद सभी भारतीयों को कण्ठाग्र कर लेना चाहिये :

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
 देवा भागं यथापूर्वं सञ्जानामा उपासते ॥
 समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
 समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ✓

इसका भाव है (सब मनुष्य भली भाँति मिलकर रहें, प्रेम से एक-दूसरे से वार्त्तालाप करें, सबके मन में एकता का भाव हो और वे अविरोधी ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार विप्र ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर उसकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार सभी कोई ज्ञान और उपासना में दत्तचित्त हों। सब संकल्प एक समान हो और परस्पर सहयोग प्राप्त हो ।)



अध्याय ३

भारतीय निरीश्वरवाद की रूपरेखा

विषय-प्रवेश : वैदिक दैवतवाद में ईश्वर-भावना को निहित माना जायगा । इसलिये यदि निरीश्वरवाद की परम्परा को अटूट तथा उग्र रूप में अनेक धाराओं में पाया जाय, तो इसे अनार्य मानना चाहिये । इसके कई कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

१. जैन-बौद्ध-परम्परा को श्रमण-परम्परा में गिना जाता है और श्रमण-परम्परा को अवैदिक समझा जाता है । फिर, जैन-बौद्ध-परम्परा में सैद्धान्तिक रूप से निरीश्वरवाद को अपनाया गया है । हम आगे चलकर देखेंगे कि इस परम्परा ने ईश्वर-समर्थक युक्तियों का प्रबल विरोध किया है । यह ठीक है कि पूर्व-मीमांसा को वैदिक परम्परा में गिना जायगा और पूर्वमीमांसीय विचारधारा निरीश्वरवादी है । परन्तु, पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्डों को विशेष प्रश्रय दिया गया है और कर्म-प्रधानता भी अवैदिक ही समझी जायगी । अथर्ववेद के तान्त्रिक दर्शन में अनार्य प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है और पूर्वमीमांसा के युग में इस अनार्य कर्मवाद का बहुत अधिक प्रभाव है । अतः, निरीश्वरवाद को अवैदिक मानना सही मालूम देता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म को ईश्वरवादी माना है । अतः, निरीश्वरवाद को अवैदिक मानना युक्तिसंगत है ।

२. हमलोगों ने देखा है कि सिन्धुतट-सभ्यता में देवता को समाधि अथवा योग की मुद्रा में पाया गया है और बौद्ध-जैन-दर्शन में ही सर्वप्रथम योग को विशेष प्रश्रय दिया गया था । परन्तु, यदि समाधि और योग के द्वारा मानव अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है, तो सिद्धान्ततः इसमें ईश्वर की तथा अन्य किसी पारलौकिक शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती है । चूँकि समाधि, तपस्, ब्रह्मचर्य आदि को अवैदिक परम्परा में रखना युक्तिसंगत मालूम देता है, इसलिये

समाधिमूलक जैन-बौद्ध निरीश्वरवाद को भी अवैदिक ही समझना चाहिये ।

३. इसके पहले कि बौद्ध-धर्म का विकास हुआ । बुद्ध भगवान् के समय में ही निरीश्वरवादी परम्परा व्यापक रूप से पायी जाती थी । अजितकेशकम्बल, पूरणकस्सप, पकुधकञ्चायन, मक्खलिगोसाल, संजय-वेलट्ठिपुत्र और निगगंठनातपुत्त उल्लेखनीय निरीश्वरवादी विचारक थे । निगगंठनातपुत्त जैन महावीर माने जाते हैं । मक्खलिगोसाल नियतिवादी थे । आप आजीवक थे और सभी घटनाओं को अवश मानते थे । अजित दान-पुण्य तथा श्रमण-ब्राह्मण का भेद नहीं मानते थे । संजय हिंसा, चोरी, ठगी तथा व्यभिचार तक को पाप नहीं मानते थे । परन्तु, इन जडवादियों, नियतिवादियों, आपातिकत्ववादियों, कालवादियों (अर्थात्, भाग्य-भरोसावादी), स्वभाववादियों तथा यदृच्छा-वादियों का भी समाज में आदर था । इसका कारण था कि ये सब बड़े तपस्वी थे और इन्हे ऋद्धियाँ प्राप्त थीं । मक्खलिगोसाल पंचानि तापते थे, चमगादड़ की भाँति पेड़ों की डालियों से उलटकर झूलते थे । दूसरे शब्दों में ये सब तपस्या, समाधि आदि के पोषक थे, जिन्हें सब प्रकार से अवैदिक परम्परा में गिनना चाहिये । अतः, जडवादी, नियतिवादी आदि निरीश्वरवादी परम्परा को गया-शाहावाद तथा बिहार के अन्तर्गत अनार्य देश की परम्परा मानना युक्तिसंगत है ।

प्रायः भारतीय दर्शनों को नास्तिक और आस्तिक, दो वर्गों में बाँटा जाता है । जिस दर्शन में वेद को स्वीकार किया जाता है, उसे आस्तिक और जिस दर्शन में वेद को मान्यता नहीं दी जाती है, उसे 'नास्तिक' संज्ञा दी गयी है । परन्तु, अधिकांशतः भारतीय दर्शन आरम्भकाल, अर्थात् सूत्र-रूप में निरीश्वरवादी हैं । यह बड़े आश्चर्य का विषय है । चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शनों का निरीश्वरवादी होना उतना अधिक आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता है, जितना आस्तिक दर्शनों का । इसका कारण है कि वैदिक दर्शन विशेषतया ईश्वरवादी कहा जायगा और तब आस्तिक दर्शन कैसे निरीश्वरवादी हो सकता है ? परन्तु सूत्र-रूप में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा को निरीश्वरवादी समझना युक्तिसंगत मालूम होता है और अद्वैतवादी शांकर

वेदान्त में ईश्वर को गौण मानकर अन्त में ईश्वर को परम सत् न मानना निरीश्वरवाद ही कहा जायगा। परन्तु, अनेक भारतीय विचारक एक ओर भारतीय दर्शन को मूलतः निरीश्वरवादी नहीं मानते हैं और फिर वे अनार्य-अवैदिक तत्त्वों को स्वीकार भी करते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है?

अधिकतर हिन्दू अपने को आर्य समझते हैं, जो विवादास्पद विषय है। सच्ची बात यह है कि अधिकांश भारतीय आर्य-अनार्य तथा अनेक जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं। इसे स्वीकारने में किसी को दोष नहीं लग सकता है। 'शुद्ध रक्त' की देवकथा हिटलर ने रची थी और उससे किसी का भी कल्याण नहीं हुआ। अतः, दक्षिण और उत्तरभारतवासियों का मनगढ़न्त संघर्ष वृथा है। न शुद्ध द्राविड है और शायद ब्राह्मणों को छोड़कर शुद्ध आर्य भी कोई नहीं है। इसलिये यदि अनार्य और आर्य की विभिन्न परम्पराओं को मान लेने पर ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ नहीं होती है और यदि लगभग दो सहस्र वर्षों के हिन्दुत्व पर प्रकाश पड़ता है और यदि भारतीयता के विकास में योगदान मिलता है, तो ऐसी स्थिति में सभी धाराओं को वैदिक गिनना अयुक्ति-संगत है। (यदि बुद्ध भगवान्, जैन महावीर और राजा जनक अनार्य सिद्ध हो जायँ, तो क्या वे हमारे आदर और गर्व के विषय नहीं होंगे? आर्य हो या अनार्य, जो भारत की मिट्टी में पलकर भारतीय चिन्तन, विचार और इसके बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करेगा, वही इस भारत का देदीप्यमान रत्न कहलायगा।)

भारतीय दर्शन को मूलतः निरीश्वरवादी नहीं मानने का दूसरा कारण इस वर्तमानकाल में इसलिये है कि निरीश्वरवाद को जड़वाद का ही एक रूप माना जाता है और भारतीय दर्शन निरीश्वरवादी रहते हुए भी अध्यात्मवादी अथवा पारलौकिकवादी है। और, लोकप्रिय जनमत के अनुसार अध्यात्मवाद को निरीश्वरवाद नहीं कहना चाहिये। मेरी समझ में यह भ्रम तार्किक आधार पर नहीं है; क्योंकि अध्यात्मवाद और ईश्वरवाद में कोई अवियोज्य आपादन का सम्बन्ध नहीं है। जैनमत में अध्यात्मवाद शुद्ध रूप में है, परन्तु इसमें निरीश्वरवाद भी शुद्ध ही रूप में है। फिर, ईश्वरवाद में ही अध्यात्मवाद है, यह भी विवादास्पद है। ईसाई धर्म ईश्वरवादी है और ईसाइयों ने धर्म के नाम पर क्या नहीं किया? जो कुछ वाद में ईसाइयों के द्वारा विश्व-कल्याण की बात

कही गयी है, वह ऐहिकतावाद का परिणाम है, न कि उनके अध्यात्मवाद का। यही बात अन्य ईश्वरवादियों की है, जिनसे भारतीय भली भाँति परिचित हैं। अतः, अध्यात्मवाद को निरीश्वरवादी मानने में कोई असंगति नहीं होती है। इस अर्थ में 'नास्तिक' शब्द को पाणिनि के विश्लेषण के अनुसार समझना चाहिये, अर्थात् नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता है (नास्तिक परलोको यस्य सः), न कि वह जो वेदों का निन्दक है। अतः, जैन-बौद्ध तथा मूलभूत सांख्य-मीमांसा को निरीश्वरवादी कहा जा सकता है, न कि नास्तिक दर्शन।

यदि मान लिया जाय कि भारतीय दर्शन और धर्मदर्शन का स्वरूप निरीश्वरवादी है और बाद में भाष्य, टीकी तथा वृत्ति में ईश्वरवाद की झलक आती है, तो यह भी आश्चर्यजनक बात होगी। कम-से-कम यदि जैन-बौद्ध की परम्परा को अवैदिक और निरीश्वरवादी माना जाय और इस परम्परा को प्राग्वैदिक कहा जाय, तो यह आश्चर्यजनक चिन्तन-इतिहास कहा जायगा। प्रायः धर्म के विकास में आदिकाल में सर्वात्मजीववाद (Animism), मानावाद (Manatism), टोटमवाद, बहुदेवतावाद आदि आते हैं और तब ईश्वरवाद का विकास होता है। जब ईश्वरवाद की परम्परा चल जाती है, तभी इसके विपक्ष में अन्त में निरीश्वरवाद का उदय होता है। ऐसी अवस्था में अनार्य निरीश्वरवाद को धर्मचिन्तन का आदिकाल नहीं समझना चाहिए। ऐसा आभासित होता है कि योग-समाधि के प्रादुर्भाव के पूर्व निम्नकोटि के धर्मदर्शन भी थे और निम्नकोटि के देवी-देवताओं की उपासना भी होती थी। अतः, सिन्धुतट-सभ्यता का अथवा विहार का सांस्कृतिक इतिहास बहुत पुराना है और इसके पूर्व का धर्मचिन्तन इस समय सुदूर अतीत के गर्भ में लीन मालूम देता है। परन्तु, यहाँ अटकल लगायी जा सकती है।

सिन्धुतट की खुदी मूर्तियों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि इस काल में देवी-देवियों की भी पूजा होती थी। कम-से-कम अनार्य विहार में यक्ष, यक्षिणी, नाग तथा वृक्षों की और पितरों की पूजा चैत्यों के द्वारा हुआ करती थी। बौद्धों ने चैत्यों की परम्परा अक्षुण्ण रखी और स्वयं बुद्ध भगवान् ने वटवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था।^१ अतः, सम्भव है कि शक्ति, राम-कृष्ण, दुर्गादि

१. Bihar Through the Ages, p. 119.

की पूजा किसी-न-किसी रूप में अनार्यों की बीच पायी जाती थी। सम्भवतः, दो प्रकार का धर्म-अनुष्ठान किया जाता था, अर्थात् निम्नकोटि के देव-देवियों की पूजा, तान्त्रिक साधना आदि एक ओर, और दूसरी ओर समाधिमूलक निरीश्वरवादी तपस् एवं ब्रह्मचर्य। अधिकारी-भेद के अनुसार व्यक्ति दोनों में से किसी एक पक्ष को अपनाते थे। बुद्ध भगवान् ने गृहस्थों को अधिक छूट दी थी और जैनों में गृहस्थों को कम स्वतन्त्रता मिली थी। परन्तु, दोनों के अनुसार केवल भिक्षुओं को ही मोक्ष-निर्वाण प्राप्त हो सकता है। यदि आगे चलकर शंकर ने भी इसी अधिकारी-भेद को माना और स्वीकार किया कि किसी भी देवी-देवता की पूजा से ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति में सहायता मिलती है, तो उन्होंने दो प्रकार के धर्म-अनुष्ठान को संगत रूप में ही प्रस्तुत किया है। अतः, ऐसा आभासित होता है कि समाधि-योग उच्चतर धार्मिक साधना का स्रोत था और सेश्वरवादी विभिन्न परम्परायें लोकप्रिय धार्मिक क्रिया-कलापों की व्यवस्था थी। वाद में चलकर सेश्वरवादी पूजा भक्ति में परिणत हो गयी और भक्ति भी अन्त में भावपरक आत्मविलयन का वैसा ही मार्ग है, जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से निर्गुण-प्राप्ति को आत्मविलयन अथवा निर्वाण-गति में अनात्मभाव की प्राप्ति को आत्मविलयन कही जा सकती है। इसलिए भक्ति-परम्परा अनार्य मानी जाती है और इसमें भी अन्त में वही आत्मविलयन का चरम लक्ष्य पाया जाता है, जो निर्वाण-गति में देखा जाता है।

अतः, आर्य तथा वैदिक धर्म-परम्परा की अपेक्षा अवैदिक विचारधारा का अधिक अबाध विकास हुआ। परन्तु, चूँकि समाधिमूलक धर्म कठिन है, इसलिए वाद में जाकर इसमें निम्नकोटि की पूजा तथा तन्त्र का हाथ चला आया और अन्त में भारतीय हिन्दुत्व में ईश्वरवाद का स्थान प्रमुख हो गया। परन्तु, पाश्चात्य विचारधारा को ध्यान में रखते हुए मानना पड़ेगा कि भारतीय समाधिमूलक निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद का ही भविष्य उज्ज्वल है, न कि ईश्वरवाद का। परन्तु, अब हमें स्पष्ट करना है कि निरीश्वरवाद ही भारतीय चिन्तन का मूल रूप है। इस बात को स्वीकारने में कुछ कठिनाई हो सकती है। चूँकि जैन-बौद्ध परम्परा को निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद मानने में लोगों को विशेष आपत्ति नहीं होती, इसलिए अब षड्दर्शन में निरीश्वरवादी पक्ष को स्पष्ट करना अभीष्ट मालूम देता है।

षड्दर्शन में निरीश्वरवाद का स्थान :

ईश्वर के स्वरूप के विषय में बताया जाता है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता, जगन्नियन्ता और कर्मफलदाता है। सर्वप्रथम, ईश्वर की कल्पना इसीलिए की गयी थी कि इसके द्वारा विश्व की व्याख्या की जाय। इस विषय में कुछ उल्लेखनीय बातें हैं।

(क) प्रायः भारतीय दर्शन में सृष्टि को शाश्वत माना जाता है, अर्थात् ईश्वर ने किसी एक निश्चित काल में इस विश्व की रचना की है। यद्यपि यह सृष्टि अनादि है, तथापि ज्ञान-प्राप्ति के बाद यह सृष्टि भ्रमपूर्ण सिद्ध होकर विलयन को प्राप्त हो जाती है। अतः, एकरूप में पारमार्थिक रीति से न यह विश्व है और न इसकी व्याख्या की आवश्यकता है, अर्थात् न इसका कोई वास्तविक कारण हो सकता है और न इसकी वास्तविकता ही स्वीकार की जा सकती है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त-दर्शन में भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि-सम्बन्धी व्याख्या की गयी है। परन्तु, यह सृष्टि अनादि मानी गयी है और इस रूप में यह पाश्चात्य सृष्टि-विचार से सर्वथा भिन्न है।

(ख) चूँकि सृष्टि अनादि है, इसलिए ईश्वर इस विश्व का निमित्तकारण हो सकता है, अर्थात् ईश्वर ने इस विश्व को परमाणुओं से (वैशेषिक), कर्म-संस्कार के आधार पर (न्याय) सृष्ट किया है। न तो ईश्वर, वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु, दिक्-काल, आकाश तथा आत्मा की सृष्टि करता है; क्योंकि ये नित्य हैं और न वह कर्म-संस्कार को ही उत्पन्न करता है; क्योंकि ये जीव-द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी पाश्चात्य सृष्टि-विचार के अनुसार ईश्वर शून्यतः सृष्टि करता है, अर्थात् ईश्वर उपादान भी उत्पन्न कर इस विश्व की रचना करता है। भारतीय सृष्टि-विचार के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त-कारण है। वह जीवों को शरीर आदि उनके पूर्व-संस्कार के फलस्वरूप प्रदान करता है और अपने अनुग्रह के द्वारा जीवों के पुरुषकार के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान अथवा मुक्तिज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। इसलिए, ईश्वर को कर्मफलदाता कहा गया है।

ईश्वर-विचार भारतीय दर्शन में दो मुख्य समस्याओं के समाधान के लिए काम में लाये गये हैं।

क्या विश्व यादृच्छिक अथवा आकस्मिक है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं, या विश्व का भी उद्देश्य है, जिसे किसी विधाता ने निश्चित किया है ? ईश्वरवादी समझते हैं कि विश्व-व्यवस्था के देखने से, इसमें साधन-साध्य का सम्बन्ध प्राप्त करने से ईश्वर की न्यायसंगत कल्पना की जा सकती है। यदि मान भी लिया जाय कि दिक्-काल, आकाश तथा परमाणु हों, तो इन्हें कौन सुव्यस्थित करता है ? इन सब समस्याओं के समाधेयक (Solver) के रूप में ईश्वर की कल्पना की गयी है।

फिर क्या व्यक्ति अपना मोक्ष अपने से प्राप्त कर सकता है या ईश्वर को सहायक मान कर उसके अनुग्रह से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? यहाँ कर्मसंस्कार और पुरुषकार की समस्या उठती है और इसके समाधान के लिये भी ईश्वर की कल्पना की गयी है।

यदि इन दोनों रूपों में ईश्वर-विचार को रखा जाय, तो ईश्वर की कल्पना विशेष नहीं सिद्ध हो सकती है। यदि विश्व-सृष्टि अनादि हो, तो क्यों इसका अन्त माना जाय ? क्यों नहीं इसे प्रयोजन-हीन कालवादी, यदृच्छावादी तथा स्वभाववादी व्यवस्था कहा जाय ? फिर, यदि कर्म से ही बन्धन होता है और ज्ञान से जीव मुक्त होता है, तो ईश्वर का स्थान कहाँ आता है ? अधिक-से-अधिक ईश्वर को ज्ञान-प्राप्ति में सहायक माना जा सकता है और तब ईश्वर का स्थान गौण हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में ईश्वर-विचार प्रबल नहीं दिखाई देता है।

इस भूमिका के साथ षड्दर्शन के विशेषकर सूत्ररूप में ईश्वर के स्थान को निश्चित किया जा सकता है।

सांख्यदर्शन :

सांख्यदर्शन के संस्थापक कपिल मुनि माने जाते हैं, जिन्हें लोगों ने भगवान्-स्वरूप आदिविद्वान् माना है। सांख्यदर्शन बड़ा प्राचीन है। उपनिषदों में, गीता में तथा साहित्य में सांख्यदर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसके अनुसार दो ही परम सत्तायें हैं : प्रकृति और पुरुष। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से निर्मित चैतन्यशून्य जड सत्ता है और पुरुष शब्द चैतन्य है। पुरुष के बिना अथवा उससे स्वतन्त्र प्रकृति सत्त्व,

रजस् और तमस् के तीनों गुणों की सन्तुलित अवस्था में निष्क्रिय रहती है, परन्तु पुरुष के संयोग में आने पर इस समतोल में विकृति उत्पन्न हो जाती है और क्रमशः विश्व-विकास प्रारम्भ हो जाता है। पुरुष निष्क्रिय रहता है और सभी विश्व-प्रक्रियायें प्रकृति से ही संचालित होती हैं। इसी धारणा को थोड़ा संशोधन कर वेदान्त-दर्शन की स्थापना की गयी है। वेदान्त के अनुसार स्वयं निर्गुण ब्रह्म सभी परिवर्तनों से परे और अतीत होता है, और माया ही ब्रह्म की कार्यशक्ति है। (अतः, सांख्य की लज्जावती प्रकृति माया का रूप धारण कर लेती है और अनेक पुरुषों के स्थान में शुद्ध चित् के रूप में निर्गुण ब्रह्म हो जाता है) यदि वेदान्त को इस प्रकार से सांख्य-दर्शन का संशोधित रूप माना जाय, तो सांख्य की महत्ता आसानी से आँकी जा सकती है। फिर, विवेक-ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर, सांख्य के अनुसार, पुरुष अपने को अकर्त्ता मानकर तथा मनस्, बुद्धि इत्यादि से अपने को एकदम भिन्न जानकर सभी वासनाओं और शारीरिक भावों से उन्मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर व्यावहारिक जगत् की सभी प्रक्रियाओं से मुक्त होकर जीव अपने निजी ब्रह्मरूप को प्राप्त करता है। अतः, सांख्य-दर्शन को भारतीय दर्शन का मूलदर्शन समझा जा सकता है। इसकी प्राचीनता, निरीश्वर-वादिता, मुक्ति-केन्द्रिता तथा प्रकृतिवाद को देखकर डॉ० आर० एन० दाण्डेकर^१ के साथ कहना पड़ता है कि सांख्यदर्शन में प्राग्वैदिकता एवं अनार्यता का विचार-कलाप देखा जाता है।

सांख्य सत्कार्यवाद को स्वीकारता है। इसके अनुसार कार्यकारण में पहले से ही निहित रहता है। यह विश्व जड है और कार्य है। इसलिये इसका कारण भी जड प्रकृति मानी जायगी, अर्थात् विश्व का विधान चैतन्यशून्य कारणों से संचालित होता है। अतः, ऐसी अवस्था में आत्म-सृष्टि की व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। फिर, बताया जाता है कि निजी रूप में प्रकृति रजस्, तमस् तथा सत्त्व गुणों की साम्यावस्था में रहती है। परन्तु, पुरुष के संयोग में आने पर इस प्रकृति की

१. R. N. Dandekar, ABOR I. 1968, Jubilee Volume, p. 444.

साम्यावस्था में विकृति उत्पन्न होकर सृष्टि-विकास उत्पन्न हो जाता है। अतः, न तो सृष्टि-रचना में और न सृष्टि के संचालन में पुरुष-प्रकृति के अतिरिक्त सिद्धान्ततः ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है।

यही बात विवेक-ज्ञान और सृष्टि-विलयन में भी लागू होती है। जबतक जीव अज्ञान के कारण शरीर से आत्मसात् कर लेता है और आत्मसात् करने के फलस्वरूप शारीरिक सुख-दुःख को अज्ञानवश अपना (अर्थात्, अपनी आत्मा का) सुख-दुःख समझने लगता है, तबतक जीव बन्धन में पड़ा होता है। जैसे ही जीव को शरीर, ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि का सही ज्ञान हो जाता है, उसी क्षण जीव शरीर के सभी दुःख-कष्ट से विमुक्त हो जाता है। उसी क्षण प्रकृति इस विश्व के रंगमंच को उस नर्तकी के समान छोड़ देती है, जो दर्शक को (जीव को) अपने नग्न शरीर का दर्शन करा लेने पर लज्जावश अन्तर्धान हो जाती है। यह है जगत् का प्रलय और जीव का अपवर्ग या मोक्ष। परन्तु, प्रश्न हो सकता है कि प्रकृति एकदम अचेतन है, तब क्यों सत्त्वगुण की प्रधानता की ओर प्रयास कर बुद्धि को विमल बनाकर जीवों के लिए विवेक-ज्ञान के हेतु प्रकृति प्रयास करती है? इस जड़ प्रकृति में उद्देश्य-पूर्णता कैसे स्पष्ट की जा सकती है? यहाँ सांख्य अचेतन प्रयोजनवाद को अपनाते हैं। जिस प्रकार गाय से बछड़े के लिए दूध निकलने की प्रक्रिया अचेतन रूप से सम्पादित होती है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति जीवों के विमोक्ष के लिये प्रयत्न करती है। अतः, प्रकृति की कार्यवाही में भी अचेतन, परन्तु प्रयोजनपूर्ण क्रिया देखी जाती है। इसलिये, यहाँ भी सांख्य में यान्त्रिकवाद ही देखने में आता है। मोक्ष-ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी जीव को अभ्यास करना पड़ता है—‘मैं नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है’ इत्यादि। इस प्रकार के निरन्तर ध्यान करने के फलस्वरूप जीव शुद्ध पुरुष के रूप में केवल साक्षी हो जाता है, और फिर शारीरिक भोग-क्रियाओं को अपनी आत्मा से पृथक् और अन्य समझ कर मुक्त हो जाता है। अतः, न तो सृष्टि, न तो प्रलय और न मुक्ति के लिये सांख्य-दर्शन में कहीं भी सिद्धान्ततः ईश्वर का कोई स्थान पाया जाता है। यही कारण है कि हिरियाणा ने बताया है कि सूत्ररूप में सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है;

१. M. Hiriyanna, *The Samkhya, The Cultural Heritage of India*, Vol. III, p. 50.

क्योंकि वाचस्पतिमिश्र ने, जो स्वयं ईश्वरवादी थे, सांख्य पर टीका लिखते हुए सांख्य को निरीश्वरवादी माना है ।

सांख्य के अनुसार, अचेतन रहते हुए भी प्रकृति पुरुष की विमुक्ति के लिये उसी प्रकार प्रयत्नशील रहती है, जिस प्रकार बछड़े की विवृद्धि के लिये दुग्ध-प्रक्रिया सम्पादित होती है ।

सांख्यकारिका के ५७वें सूत्र की व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने पूछा—क्या कहा जा सकता है कि अन्तिम रूप में ईश्वर ने ही ऐसी व्यवस्था की है कि अचेतन दुग्ध-प्रक्रिया से बछड़ा पले तथा अचेतन प्रकृति के संचालन से जीव को मुक्तिज्ञान प्राप्त हो ? अब यदि ईश्वर का हाथ प्रकृति के संचालन में हो, तो यह चेतन होगा और चेतन प्रक्रिया में किसी उद्देश्य को रहना चाहिये । यहाँ दो ईश्वर के उद्देश्य बताये जा सकते हैं । या तो स्वयं ईश्वर का ही कोई निजी उद्देश्य होगा या उसने जीव के प्रति दया-दृष्टि से द्रवित होकर इस विश्व-व्यवस्था को उत्पन्न किया होगा । चूँकि, ईश्वर अपने में पूर्ण है, इसलिये स्वयं ईश्वर में ही कोई निहित उद्देश्य नहीं है, जिसकी पूर्ति के लिये विश्व-सृष्टि की जा सकती है । न जीवों के ही लिये सृष्टि की आवश्यकता है; क्योंकि सृष्टि के बाद ही जीव बद्ध हो जाते हैं और सृष्टि के पूर्व बद्ध जीवों की बात ही नहीं उठती है, तो उनके प्रति दया-दृष्टि का रहना भी अयुक्तिसंगत है ।

अतः, वाचस्पति के अनुसार, सांख्य-दर्शन की मान्यता को आधारभूमि में निरीश्वरवाद को ही युक्तिसंगत माना जा सकता है, अर्थात् प्रकृति द्वारा सृष्टि, जीवों के द्वारा अपने ही प्रयास से अपवर्ग-प्राप्ति और अन्त में विवेकज्ञान के फलस्वरूप प्रलय । चूँकि अचेतन प्रकृति की सभी प्रक्रियायें पुरुष के ही संयोग से आरम्भ होकर संचालित होती हैं, इसलिए, सृष्टि के अचेतन रहने पर भी पुरुष की मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त सृष्टि का संचालन होना संगत मालूम देता है ।

वाचस्पति की इस टीका को माधव ने भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में अपनाया है । बाद में चलकर विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-दर्शन को ईश्वरवादी बनाने का प्रयास किया है । उन्होंने बताया है कि सांख्य ने ईश्वर के अस्तित्व को असिद्ध माना

है, न कि ईश्वर का अभाव सिद्ध किया है। परन्तु, ईश्वर के अस्तित्व में दिये गये प्रमाणों को अयुक्ति-सगत मानना और फिर ईश्वर का अभाव मानना तर्क-बौद्धिक रीति से एक ही है। वास्तव में, विज्ञानभिक्षु का सुझाव समुचित नहीं है। सूत्ररूप में सांख्य-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व में दिये गये प्रमाणों का कहीं खण्डन नहीं किया गया है, ईश्वर की कल्पना को ही अनावश्यक सिद्ध कर दिया गया है। सांख्य-दर्शन में दिखाया गया है कि बिना ईश्वर-चर्चा के सम्पूर्ण विश्व और मानव-मुक्ति की बात की जा सकती है यहाँ ईश्वर को असिद्ध नहीं, वरन् ईश्वर की पूर्णउपेक्षा की गयी है। अतः, हम इस निष्कर्ष को अपना सकते हैं कि मूल रूप में सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है।

योग-दर्शन :

सांख्य-योगदर्शन को एक साथ वर्णित किया जाता है; क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों द्वातवादी दर्शनों का तत्त्वमीमांसात्मक पक्ष सांख्य में और व्यावहारिक पक्ष योगदर्शन में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि योग भारतीय संस्कृति की मुख्य मनोवैज्ञानिक देन है और इसे अतार्य उत्स का माना जाता है, जिसे बुद्ध भगवान् ने निर्वाण-प्राप्ति-मार्ग में विशेष रूप से व्यवस्थित किया था। इस समसामयिक काल में योग लगभग सभी दार्शनिक धाराओं का व्यावहारिक रूप माना जाता है। योग-दर्शन के प्रणेता पतंजलि मुनि माने जाते हैं। परन्तु, योग के प्राचीन इतिहास को देखते हुए पतंजलि को योग का मात्र सम्पादक अथवा संकलनकर्ता ही समझना सही कहलायेगा।

सांख्य के अनुसार, प्रकृति-पुरुष के पृथक्त्व की जबतक विवेक-ख्याति न हो जाय, तबतक अपवर्ग, अर्थात् कैवल्य (केवलपन)-प्राप्ति नहीं हो सकती है। जीव को, प्रकृति तथा शरीर से अपने को एकदम भिन्न समझकर अपने अकेलेपन को प्राप्त कर लेना चाहिये। इस दिशा में ध्यान के प्रति भी थोड़ा संकेत मिलता है। सांख्यकारिका के ६४वें सूत्र में लिखा हुआ है :

एवन्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धकेवलमुत्पद्यते

ज्ञानम् ॥

‘मैं नहीं हूँ और न मेरा कुछ है’ इसपर अभ्यास करते रहने पर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेने से कैवल्य प्राप्त हो जाता है। अब इसी विवेकख्याति को निश्चित रीति से प्राप्त करने के लिये योग की स्थापना की गयी है।

योग की परिभाषा देते हुए योगसूत्र १:२ में कहा गया है कि चित्तवृत्ति-निरोध को योग समझना चाहिये। साधारण शब्दों में बताया जा सकता है कि चित्त की सभी वृत्तियों का निरसन करने पर ही योग की कैवल्य-अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसका कारण है कि सामान्य रूप से हमारी मानसिक प्रक्रियाओं का सम्बन्ध बाह्य और शारीरिक वस्तुओं से रहता है, जिन्हें सांख्य-योगदर्शन के अनुसार पुरुष से भिन्न और पृथक् मानना चाहिये। अतः, पुरुषत्व को प्राप्त करने के लिये इन सब मानसिक वृत्तियों का निरोध क्रमिक रूप में ही हो सकता है। इसी क्रम में उपनिषदों और वेदान्त में भी बताया गया है कि आत्मा को अन्नमय, प्राणमय इत्यादि रूप में नहीं स्वीकारना चाहिए।

सर्वप्रथम, योगी को, ज्ञानेन्द्रियों को अपनी नहीं मानना चाहिये। जब उसको इसका अभ्यास हो जाय, तब मानसिक प्रक्रियाओं को भी अपना नहीं समझना चाहिये। तीसरी अवस्था में अहंकार को भी अपना नहीं मानना चाहिये और इसी प्रकार ध्यान में अभ्यस्त होकर महत् अथवा बुद्धि से भी जीव को अपना पृथक्त्व-लाभ करना चाहिये। ऐसा ही योगी अन्त में शुद्ध साक्षिन् बनकर कैवल्य-पद को प्राप्त करता है। अतः, योग एक मनोवैज्ञानिक विधि है, जिसके आधार पर जीव सांख्य के निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। अब चूँकि सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, इसलिए, योग-क्रिया के अपनाने पर तो सांख्य-दर्शन के निरीश्वरवाद में किसी प्रकार का संशोधन नहीं चला आता है। इसके विपरीत योगक्रिया के द्वारा कैवल्य-ज्ञानप्राप्ति को निरीश्वरवादी मानवतावाद के रूप में देखा जा सकता है। बौद्ध-जैनदर्शन में इसी योगक्रिया के द्वारा बताया जाता है कि मानव बिना किसी पारलौकिक सत्ता के अपना निर्वाण-मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर, पतंजलि के योगदर्शन में भी ईश्वर को बाह्यारोपित किया गया है।

स्वयं ईश्वर योग-क्रिया के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता है। योग-क्रिया को पूर्ण करने के लिये ईश्वर-भक्ति की बात कही गयी है। योग के आठ मार्ग बताये गये हैं : १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। यम पाँच हैं, और नियम भी पाँच हैं। यम-नियमादि को योग के अंग या सहायक बताया गया है। यम में

पंचमहाव्रत का उल्लेख किया गया है, और नियम के अन्तर्गत गिना गया है—
 (क) शौच, (ख) सन्तोष, (ग) तपस्, (घ) स्वाध्याय और (ङ) ईश्वर-प्रणिधान,
 अर्थात् ईश्वर की भक्ति और ईश्वर को, अपने को अर्पण करना। ईश्वर-
 प्रणिधान को योगप्राप्ति, अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध का सहायक अंग माना
 गया है। योगसूत्र में पतंजलि ने 'ईश्वर-प्रणिधान' को चार स्थलों पर व्यवहार
 किया है : १ : २३, २ : १, २ : ३२ और २ : ४५। इसे दो विशेष अर्थों में
 प्रयुक्त किया गया है—ईश्वर-भक्ति और ईश्वर को अपने सभी कार्यों को
 अर्पित कर देना। इन दोनों अर्थों में ईश्वर-भक्ति को आगे चलकर प्रयुक्त
 किया गया है। शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर-भक्ति को साधन माना गया है,
 और गीता में निष्काम कर्म को प्राप्त करने के लिये सभी कार्यों को ईश्वर को
 अर्पित करने का आदेश दिया गया है। अब जिस भी अर्थ में 'ईश्वर-प्रणिधान'
 को प्रयुक्त किया जाय, वह योगसाधना का आवश्यक अंग नहीं माना जा
 सकता है। योग-क्रिया का मुख्य उद्देश्य है कि सभी वृत्तियों चित्तवृत्तियों का
 शमन हो, अर्थात् शुद्ध चैतन्यपूर्ण पुरुष से सभी चित्तवृत्तियों को रिक्त किया
 जाय। इसमें ईश्वर-भक्ति को योग का साक्षात् विषय नहीं माना जा
 सकता है। अनासक्ति अवश्य चित्तवृत्ति-निरोध का अंग हो सकती है, और इस
 अर्थ में ईश्वर को सभी कार्यों को अर्पित करके जीव अनासक्त हो सकता है।
 परन्तु, इसे अन्य प्रकार के योग से स्वतन्त्र योग माना जायगा, जिसमें ईश्वर-
 प्राप्ति को चरम उद्देश्य मानकर अपने सभी कार्यों को ईश्वर के प्रति अर्पित
 किया जा सकता है। यह भक्ति-योग का मुख्य उद्देश्य माना जाता है, परन्तु
 इसे चित्तवृत्ति-निरोध नहीं कहा जायगा; क्योंकि ईश्वर-विचार, ईश्वर-कीर्तन
 आदि चित्त के अंग अक्षुण्ण रह जाते हैं। अतः, ईश्वर-प्रणिधान को सहायक
 साधन अवश्य माना जा सकता है। इस अर्थ में ईश्वर-प्रणिधान तीन रूप में
 सहायक सिद्ध हो सकता है।

१. ध्यान को एकाग्र तथा निरुद्ध करने के लिये क्षिप्त (चंचल वृत्ति),
 विक्षिप्त (वृत्ति-सन्तुष्टि से क्षणिक स्थिरता) तथा तमोगुणाश्रित मूढ़
 वृत्तियों से मुक्त होना चाहिये। इस एकाग्रता की प्राप्ति में, एकाग्रता के
 प्रथम चरण में ईश्वर-भक्ति से कम-से-कम एक विषय, अर्थात् सभी
 वस्तुओं से ध्यान हटाकर ईश्वर पर ध्यान को अविचल रूप से स्थिर
 किया जा सकता है। इस रूप में ध्यान-एकाग्रता की प्राप्ति में

- ईश्वर-प्रणिधान को एकाग्रता का प्रथम चरण माना जा सकता है। अतः, योगप्राप्ति के लिए यह प्राथमिक चरण माना जा सकता है।
२. फिर, चूँकि चित्त चंचल होता है, और चित्त को स्थिर करने के लिये किसी-न-किसी प्रतिमा पर चित्त को टिकाना पड़ता है, इसलिये, ईश्वर-प्रणिधान को निमित्तकर्म के रूप में काम में लाया जा सकता है।
३. चूँकि, ध्यान-प्रक्रिया बड़ी कठिन है, और योग-प्राप्ति भी दुस्साध्य है, इसलिये बिना ईश्वर के प्रसाद तथा अनुग्रह से योग सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वर के अनुग्रह का दान प्राप्त होता है, और योगी अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है।

परन्तु ईश्वर सहायक रूप में मानव का अन्तिम स्वलक्ष्य आराध्य देवता अथवा परम महत्त्व नहीं रहता है और इस रूप में ईश्वर को अपना स्थान नहीं मिलता है। फिर, यदि ईश्वर-प्रणिधान को सहायक भी माना जाय, तो इसे योग-क्रिया का सारभूत अंग नहीं समझना चाहिए; क्योंकि अन्त में चित्त-वृत्तिनिरोध ईश्वर-निरपेक्ष प्रक्रियाओं के आधार पर ही प्राप्त होता है। अतः, योगसिद्धि में ईश्वर-प्रणिधान बनावटी साधन माना जायगा। यदि ईश्वर-भक्ति को स्वतन्त्र मार्ग माना जाय, तो योगसिद्धि से इसका सम्बन्ध कुछ भी नहीं रह जायगा। अतः, हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि अध्याय १:२३-२६ तक के सूत्र बाहर से जोड़ दिये गये हैं और उन सूत्रों को हटा लेने पर योग-साधन-क्रियाओं के पाठ में कोई भी बाधा नहीं पड़ती है।^१ इस सन्दर्भ में गाबो ने सही कहा है कि योगसूत्र में ईश्वर-चर्चा प्रसंगविहीन है। वास्तव में देखा जाय, तो ईश्वर-प्रणिधान का ईश्वर न तो सृष्टिकर्त्ता ही है, न जगत् का पालक-संहारक है और न वह जीवों का कर्मफलदाता है। अतः, योग का ईश्वर वास्तव में भारतीय ईश्वरवादी का ईश्वर नहीं है। केवल बनावटी रूप से 'ईश्वर' शब्द को जोड़कर इसे लोकप्रिय बनाने का उपाय रचा गया है।^२

१. The Cultural Heritage of India, Vol. III, p. 87.

२. R. Garbe, Encyclopaedia of Religion and Ethics, XII, 831-2.

अतः, योगसूत्र का ईश्वर-विचार योगसिद्धि से परे है और इसलिये वस्तुतः योगसूत्र को भी निरीश्वरवादी कम-से-कम सिद्धान्ततः गिनना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन :

न्यायसूत्र के रचयिता गौतम और वैशेषिक-दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद गिने जाते हैं। महर्षि गौतम विहारी थे और शिव के पूजारी थे और इसी प्रकार महर्षि कणाद को पाशुपत कहा गया है।^१ अतः, इन दर्शनों में अनार्य निरीश्वरवाद का अंश होना स्वाभाविक समझा जायगा। न्यायदर्शन में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा और वैशेषिक-दर्शन में अनुभववादी तत्त्वमीमांसा की व्याख्या की गयी है, इसलिये ये दोनों दर्शन मिलकर एक ही अनुभववादी परम्परा को स्थिर करते हैं।

यह ठीक है कि भारतीय ईश्वरवादी परम्परा में न्याय-वैशेषिक-दर्शन को विशेष माना जाता है और इसी दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का विस्तारपूर्वक प्रमाण दिया गया है। उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन ईश्वरवादी क्यों न माना जाय, परन्तु सूत्ररूप अथवा मूलरूप (आदिकालीन) में न्याय-वैशेषिक-दर्शन मूलतः निरीश्वरवादी है। उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिये तीन मुख्य प्रमाण दिये जाते हैं :

१. ईश्वर परमात्मा है।
२. ईश्वर वेदों का रचयिता है।
३. ईश्वर सृष्टिकर्त्ता और जीवों का कर्मफलदाता है।

हम देखेंगे कि आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में इन तीनों बातों की उपेक्षा की गयी है।

सत्कारी मुखर्जी ने इस बात पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि गौतम के अनुसार निम्नलिखित १६ पदार्थों के ज्ञान से जीव निःश्रेयस् प्राप्त कर

१. Gopinath Kaviraj, *Aspects of Indian Thought*, The University of Burdwan, p. 73.

लेता है : (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१४) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रह-स्थान ।

परन्तु, इन विषयों में ईश्वर का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है, जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है ।^१ फिर, गौतम ने बताया है कि दुःख का कारण जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञान है । इसलिये, अपवर्ग-प्राप्ति के हेतु साधन-क्रम इस प्रकार बताया है । मिथ्याज्ञान को दूर करने के लिये दोषों को हटाना चाहिये; दोषों को हटाने के लिये प्रवृत्ति को दूर करना चाहिये और प्रवृत्तियों के विनाश के लिये जन्म की वासना का उच्छेद करना चाहिये । अतः, यहाँ बौद्ध मत के द्वादश निदान की पूर्वछाया या प्रतिच्छाया दिखायी देती है । इस क्रम के अनुसरण से अन्त में दुःख-विनाश अनायाम हो जाता है । अतः, यह मुक्ति यान्त्रिक रीति से या मानव के अपने प्रयास से प्राप्त की जाती है और यहाँ भी ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है ।

अपितु, सिद्धान्ततः न्यायसूत्र में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता है । इसका कारण है कि यदि स्वीकार किया जाय, कि उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जो प्रत्यक्ष का विषय है, तो ईश्वर अशरीरी और प्रत्यक्ष का विषय नहीं होने के कारण ज्ञान अथवा प्रमा का विषय नहीं हो सकता है । यह निष्कर्ष पाश्चात्य विचार के अनुभववादी ऐहिकतावाद से सिद्ध हो गया है । परन्तु, स्वयं न्यायसूत्र में भी यह निहित है । सर्वप्रथम, प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का आरम्भिक स्तम्भ माना गया है और फिर व्याप्ति-स्थापना में भी दृष्टान्त को मुख्य स्थान दिया गया है । अतः, यदि ईश्वर हो, तो वह या तो प्रत्यक्ष का विषय होगा या अनुमान का । परन्तु, इन दोनों में ही ईश्वर की साक्षात् अनुभूति की आवश्यकता हो जाती है और ईश्वर साक्षात् अनुभूति का विषय नहीं हो सकता है । अतः, अनुभववादी व्याख्या की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं आता है ।

१. S. Mookerjee, Nyaya-Vaisesika, The Cultural Heritage of India, Vol. III, p. 110.

फिर, चूँकि वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में परमाणु, आकाश, दिक्-काल तथा आत्मा को नित्य माना गया है, इसलिये ईश्वर को परमाणुओं का व्यवस्थापक ही माना जा सकता है। इस रूप में अधिक-से-अधिक ईश्वर को निमित्त-कारण माना जायगा, न कि एकमात्र परम सत्, जिसने शून्यतः सृष्टि की है।

उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में बताया गया है कि ईश्वर परमात्मा है, जो अन्य आत्माओं से भिन्न है और कहा जाता है कि गौतम के न्यायसूत्र में आत्मा में ही इस परमात्मा की भावना अन्तर्निहित है। परन्तु, जो कुछ महर्षि गौतम ने आत्मा के सम्बन्ध में कहा है, वह निर्विवाद रूप से साधारण आत्मा में ही लागू होता है, न कि परमात्मा के लिये। उन्होंने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को आत्मा का लक्ष्य अथवा सारगुण माना है :

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम् ।

(न्या०, सू० १।१।१०)

क्या सुख-दुःख को ईश्वर का सारलक्षण कहा जा सकता है? क्या ईश्वर में किसी बात की कमी होती है कि उसे प्राप्त करने के लिये उसे इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता होती है? इसलिये, आत्मा के अन्तर्गत ईश्वर-प्रत्यय अथवा परमात्मा की भावना निहित नहीं है। फिर, यह भी बात नहीं है कि गौतम को 'ईश्वर-प्रत्यय' का भान नहीं था। गौतम ने ईश्वर-भावना को ४।१।१६-२, तीन सूत्रों में प्रयुक्त किया है। कुछ टीकाकारों का कहना है कि ये सूत्र ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं और अन्य टीकाकारों का कहना है कि इन सूत्रों से ईश्वर का अस्तित्व खण्डित होता है। इन सूत्रों की चर्चा बाद में की जायगी। परन्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि गौतम ने आत्मा और परमात्मा का भेद बताकर परमात्मा के अस्तित्व में कुछ भी युक्तियाँ प्रस्तुत नहीं की हैं। सम्भवतः गौतम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये इच्छुक नहीं थे।

प्रायः ईश्वर को वेद का रचयिता स्वीकार किया जाता है, और इससे ईश्वर का भी अस्तित्व सिद्ध किया जाता है, अर्थात् बताया जाता है कि ईश्वर है; क्योंकि ऐसा वेदों में लिखा है और वेद को इसलिये प्रमाण माना जाता है कि ईश्वर-प्रदत्त है। यह भी कहा जाता है कि इसमें चक्रानुमान अथवा अन्योन्याश्रयी दोष नहीं है। ज्ञान-दृष्टि से प्रथम वेद आता है, परन्तु

तत्त्वदृष्टि से ईश्वर ही भादि आधार है। परन्तु, न्याय-वैशेषिकसूत्रों में कहीं भी न तो वेद को अपौरुषेय कहा गया है, और न इसे ईश्वर-प्रदत्त कहा गया है। जिस प्रकार मन्त्रशास्त्र तथा आयुर्वेद के वचन को आप्तवचन कहा जा सकता है, उसी प्रकार वेद-वचन को भी आप्तवचन स्वीकारा जा सकता है।

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।

(न्या० सू०, २।१।६८)

दूसरे शब्दों में वेद के रचयिता ऋषि-मुनि हैं, न कि ईश्वर। इसी प्रकार से वैशेषिकसूत्र (२।१।१८) में बताया गया है कि वेदों को अति विद्वान् पुरुषों ने रचा है, जिन्हें अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान था और फिर इसी प्रकार ४।५।१-४ में बताया गया है कि वेदों को उन मनीषियों ने रचा है, जिन्हें सभी तथ्यों का वास्तविक ज्ञान था। अतः, न्याय-वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व को वेदों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है; क्योंकि वेदों को न तो अपौरुषेय माना जा सकता है, और न ईश्वर-प्रणीत समझा जा सकता है। इसलिए, प्रारम्भकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया है।

अब यहाँ न्यायसूत्र के उन तीन सूत्रों (४।१।१९-२३) का उल्लेख किया जायगा, जिसके आधार पर उत्तरकालीन नैयायिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफल्यदर्शनात् । (४।१।१९)

जीवों के कर्मों को फलहीन देखने पर ईश्वर को (सभी घटनाओं का) कारण मानना चाहिये।

न, पुरुषकर्मभावे फलनिष्पत्तेः । (४।१।२०)

ऐसा नहीं; क्योंकि बिना जीवों के कर्म के अभाव में फल नहीं होता है।

तत्कारित्वादहेतुः । (४।१।२१)

आपत्ति व्यर्थ (अर्थात्, अहेतुक) है; क्योंकि (कारित्व) कर्मफल ईश्वर द्वारा उत्पन्न होता है।

अब इन तीनों सूत्रों का निश्चित अर्थ लगाना बहुत ही कठिन बात है। ईश्वरवादी का अर्थनिरूपण इस प्रकार है :

१. बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जैसा मानव अपने कर्मों के फल को प्राप्त करना चाहता है, वैसा नहीं होता है। उदाहरणार्थ, अप्रैल-मई में मकई की खेती की और मकई काटने के पहले बाढ़ आ गयी। अतः, मानव अपने ही प्रयास से अपने कर्मों के फल को नहीं भोग पाता है।

२. यह भी ठीक है कि बिना मानव-प्रयास के फल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, बिना खेती किये अन्न नहीं उत्पन्न होता है।

३. अतः, मानव-प्रयास के साथ ईश्वर के अनुग्रह के रहने पर कर्मफल प्राप्त होता है। इस अर्थ में ईश्वर सर्वोपरि कर्मफलदाता अथवा अधिष्ठाता है और वह सभी माचवों के सम्पूर्ण संस्कारों का नियन्त्रक है। इस रूप में ईश्वर आदि-अन्तिम कारण है।

अनीश्वरवादी व्याख्या :

१. मानव अपने ही प्रयास से कर्मफल नहीं प्राप्त कर सकता है। इसलिये, अन्तिम रूप में ईश्वर ही को कर्मफलदाता मानना चाहिये।

२. ईश्वर को कर्मफलदाता नहीं मानना चाहिये; क्योंकि बिना मानव-कर्म के फल नहीं होता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ फल देखने में आता है, वहाँ-वहाँ मानव-कर्म भी देखने में आता है। अतः, कर्मफल केवल मानव-कर्म से ही प्राप्त हो सकते हैं।

३. परन्तु, यदि मानव-कर्म को केवल अवसर-मात्र माना जाय और ईश्वर को ही निरपेक्ष, परम और अन्तिम कारण माना जाय, तो इसका कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता है। यहाँ (४।१।२१) का अनुवाद होगा; क्योंकि ईश्वर के द्वारा कारित्व का (अर्थात्, सभी घटनाओं तथा कर्म किये जाने के कार्य रूप का) कोई प्रमाण नहीं (अहेतु) है।

ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी व्याख्याओं में निर्णय करना कठिन है। आगे चलकर नैयायिकों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में दी गयी युक्तियों से उनके सूक्ष्म विश्लेषण तथा बाल की खाल निकालने का उदाहरण हमें प्राप्त

होगा, परन्तु यहाँ सत्कारी मुखर्जी का निष्कर्ष उल्लेखनीय है। इस विद्वान् आलोचक का कहना है कि गौतम के न्यायदर्शन में ईश्वर-प्रत्यय आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। यही कारण है कि ईश्वर-प्रमाण के अन्तिम चरण (४।१।२१) को गुप्त रूप से बुझावल में प्रयुक्त किया गया है। फिर, सत्कारी मुखर्जी का कहना है कि सृष्टि के उत्स के सन्दर्भ में गौतम ने ईश्वर के प्रसंग को बिना ईश्वरवादी उद्देश्य को ध्यान में रखकर ऐसे ही छोड़ दिया है।^१

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सूत्ररूप आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। न तो ईश्वर को परमात्मा माना गया है और न सूत्रों में ईश्वर को वेदों का रचयिता कहा गया है। जो कुछ भी उत्तरकालीन न्यायसूत्र में ईश्वर-सम्बन्धी युक्ति समझी जा सकती है, उसे आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में संशय से खाली नहीं माना जा सकता है।

जिस प्रकार से सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक-दर्शनों के आदिसूत्र में निरीश्वरवाद पाया जाता है, उसी प्रकार जैमिनि के मीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवादी विचार अपेक्षाकृत उग्र रूप में देखा जाता है।

पूर्वमीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवाद :

पहले ही बता दिया गया है कि निरीश्वरवाद कई प्रकार के होते हैं। सर्व-प्रथम, निरीश्वरवाद् ईश्वरवाद के समान तत्त्वमीमांसात्मक होता है। परन्तु, तत्त्व-मीमांसात्मक निरीश्वरवाद को उग्र निरीश्वरवाद नहीं कहा जायगा; क्योंकि इसमें समझा जाता है कि ईश्वर के अनस्तित्व में युक्तिपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फिर, तत्त्वमीमांसक निरीश्वरवादी असाक्षात् रीति से ईश्वर के विषय में चिन्तन करता है। ऐसे निरीश्वरवादी के लिये ईश्वर संलग्नता का विषय होता है और इस रूप में निरीश्वरवादी ईश्वर के प्रति जागरूक और चिन्तनशील रहा करता है। पुनः, वह ईश्वर को संज्ञान का अथवा दार्शनिक चिन्तन का सार्थक विषय मानता है। इसके विपरीत दार्शनिक विश्लेषण अथवा समसामयिक अनुभववाद के अन्तर्गत निरीश्वरवाद को उग्रवादी कहा जाता है। इसका कारण है कि विश्लेषणवादी के लिये 'ईश्वर' निरर्थक विषय है। ऐसी

१. वही, पृ० १११-११२।

अवस्था में ईश्वर के अनस्तित्व के लिये युक्ति प्रस्तुत करना उतना ही निरर्थक प्रयास है, जितना ईश्वर के अस्तित्व के लिये तर्क प्रस्तुत करना निरर्थक प्रयास है। अतः, ईश्वर के विषय में कोई भी चर्चा करना सम्पूर्णतया अर्थहीन प्रयास है। परन्तु धार्मिक निरीश्वरवाद, जिसमें ईश्वर के प्रति तटस्थता अपनायी जाती है, विश्लेषणवादी निरीश्वरवाद की तुलना में उग्रतर कही जायगी। इसका कारण है कि दार्शनिक विवेचन शुष्क हुआ करता है। सम्पूर्णतया तटस्थ रहकर ही विचारक ईश्वर तथा किसी भी विषय का चिन्तन करता है। इसकी अपेक्षा धर्म मानव की सर्वांगपूर्ण तथा सर्वसमावेशी प्रक्रिया होती है और इसमें धार्मिक व्यक्ति की पूर्ण तन्मयता तथा संलग्नता रहती है। इस रूप में ईश्वरवादी ईश्वर को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ, अर्थात् मनसा, वाचा और कर्मणा स्वीकार कर अपने को उसपर अर्पित कर देता है। परन्तु, यदि व्यक्ति धार्मिक स्तर पर भी ईश्वर को नहीं स्वीकार करे, तो वह ईश्वर के अनस्तित्व के लिये तर्क नहीं प्रस्तुत करेगा; न वह ईश्वर-प्रत्यय को ही अर्थहीन सिद्ध करने का प्रयास करेगा। वह ईश्वर के प्रति तटस्थ और उदासीन रहेगा। ऐसे निरीश्वरवादी के लिये ईश्वर किसी भी सोच-विचार तथा कल्पना का विषय नहीं होता है। धार्मिक निरीश्वरवाद में ईश्वर व्यक्ति के ज्ञान, संकल्प तथा भाव का कोई भी विषय नहीं होता है। यह बात बुद्ध भगवान् के विषय में कही जा सकती है और यही बात पूर्वमीमांसा के प्रसंग में भी कही जा सकती है। अतः ईश्वर के प्रति तटस्थता को उग्र निरीश्वरवाद कहा जायगा और मीमांसा में ईश्वर के प्रति तटस्थता अपनाने में ये निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाता है। परन्तु, मीमांसा के अनुसार सृष्टि को अनादि और अनन्त माना गया है। अतः, तर्कतः मीमांसा में सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता ही नहीं उठती है और इसलिये, सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को अनावश्यक समझा जाता है। द्वितीय, न्याय में वेद को 'पौरुषेय' कहा गया है और उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में बताया गया है कि ईश्वर ही वह पुरुष है, जिसने वेद की रचना की है। परन्तु, मीमांसा में वेद को 'अपौरुषेय' कहा गया है और बताया गया है कि वेद स्वयं अनादि और अनन्त हैं और किसी भी ऐसे व्यक्ति के विषय में यह नहीं कहा गया है कि उसने वेदों की रचना की है। यदि वेद 'अपौरुषेय' हो, तो

वेद-रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकारना प्रसंगहीन है। फिर, ईश्वरवादी ईश्वर को कर्मफलता अथवा जगन्नियन्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मीमांसा में अदृष्ट अथवा अपूर्व के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। अपूर्व सिद्धान्त के अनुसार कर्म और फल के बीच नित्य और अटूट सम्बन्ध है और कर्म से फल बिना किसी अपवाद के अपनी ही कर्मशक्ति से उत्पन्न होते हैं। इस कर्म और फल के बीच किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती है। ईश्वर के अनुग्रह से भी दुष्टकर्म का फल मिटाया नहीं जा सकता है। अतः, इस कर्मवादी यन्त्रवाद में ईश्वर अथवा किसी भी पारलौकिक शक्ति की आवश्यकता नहीं अनुभूत की जा सकती है। ये ही कारण हैं, जिनके आधार पर मीमांसा में ईश्वर को अनावश्यक माना गया है।

यहाँ एक बड़ी आपत्ति उठायी जा सकती है। मीमांसा में वेदों को सर्वोच्च सत्ता स्वीकारा जाता है और वेदों में ईश्वर-तुल्य इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुति की जाती है। तो क्या प्रजापति, विश्वकर्मा आदि देवताओं के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा जाता है? मीमांसक देवी-देवताओं को काल्पनिक मानते हैं, या उन्हें दन्तकथा के रूप में समझते हैं। वे देवताओं के देवत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। तो प्रश्न हो सकता है कि स्वतःप्रमाण वेद में देवताओं की चर्चा क्यों की गई? क्यों कहा गया है कि देवताओं को हवि तथा यज्ञ अर्पित किया जाता है? इस स्थल पर मीमांसक का मत उल्लेखनीय है। मीमांसा कर्मकाण्डी दर्शन है। इसके अनुसार, विहित मन्त्रों के अनुष्ठान से इष्ट फल अवश्य ही प्राप्त होगा। इसलिये, देवताओं का आह्वान इसीलिये किया जाता है, ताकि इन्हें क्रिया-कर्म करने का अवसर-मात्र माना जाय। देवता वास्तव में केवल शब्द-मात्र हैं और इनसे किसी प्रकार की सत्ता का भान नहीं होता है। देवता न तो कर्म का फल रोक सकते और न फल को विकृत कर सकते हैं। तो भी यहाँ कहा जा सकता है कि यदि देवता काल्पनिक हैं और यज्ञकर्म में इनका कोई हाथ नहीं रहता है, तो इनका आह्वान क्यों किया जाता है और इनका नाम ही क्यों लिया जाता है? इसके प्रत्युत्तर में मीमांसा का कहना है कि मन्त्रों को प्रशस्ति-वाक्य के रूप में ही देवताओं का नाम लिया जाता है। वास्तव में मन्त्रों की, न कि देवताओं की स्तुति की जाती है। इसके साथ-साथ मीमांसकों का कहना है कि मन्त्रों के अनुसार कर्मविधि में मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा प्राप्त करने के लिये ही देवताओं

का नाम लिया जाता है। यह बड़ी उल्लेखनीय बात है। आर० वी० ब्रेथवेट के अनुसार धार्मिक अभिकथनों का अर्थ कार्यनीति ही है, परन्तु इसे कार्यान्वित करने के लिये ईश्वर-रूपी देवकथाओं की आवश्यकता इसलिये होती है कि इन कथाओं के सुनने अथवा इनकी दुहाई देने से कार्य-नीति को सम्पादित करने में मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। इसी प्रकार की बात देवता-स्तुति को मन्त्र-प्रशस्तिवाक्य मानने में दिखाई देती है। न तो देवता वास्तविक हैं और न उनकी कथायें ही ऐतिहासिक घटनायें हैं, परन्तु उनके नाम लेने तथा उनकी कथाओं के द्वारा मन्त्र की प्रशस्ति होती है, अर्थात् उनके अनुसार कर्म-विधि में मनोबल प्राप्त होता है।

मीमांसक केवल ईश्वर के प्रति तटस्थ ही नहीं रहे हैं, वरन् मीमांसा के प्रारम्भिक समालोचक शबर और कुमारिल भट्ट ने ईश्वर-विरोधी युक्तियों को कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किया है। यहाँ कुमारिल के द्वारा श्लोक-वाक्तिक के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व में प्रस्तुत तर्कों का सामान्य खण्डन उदाहरणार्थ दिया जा सकता है।

कुमारिल के अनुसार यदि मान लिया जाय कि सृष्टि एक कालिक क्रिया है, तो इससे बोध होता है कि किसी एक निश्चित कालविशेष में ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। परन्तु, सृष्टिकाल के पूर्व इस ईश्वर के विषय में किसी भी प्रकार की विश्वसनीय चर्चा नहीं की जा सकती है। सृष्टि के पहले, नासदीयसूक्त (ऋग्वेद, १० : १२९।५-७) के अनुसार, देवता भी इस भेद को नहीं जान सकते हैं; क्योंकि उनकी भी उत्पत्ति बाद में हुई। ऐसी स्थिति में, कुमारिलभट्ट के अनुसार, सृष्टि के पूर्व ईश्वर का कोई भी विश्वसनीय वर्णन नहीं दिया जा सकता है।

फिर, सृष्टिकर्त्ता या तो शरीरी होगा या अशरीरी। यदि सृष्टिकर्त्ता को शरीरी मान लिया जाय, तो शरीरी अनेक तत्त्वों (साधारणतया पंचतत्त्व) से बना माना जाता है। चूँकि शरीर संस्कृत अथवा यौगिक रचना है, इसलिये इसे नित्य नहीं कहा जायगा। अतः, शरीरी ईश्वर की शरीर-रचना की व्याख्या के लिये किसी अन्य शरीरी सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता होगी और द्वितीय सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि के लिये तृतीय स्रष्टा की आवश्यकता होगी और इस प्रकार से इसमें अपरिमित प्रतीपगमन, अर्थात् अनवस्था (Regressus

-ad infinitum) का दोष चला आयेगा। परन्तु, यदि ईश्वर शरीरी न हो और उसे शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो उसके सृष्टिकर्तृत्व में किस प्रकार का दोष आ सकता है ?

कुमारिलभट्ट के अनुसार बिना शरीर के वासनायें और किसी भी प्रकार का कृतिभाव नहीं उत्पन्न हो सकती हैं। अतः, अशरीरी ईश्वर को सृष्टि-रचना की भी कोई इच्छा नहीं उठ सकती है। इसलिये अशरीरी ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता है। अपितु पूर्ण ईश्वर को किस कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि की आवश्यकता पड़ गयी ? यदि ईश्वर को किसी बात की कमी होनी, तो उसे पूर्ण नहीं कहा जायगा और यदि वह पूर्ण हो तो, सृष्टि-रचना का उद्देश्य नहीं हो सकता है। इस स्थल पर बताया जाता है, कि ईश्वर अपनी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सृष्टि नहीं करता है। परन्तु जीवों के प्रति करुणा से द्रवित होकर सृष्टि करता है। परन्तु कुमारिल ईश्वरवादी के इस प्रत्युत्तर से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। कुमारिल का कहना है कि सृष्टि के पूर्व कोई जीव नहीं था,—न बद्ध, न मुक्त और न बन्धन-मुक्ति से परे किसी अन्य प्रकार का जीव था। तब अनुत्पन्न अथवा अवास्तविक जीवों के प्रति करुणा-भाव कैसा ? फिर, यदि पूर्वज्ञान से प्रभावित होकर, जीवों के प्रति करुणा से द्रवित होकर सृष्टि की रचना करते, तो वे इस विश्व को अशुभ क्यों बनाते ? उन्होंने आनन्दमय जीवों की सृष्टि शुभ विश्व में क्यों नहीं की ? यदि ईश्वरवादी इस आपत्ति का खण्डन करते हुए कहें कि बिना अशुभ के विश्व की सृष्टि नहीं हो सकती है; क्योंकि सृष्टि के साथ अपूर्णता और कमी आ ही जाती है। यहाँ कुमारिल पाश्चात्य विश्लेषणवादी फ्लू और मैकी' के समान कहते हैं कि यदि ईश्वर परम शुद्ध और सर्वशक्तिमान् है, तो उसके संकल्प के अनुसार घटना के होने में किस प्रकार की अड़चन हो सकती है ? अतः, सभी प्रकार के अशुभों से पूर्ण इस विश्व का सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं हो सकता है। परन्तु, क्या नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना अपनी कार्य-शक्ति (जिसको लीला की संज्ञा दी जाती है) के आधार पर की है ? 'लीला' का दो अर्थ हो सकता है, अर्थात् स्वलक्ष्य क्रीडा तथा रहस्यमय कृति। यदि लीला से

१. देखें, या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, अध्याय ५, पृ० १४१—१४८।

अभिप्राय क्रीडा हो, तो ईश्वर को अपूर्ण माना जायगा; क्योंकि क्रीडा की आवश्यकता को अनुभूत करनेवाले व्यक्ति को शान्त, पूर्ण तथा आत्माश्रयी नहीं माना जा सकता है। परन्तु यदि 'लीला' का अर्थ रहस्यमय कृति हो, तो ऐसी अवस्था में ईश्वर युक्ति का विषय नहीं होता और न दर्शन का।

अन्त में, प्रश्न किया जा सकता है। क्या ईश्वर ने विश्व की सृष्टि शून्य से की है, या पूर्वस्थित उपादानों से? यदि ईश्वर पूर्वस्थित सामग्रियों से इस विश्व की रचना करता है, तो वह विश्व का निमित्तकारण होकर पूर्वस्थित सामग्रियों से सीमित हो जाता है और यदि वह शून्यतः स्रष्टा होता है, तो इस वाक्यांश का क्या अभिप्राय हो सकता है? प्रायः ईश्वरवादी इस सन्दर्भ में बताते हैं कि ईश्वर अपने अन्दर की अन्तर्निहित शक्ति से उसी प्रकार शून्यतः सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार मकड़ा अपने अन्दर के स्राव से जाल रचता है। परन्तु, कुमारिल का कहना है कि मकड़े में अन्तर्निहित स्राव अन्त में देखा जाय, तो मकड़े द्वारा कीड़ों के खाने से उत्पन्न होता है। अन्तिम रूप स्राव बाह्य सामग्रियों पर आवृत रहता है। अतः, कुमारिल शून्यतः सृष्टि को नहीं स्वीकार करते हैं।

आगे चलकर भारतीय दर्शन में ईश्वरवादी युक्तियों की चर्चा तथा उनके खण्डन का उल्लेख विस्तारपूर्वक दिया जायगा। यहाँ इतना ही भर दिखाया गया है, कि भीमांसा-दर्शन में तर्कतः ईश्वर की आवश्यकता नहीं पायी जाती है और ईश्वर को अनावश्यक मानकर मीमांसा के प्रारम्भिक समालोचकों ने ईश्वर-विरोधी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। छः आस्तिक दर्शनों में से ५ दर्शनों के आदिकालीन चिन्तन में ईश्वर का स्थान नहीं पाया जाता है। क्या यही बात उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त में भी लागू होती है?

अद्वैत वेदान्त :

जिस प्रकार का निरीश्वरवादी सांख्य तथा मीमांसा में पाया जाता है, उस प्रकार का निरीश्वरवाद वेदान्त में नहीं पाया जाता है। परन्तु, वेदान्त में भी सिद्धान्ततः निरीश्वरवाद देखा जाता है। यदि ईश्वर वह पारलौकिक सत्ता माना जाय, जो परम सत्, सर्वज्ञ तथा सर्वतः शुभ है, तो

ईश्वर को अन्तिम सत्ता न स्वीकार करने पर इस प्रकार के ईश्वर को नकारने के बराबर ही माना जायगा। फिर, यदि ईश्वर उपास्य सत्ता हो, तो उसे अवश्य ही व्यक्तित्वपूर्ण माना जायगा। परन्तु, यदि ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता नकारी जाय, तो ईश्वर की उपास्यता समाप्त हो जायगी और ऐसी दशा में भी ईश्वर को नकारने के बराबर ही माना जायगा। तीसरी बात है कि ईश्वरवाद के लिये ईश्वर के अस्तित्व को युक्तिपूर्ण होना चाहिये। यदि ईश्वर बुद्धिगम्य न हो, तो वह आस्था का विषय होगा और आस्था के विषय को स्वतन्त्र सत्ता कहना कठिन है। परन्तु, इसकी चर्चा अभी आगे की जायगी। इतनी भूमिका के साथ वेदान्त-दर्शन में निरीश्वरवाद के स्थान को निश्चित किया जा सकता है।

वेदान्त न तो सरल है, और न अल्पकालीन दर्शन है। यह भारत का अतिसमाहत तथा गहन दर्शन है। जो यहाँ कहा जा रहा है, वह सम्पूर्णतया पर्याप्त नहीं कहा जायगा। परन्तु, तो भी हमारा अध्ययन भ्रामक नहीं कहा जायगा। यहाँ वेदान्त-दर्शन को निरीश्वरवादी दृष्टि से देखा जा रहा है।

वेदान्त की जड़ उपनिषदों में है, जिनमें ईश्वर को सृष्टिकर्ता तथा व्यक्तित्वपूर्ण भी माना गया है। साथ-ही-साथ स्वीकार किया गया है कि ईश्वर परम सत् निर्गुण और निराकार है। इन दोनों पक्षों को वेदान्त-दर्शन में पाया जाता है, किसी में ईश्वरवादी और किसी में निर्व्यक्तिक पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाता है। निर्गुणवादी परम्परा में शांकर अद्वैत को प्रमुख माना जाता है, और भक्ति-परम्परा में रामानुज के विशिष्टाद्वैत को विशेष स्थान दिया जाता है। चाहे शांकर अद्वैतवाद हो, चाहे रामानुजी विशिष्टाद्वैत हो, दोनों में स्वीकार किया जाता है कि ईश्वर तर्कबुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त किया जाता है। दोनों परम्पराओं के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व श्रुतिसिद्ध माना जाता है। अतः, ईश्वर आस्था का विषय कहा जायगा, न कि युक्ति का। परन्तु, यदि किसी को ईश्वर में तथा श्रुति में आस्था न हो, तब ऐसी दशा में ईश्वर के अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकारा जायगा? इस सन्दर्भ में वेदान्तियों ने हमारे सामने सुझाव प्रस्तुत नहीं किया है। इनके अनुसार प्रत्येक उद्बुद्ध मानव में अन्तःप्रेरणा होती है जिसके आधार पर वह अपनी अन्तिम सत्ता को प्राप्त करने के लिये बेचैन हो

जाता है, और ऐसी अवस्था में ईश्वर आस्था का विषय होगा। परन्तु, बौद्धों और जैनों का क्या होगा, जिन्हें ईश्वर के प्रति कोई आस्था नहीं होती है? वेदान्ती जैनों और बौद्धों की भर्त्सना कर सकते हैं, परन्तु इस युग में दार्शनिक जैनों और बौद्धों को भी मुमुक्षु कहेंगे और उनकी निःश्रेयस्-प्राप्ति के प्रयास की प्रशंसा ही करेंगे। फिर, यह प्रश्न समसामयिक काल का भी है। इस वैज्ञानिक युग में पाश्चात्य व्यक्तियों को किसी भी आधिदैविक अथवा पारलौकिक सत्ता में आस्था होना कठिन हो गया है। ऐसी अवस्था में उन्हें अज्ञानी कहकर उनकी समस्याओं का समाधान न करना दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुचित समझा जायगा। अतः, आस्था के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारना तर्कसंगत नहीं कहा जायगा। ऐसी अवस्था में इतना ही भर कहा जा सकता है कि आस्था के सभी विषय सापेक्ष हैं। जो एक व्यक्ति का आस्था-विषय है, वह सम्भवतः अन्य व्यक्तियों के लिये मान्य और उपयोगी न हो। शांकर अद्वैत वेदान्त में बहुत दूर तक सापेक्षता-सिद्धान्त को अपनाया गया है, परन्तु इस सापेक्षता-सिद्धान्त को स्वयं निरपेक्ष सत्ता परमब्रह्म के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु, जहाँ आस्था को स्वीकार किया जायगा, वहाँ सापेक्षता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को एकमात्र, अनन्य परम सत्ता समझना न्यायसंगत नहीं ठहरेगा। अतः, आस्था-सिद्धान्त में ईश्वर की अनन्यता तथा उसके परम सत् में बड़ा लग जाता है और इस रूप में वेदान्त में भी तर्कतः निरीश्वरवाद चला आता है।

दूसरी बात है कि शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को परम सत् नहीं स्वीकारा गया है। पारमार्थिक जगत् को ही परम सत् माना गया है; क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि का किसी भी उच्चतर अनुभूति के द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता है। लौकिक रूप में व्यावहारिक जगत् को प्रातिभासिक जगत् की अपेक्षा अधिक मान्य समझा जायगा। परन्तु, व्यावहारिक जगत् की अनुभूति तभी तक स्वीकार की जायगी, जबतक पारमार्थिक अनुभूति नहीं प्राप्त होती है। शांकर मत के अनुसार ईश्वर भी व्यावहारिक रूप से सत्य होता है। परन्तु, केवल एक निर्गुण, निर्विकार परमब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है, और ब्रह्मप्राप्ति ही एकमात्र जीवन का परम उद्देश्य है। यह ब्रह्मज्ञान से सम्भव हो सकती है। यह ब्रह्मज्ञान अतिकठिन साधना है। इसलिये साधन के रूप में व्यावहारिक

दृष्टि के आधार पर ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता होती है, ताकि ईश्वर-अनुग्रह से मुमुक्षु की ज्ञान-चक्षु खुल जाय, उसकी बुद्धि परिष्कृत हो जाय और वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो जाय। अतः, ईश्वरोपासना ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का केवल साधन है। शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को अन्तिम सत्ता नहीं स्वीकारा जाता है। जिस प्रकार पारमार्थिक ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जगन्मिथ्या मालूम देने लगता है और नानात्व का विलोपन हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति में ईश्वर का भी विलयन हो जाता है। अतः, शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को न तो जीवन का परम लक्ष्य ही माना गया है और न ईश्वर को परम सत् के ही रूप में स्वीकारा गया है। इस रूप में ईश्वर को नकारा ही जायगा। अतः, शांकर अद्वैतवाद में परम्परागत ईश्वरवाद का निषेध होता है और इतनी दूर तक इसे निरीश्वरवादी कहा जायगा।

इस सन्दर्भ की अन्तिम बात यह है, कि यदि ईश्वर है, तो वह अवश्य उपास्य होगा और यदि ईश्वर उपास्य होगा, तो ईश्वर को भी अपने भक्तों के प्रति अनुक्रियाशील होना चाहिये, अर्थात् उसे भक्तों की सुधि लेनी चाहिये, उनके आर्त्त-क्रन्दन को सुनने की क्षमता होनी चाहिये इत्यादि। केवल व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता ही सुधि ले सकती, बातों को समझ सकती, आर्त्त-क्रन्दनों के अनुरूप कार्य कर सकती है इत्यादि। इसलिये उपास्य ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये, परन्तु शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को गुणातीत अनिर्वचनीय तथा निर्गुण बताया गया है। अतः, अद्वैतवाद में सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर गौण ही नहीं रहता है, परन्तु परम ब्रह्म भी व्यक्तित्वहीन सत्ता माना जाता है और निर्व्यक्तिक रहने के कारण शांकर अद्वैतवाद में परम ब्रह्म उपास्य नहीं कहा जा सकता है। इस रूप में भी शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं रहता है। पर, क्या रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में भी किसी प्रकार का निरीश्वरवाद पाया जाता है ?

इस पुस्तक में यह नहीं दिखाने का प्रयास किया जा रहा है कि भारतीय धर्मदर्शन निरीश्वरवादी है। यहाँ दो निष्कर्षों पर ही बल दिया जा रहा है, अर्थात्,

१. आदिकालीन भारतीय धर्मदर्शन मुख्यतः निरीश्वरवादी है। यहाँ स्वीकार किया जा रहा है कि उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में ईश्वरवाद विशेष रूप से पाया जाता है।

२. शंकर और रामानुज, दोनों ही विश्व-विख्यात भारतीय दार्शनिक हैं। परन्तु, ये दोनों उत्तरकालीन दार्शनिक हैं, न कि आदिकालीन। शंकर का समय आठवीं-नवीं शताब्दी (जन्म : लगभग ७८८ ईसवी) माना जाता है और रामानुज का समय ११वीं शताब्दी (जन्म : सन् १०२७ ई०) बताया जाता है। ऐसी अवस्था में इनके दर्शन में शैश्वरवादी परम्परा आ गयी थी और इन दोनों में द्राविड़-भक्ति का बड़ा स्थान है। स्वयं शंकर ने 'चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्' में महादेव आदि देवताओं का स्तुतिगान किया है। फिर, रामानुज को भक्तिदर्शन-शिरोमणि गिनना ही चाहिये। परन्तु, उल्लेखनीय बात है कि अनार्य तथा प्राग्वैदिक समाधि, ध्यान तथा योग में अन्तर्निहित निरीश्वरवादी एकत्ववाद का प्रभाव भी पूरा पड़ा है। रामानुज के दर्शन में भी ईश्वर को विश्व का अन्तर्वर्त्ती अन्तर्यामिन् माना गया है। अब रामानुज ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता स्वीकार किया है। परन्तु, व्यक्तित्व की तार्किक अभ्यर्थना है कि वह किसी अन्य वस्तु में अन्तर्व्याप्त नहीं हो सकता है। परन्तु, रामानुज ने विश्व को ईश्वर का शरीर और ईश्वर को इस विश्व का अन्तर्व्यामिन् माना है। इस स्थिति में या तो स्पिनोज़ा के समान सम्पूर्ण सत्ता को ईश्वरमय माना जाय, या ईश्वर को अन्तर्व्यामिन् नहीं कहा जाय। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को नकारा जाता है और यदि ईश्वर को अन्तर्व्यामिन् न माना जाय, तो ईश्वर और प्रकृति का द्वैतवाद हो जायगा, जिसे भी रामानुज नहीं स्वीकार कर सकते हैं। अतः, रामानुज में सर्वेश्वरवादी निरीश्वरवाद अवश्य अन्तर्ध्वनित होता है। परन्तु, भक्ति-परम्परा की बात बाद में की जायगी। यहाँ इतना ही भर दिखाया गया है कि भारतीय धर्मदर्शन में निरीश्वरवाद का प्रमुख स्थान है। यह भारतीय धर्मदर्शन की कमी नहीं, बल्कि विश्व को यह इसकी मुख्य देन है। यह इस बात का भी द्योतक है कि भारतीय विचारक निर्भीक और स्वतन्त्र चिन्तक थे और उनके विचारों में मानवतावाद विशेष रूप से विद्यमान था, अर्थात् मानव अपने ही स्वतन्त्र प्रयास से, बिना आधिदैविक शक्तियों को स्वीकार किये हुए अपना संवर्धन अथवा निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। इन बातों को जैन, बौद्ध तथा शंकर धर्मदर्शन की पृथक्-पृथक् व्याख्या करके पुष्ट किया जायगा।



अध्याय ४

निरीश्वरवादी जैन धर्मदर्शन

भारतीय धर्मदर्शन का स्वरूप : प्रायः 'दर्शन' से लोग तात्पर्य बताते हैं कि वह शास्त्र, जिसके अध्ययन के फलस्वरूप तत्त्व का दर्शन अथवा साक्षात्कार हो जाय। चूँकि भारतीय दर्शन में तत्त्वविज्ञान को विशेष स्थान दिया जाता है, इसलिये दर्शन के इस अर्थ को ठुकराया नहीं जा सकता है। फिर, चूँकि 'दर्शन' से देखने की प्रक्रिया की विशेष ध्वनि होती है और सभी प्रकार के इन्द्रियानुभव में देखना सबसे अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक माना जाता है, इसलिये इससे 'साक्षात्कार' अर्थ देखा-देखी का अर्थ लगाया जा सकता है।

यद्यपि 'दर्शन' से तत्त्वों का अथवा परम सत्ता का साक्षात्कार सही माना जायगा, तो भी इस अर्थ से कुछ भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। 'साक्षात्कार' से तत्त्वों की वास्तववादी स्वतन्त्रता का बोध हो सकता है और साथ-ही-साथ दार्शनिक अथवा द्रष्टा के तटस्थ रहने का अर्थ अभिव्यंजित हो सकता है। परन्तु, भारतीय दर्शन के अनुसार दर्शन के अध्ययन से स्वयं द्रष्टा में ही अन्तर होना चाहिये—स्वयं उसके ही अज्ञान को दूर होना चाहिये और इस अज्ञान के आवरण से मुक्त होने पर उसमें दिव्यज्योति आनी चाहिये, जिसके फलस्वरूप दार्शनिक को सभी वस्तुयें तथा उनमें अन्तर्निहित तत्त्वों को उनके असली रूप में दिखना चाहिये। इस अर्थ में 'दृष्टि' अथवा सर्वसमावेशी दृष्टि को ही दर्शन का सही गुणबोध समझना चाहिये। यही कारण है कि जैन और बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का उल्लेख किया गया है। तत्त्वज्ञान के हो जाने पर स्वयं द्रष्टा में ही सबसे बड़ा परिवर्तन हो जाता है। वह बद्ध जीव से मुक्त, बुद्ध और शुद्ध हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव सर्वज्ञ शुद्ध चैतन्यपूर्ण आत्मा का अपना स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार सांख्य-योग के अनुसार जीव प्रकृति को अपने से एकदम पृथक् मान लेने पर सभी प्रकार के शरीरधारियों के दैविक, आधिदैविक तथा भौतिक दुःखों से निवृत्त हो जाता है, और शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म बन जाता है। अतः, दृष्टि वह गहन और स्थायी अभिवृत्ति है, जिससे छनकर

अथवा अभिरंजित होकर ही सभी वस्तुयें अपने असली रूप में दिखती हैं। इसलिये 'दर्शन' से आत्मज्ञान, आत्मसंवर्धन, आत्मप्राप्ति आदि का तात्पर्य माना जाता है। यह ठीक है कि यूनान में भी सुकरात को यही आदेश मिला था कि 'मानव ! तू अपने को जान।' यही बात उपनिषदों में भी है 'आत्मानं विद्धि।' परन्तु, पाश्चात्य दर्शन में आत्मपरिवर्तन, आत्मसंवर्धन पर उतना अधिक बल नहीं दिया जाता है, जितना भारतीय दर्शन में। दूसरे शब्दों में पाश्चात्य दार्शनिक प्रकृति पर तथा समाज पर आधिपत्य जमाकर मानव का निःश्रेयस् प्राप्त करना चाहता है। परन्तु, भारतीय दर्शन के अनुसार प्रकृति और समाज से पराङ्मुख होकर ही व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। ऐसा क्यों? क्यों भारतीय दर्शन में आत्मज्ञान पर और पाश्चात्य दर्शन में बाह्य ज्ञान पर बल दिया गया है? मेरी समझ में इस भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन की कुछ अपनी मान्यतायें हैं, जिन्हें बौद्ध दर्शन में स्पष्ट रीति से व्यक्त किया गया है, अर्थात्,

१. जीवन दुःखमय है।
२. इस दुःख का कारण है।
३. इस दुःख की निवृत्ति का मार्ग है।
४. दुःख-निवृत्ति की स्थिति भी है, जिसे भारतीय धर्मदर्शन में मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, मुक्ति आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है।

सांख्य-दर्शन में बताया गया है कि दुःख तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक (राग-द्वेषादि से उत्पन्न), आधिभौतिक (प्रकृति, समाज से उत्पन्न) तथा आधिदैविक (अलौकिक सत्ताओं से उत्पन्न)। सामान्य रूप से 'दुःख' का अर्थ होता है बेचैनी, अशान्ति, दुःश्चिन्ता, निरुद्देश्यता, जीवन की निरर्थकता आदि। यह क्यों? क्योंकि, सभी वस्तुयें क्षणभंगुर हैं। कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। मानसिक अनुभवन चंचल और अस्थिर रहता है। यही बात बाह्य घटनाओं से उत्पन्न अनुभवन के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ईश्वर और देवता भी प्रायः रूठ जाते और कहा नहीं जा सकता है कि उन्हें किस प्रकार से नित्य-रीति से प्रसन्न किया जा सकता है। भारतीय दर्शन के अनुसार सुख

क्षणिक तथा बाह्य निर्धारकों से नियन्त्रित रहने पर उनसे चिरशान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती है। स्वर्गसुख को भी बनावटी, कृत्रिम तथा निकृष्ट कहा गया है (बृहदारण्यक ४ : ३ : ३२)। फिर, बताया गया है कि यज्ञादि कर्मों से स्वर्गप्राप्ति की कामना मूर्ख करते हैं; क्योंकि याज्ञिक नौका एक तो छद्म नहीं है। फिर, पुण्य के क्षय हो जाने पर इस मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ता है (मुण्डक १ : २ : ७, ९)। इसलिये, भारतीय दार्शनिक ऐसी स्थिरता की खोज में थे, जो नित्य और शाश्वत हो। शायद यह खोज समसामयिक विचारधारा के अनुसार वृथा कही जायगी, परन्तु भारतीय विचारकों के लिये यह खोज सच्ची और पक्की सिद्ध हुई। इसकी भी व्याख्या की आवश्यकता है।

निस्सन्देह, धार्मिक तत्त्वचिन्तन भारत में प्राग्वैज्ञानिक है और विना विज्ञान के उदय हुए, तकनीकी का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है। विना तकनीकी के प्रकृति पर अधिकार नहीं हो सकता है और ऐसी अवस्था में बाढ़-सूखा, संक्रामक रोगादि से मानव का त्रस्त होना स्वाभाविक है। फिर, साम्राज्यवाद में राजाओं का आतंक भी ऐसा था, जिसका सामना आदिकालीन भारतीय नहीं कर सकते थे। सामूहिक क्रान्ति का विकास इसी बीसवीं शताब्दी में हुआ है और विना सामूहिक क्रान्ति के सामन्तवाद तथा सर्वसत्तावादियों का सामना नहीं किया जा सकता है। इसलिए, भारतीय चिन्तक बाह्य जगत् को विजय करने की अभिलाषा छोड़कर आत्मविजय की ओर अग्रसर हुए। कम-से-कम व्यक्ति वीतराग होकर उपेक्षा-भाव को अपनाकर दुःखद परिस्थितियों से अविचलित होकर स्थिरता प्राप्त कर सकता है। इसी बात को रोमन विचारकों में स्टोइक्स और एपिक्यूरस ने भी सोचा था। परन्तु, इन रोमन विचारकों को योगादि की साधना नहीं प्राप्त हो सकी। परन्तु, भारतीय चिन्तकों को स्थिरता-प्राप्ति का समाधि, शील और प्रज्ञा का ज्ञान था, जिसके आधार पर वे स्थितप्रज्ञ बन सके। इस साधना की बात जैन, बौद्ध तथा शांकर अद्वैतवाद में बतायी जायगी। यहाँ इतना ही भर कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय चिन्तकों का निवृत्ति-मार्ग अथवा मनोवैज्ञानिक स्थिरता-प्राप्ति का मार्ग सर्वथा सत्यापनीय तथा परीक्षायोग्य है। आज भी इस मार्ग का अनुसरण कर कोई भी शान्ति प्राप्त कर सकता है। चूँकि, स्थिरता-प्राप्ति का मार्ग सिद्ध और प्रमाणित है, इसलिए वे मान्यतायें,

जिनके आधार पर ये मार्ग निश्चित किए गये हैं, उन्हें भारतीय सिद्ध पुरुष प्रमाणित मानते हैं। ये निम्नलिखित मान्यतायें हैं :

१. अन्तिम सत्ता शुद्ध है (यहाँ बौद्धों को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों में अन्तिम सत्ता को चाहे एक परमात्मा या अनेक आत्मा के रूप में माना गया है। चार्वाक किसी भी आत्मा को नहीं स्वीकारता है।)
२. यह शुद्ध सत्ता अज्ञान के कारण आत्मेतर पदार्थों से तादात्म्य कर दुःख-सुख का भोगी हो जाती है। जीवों को इस अज्ञान की अवस्था को अनादि, परन्तु सान्त माना जाता है।
३. दुःख-निरोध-मार्ग के अनुसरण से परम सत्ता की आदिम स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु, बौद्धों ने निर्वाण को और शांकर मत में निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा है। इसी प्रकार, जैन, सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक-दर्शन में मुक्ति-स्थिति का स्पष्ट वर्णन नहीं पाया जाता है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में शुद्ध रूप में आत्मा चैतन्यपूर्ण है, परन्तु, ज्ञाता नहीं; क्योंकि विना मन, इन्द्रिय के ज्ञान सम्भव नहीं होता और मुक्तावस्था में मन, इन्द्रियादि से आत्मा का विलगाव हो जाता है। अतः, भारतीय दर्शनों का मुख्य उद्देश्य रहा है कि वे मुक्ति-मार्ग का बोध करा दें, न कि मुक्तावस्था की पूर्ण व्याख्या करें।

जब मुक्ति की स्थिति का ही स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है, तब इन प्रश्नों को उठाना कि शुद्ध ब्रह्म से अज्ञानी जीव कैसे उत्पन्न हुए या शुद्ध चैतन्यपूर्ण सर्वज्ञ आत्मा कैसे अज्ञान में फँस गयी, वृथा है। बुद्ध भगवान् इस प्रकार के प्रश्नों को अव्याकृत कहेंगे। परन्तु, इस प्रकार की स्थिति लगभग सभी दर्शनों में पायी जाती है। सभी भारतीय दर्शनों में बताया जाता है कि किस प्रकार, दुःख का अन्त हो सकता है, परन्तु, किसी भी दर्शन में इसकी व्याख्या नहीं हुई है कि अज्ञान का प्रारम्भ कैसे हुआ। अतः, दुःख और दुःखनिवृत्ति-मार्ग के सम्बन्ध को असममित कहा जा सकता है, अर्थात् दुःख से दुःख-निवृत्ति-मार्ग का सम्बन्ध उसी प्रकार का नहीं है, जिसे परमसत् से अज्ञान की ओर बताया

जा सकता है। रामानुज ने शांकर अद्वैतवाद के माया-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए बताया है कि माया न जीव में और न ब्रह्म में हो सकती है। परन्तु, क्या रामानुज या कोई भी विचारक बता सकता है कि शुद्ध सत् से अज्ञानी जीव कैसे उत्पन्न हुए? शुभ और शुद्ध ईश्वर से पापी मानव कैसे और क्यों सृष्ट हुए? यह प्रश्न केवल बुद्ध भगवान् के ही लिये नहीं, सभी दार्शनिकों के लिये अव्याकृत है। बुद्ध भगवान् की दार्शनिक पैठ इसी में थी कि उन्होंने इस समस्या को इस रूप में देखा। नासदीयसूक्त से पाठ सीख-कर इन आदि घटनाओं को व्याख्येय नहीं स्वीकारना चाहिए। रसेल, एयर, राईखेनबाख् आदि विचारक इन समस्याओं को समस्या नहीं, वरन् समस्याभास समझते हैं। सम्पूर्ण विश्व कोई घटना नहीं है, जिसकी व्याख्या हो सकती है।^१ परन्तु, परिस्थिति की व्याख्या हो सकती है, उससे उत्पन्न समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। प्राचीन विचारकों ने प्रकृति और समाज पर आधिपत्य न जमाकर, अपने पर ही विचार प्राप्त करने का मार्ग खोज निकाला। पर, क्या आज भी हमारी समस्या उसी रूप में है? क्या आज की समस्या का भी समाधान आत्मविजय के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है?

मेरी समझ में आज की समस्या किसी अन्य रूप में है। विज्ञान और तकनीकी का यह युग है, जिसके आधार पर प्रकृति पर आधिपत्य जमाया जा सकता है। इसी प्रकार, आन्दोलन तथा सामूहिक क्रान्ति के आधार पर सामन्तवादियों की शक्ति का दमन किया जा सकता है। इसलिए, आधि-भौतिक ताप का सामना किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि आधिदैविक शक्तियों से विमुख होकर बहुजनसुखाय एवं बहुजनहिताय अपनी खुदी अथवा, स्वार्थपन एवं अहंभाव का विलयन किया जा सकता है। आध्यात्मिक ताप से बचने के लिये ध्यान, समाधि की सहायता ली जा सकती है। अतः, समाज-सेवा के द्वारा अहंभाव का विलयन करके आत्मसंवर्धन के आदर्श की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय विचारकों का उद्देश्य उन्हें, स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु, क्या उनके अन्दर वही निर्भीकता और वही विचार-स्वतन्त्रता पायी जाती है, जो जैन-बौद्ध तथा सांख्य-योग के युग में प्राप्त थी?

१. या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ० ७९-८०, ८४-८५।

आश्चर्य होता है कि लगभग ६०० ई० पू० बिहार के अनार्य प्रदेश में ऐसे विचारक थे, जो किसी पारलौकिक सत्ता से दया की भीख नहीं माँगते थे। देवी-देवताओं की ओर से पूर्ण उदासीनता रखते थे। कालवादियों के लिये काल ही सब कुछ का कर्त्ता है। काल ही में सभी घटनायें बनती-बिगड़ती हैं। इसी प्रकार, स्वभाववादी थे, जिनके अनुसार, प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है और उसी स्वभाव से उनकी सभी घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। काँटों के नुकीलेपन को और मृग तथा पक्षियों के विविध वर्ण को इन वस्तुओं के अपने स्वरूप से ही स्पष्ट किया जा सकता है। इन वस्तुओं के विविध गुणों को, इन वस्तुओं के स्वरूप को छोड़ किसी भी अन्य सत्ताओं को इनका उत्पादक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। मक्खलि गोसाल नियतिवादी हैं और इनके अनुसार, किसी भी घटना को रोकने अथवा, होने में मानव अवश पाया जाता है। इनके अनुसार, प्राणियों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। जीवों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है। न आत्म-कार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुष का पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत सभी जीव अवश हैं। इसका कारण है कि मक्खलि के अनुसार, सभी जीवों का असंख्य योनियों का क्रम प्रारम्भ से ही निर्धारित रहता है और इस क्रम के अन्त में अपने-आप शुभ कर्म सम्पादित होने लगते हैं। शुभ कार्य मानव के शुभ संकल्प से उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु, वे इस बात के द्योतक हैं कि शुभ कार्यवाले व्यक्ति की मुक्ति का समय समीप आ रहा है। अतः, नियतिवादी रहने पर भी मक्खलि गोसाल अशुभ-शुभ, वद्धता-मुक्ति के भेद को स्वीकार करते थे। इसके विपरीत, पूरण-काश्यप नीति-अनीति के भेद को नहीं स्वीकार करते थे। वे जीव-हत्या, डकैती तथा व्यभिचारी तक को भी बुरा नहीं कहते थे और तपस् को भी अच्छा नहीं कहते थे। परन्तु, ये भी समझते थे कि समय के परिपक्व होने पर मानव में एक प्रकार का कार्य होता है तथा अन्य स्थितियों में दूसरे प्रकार का कार्य होने लगता है। फिर, यदृच्छावादी थे, जो कारण-कार्य के प्रनियम को नहीं स्वीकार करते थे। इसलिए, सभी घटनायें, यदृच्छावादी के लिये आपातिक एवं संयोगात्मक हुआ करती हैं। बौद्ध-दर्शन में इन्हें अक्रिया-वादी कहा गया है; क्योंकि बौद्ध कर्म-सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते हैं।

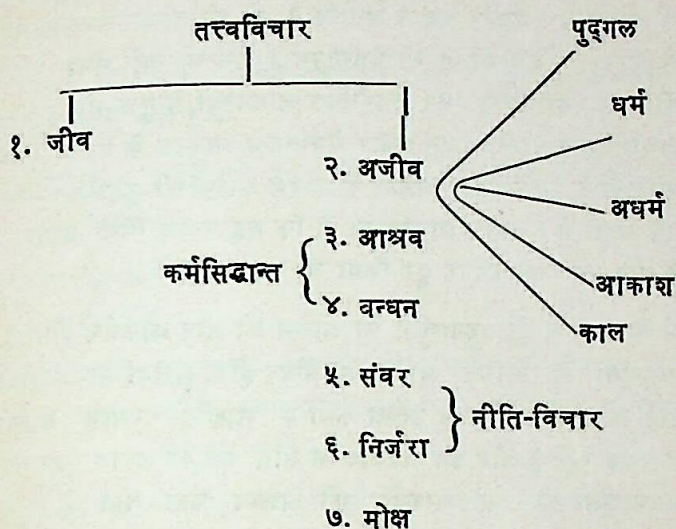
यह ठीक है कि कालवाद, यदृच्छावाद तथा नियतिवाद न तो वैज्ञानिक ही माना जायगा और न मानव-सुधारवाद के लिये हितकर समझा जायगा।

परन्तु, इन वादों के रहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये विचारक निर्भीक और स्वतन्त्र थे और इससे यह भी आभासित होता है कि ये विचार शताब्दियों के चिन्तन के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकते हैं। इन विचारकों ने आधिदैविक सत्ताओं के प्रति पराङ्मुख होकर, हर्ष-विषाद से अलग होकर अपने को प्राकृतिक घटनाओं के प्रति आत्मसमर्पित कर दिया था। ये शुद्ध रूप में आत्मनिर्भर जीव थे। इन्हीं स्वतन्त्र विचारों के सन्दर्भ में ही जैन-बौद्ध मतों का विकास हुआ। सभी प्रकार के वादों के रहते हुए भी, अजितकेशकम्बल, पूरण काश्यप, मवल्लि गोसाल आदि बड़े तपस्वी थे और इन्हें ऋद्धियाँ भी सिद्ध थीं। अतः, ये ध्यानी और तपस्वी थे और यही कारण है कि इन विचारकों को समाज में सम्मान दिया जाता था। जैन-बौद्ध दर्शनों में तप, ध्यान, समाधि को अपनाया गया। कर्म और नियतिवाद के साथ पुरुषकार को भी स्थान दिया गया। साथ-ही-साथ आधिदैविक सत्ताओं को भी अस्वीकार किया गया। अतः, स्वतन्त्र तथा निर्भीक विचारों के सर्जनात्मक गर्त से जैन-बौद्ध दर्शन का विकास हुआ है और इनका प्रभाव हिन्दुत्व पर अमिट रूप से पाया जाता है। अतः, हिन्दुत्व को अन्धविश्वास तथा हठवाद का अखाड़ा नहीं समझना चाहिए। यह शताब्दियों के स्वतन्त्र विचार तथा गहन तपस्या का अन्तिम परिणाम है। परन्तु, किसी भी विचार का समादर तभी होता है, जब इसे पूर्ण विचार-विमर्श के साथ अपनाया जाता है।

जैनधर्म का सार तत्त्व :

अनार्य विचार के अनुरूप इसमें भी अज्ञान, आवागमन, निवृत्ति-मार्ग तथा मोक्ष-सिद्धान्त पाया जाता है। जैनधर्म में जातिभेद नहीं पाया जाता है। परन्तु, भिक्षु और गृहस्थ का भेद पाया जाता है जो कि जन्मना भेद नहीं है। यह धर्मदर्शन तपस्, ब्रह्मचर्य और कठिन साधना का दर्शन है। अन्य सभी धर्मविचारों के समान जैन मत भी सर्वग्राही दर्शन है; क्योंकि मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, अर्थात् ज्ञान, कृति एवं भाव का इसमें समाकलित (एक साथ) आवश्यकता पायी जाती है। इसे रत्नत्रय से अभिव्यक्त किया जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य। इस त्रिरत्न की व्याख्या वाद में की जायगी। यहाँ अतिसंक्षेप में जैनदर्शन की रूपरेखा दी जा सकती है।

तत्त्वविचार : जैन धर्मदर्शन में ७ तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है, जिन्हें निम्नलिखित रीति से व्यक्त किया जा सकता है :



इस तत्त्वविचार में सांख्य-दर्शन की छाया है। यहाँ जीव और अजीव के ही दो मुख्य भेद हैं और मुक्ति-ज्ञान तभी सम्भव होता है, जब आत्मा अजीव से अपने को हीनकर निर्ग्रन्थ हो जाय। जीव अनेक माने जाते हैं और जीवात्मा का अपना सारगुण है—अनन्त वीर्य, ज्ञान और चैतन्य। वास्तव में, आत्मा का विस्तार नहीं होना चाहिये, परन्तु जैनमत के अनुसार आत्मा शरीर को व्याप्त करता है और इसी प्रकार विस्तृत एवं संकुचित होता है, जिस प्रकार प्रकाश कमरे के क्षेत्र के साथ कम या अधिक क्षेत्र को घेरता है।

अजीव के अन्तर्गत पुद्गल जड़ पदार्थ है, जो परमाणुओं के संयोग-वियोग से बनता है। धर्म का अर्थ यहाँ गुण अथवा नैतिक कर्म नहीं है। यह अर्धजड़ पदार्थ है, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और सभी गतियों का आधार माना जाता है। उसी प्रकार अधर्म वह है, जो गति को रोकता है। आकाश को अनन्त माना गया है, परन्तु द्रव्यों के क्षेत्रों के साथ इसे सीमित होना माना गया है। काल के ही कारण वर्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता, प्राचीनता आदि घटनाओं के लक्षण सम्भव होते हैं।

आत्मव और बन्धन : अन्य भारतीय दर्शनों के समान जैनमत में भी स्वीकार किया जाता है कि मानव बन्धन में अनादिकाल से है। यह बन्धन अज्ञान के कारण है। यद्यपि अज्ञान अनादि है, तो भी इसका अन्त सम्भव है। अज्ञान के कारण जीव अपने अनन्त चैतन्यपूर्ण स्वरूप को नहीं समझ पाता है। वह शरीर से आत्मसात् कर शारीरिक वासनाओं से युक्त होकर अपने को सुख-दुःखभोगी समझता है। जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश के कारण सूर्यप्रकाश मन्द पड़ जाता है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा की शुद्धचैतन्यपूर्णता भी ओझल हो जाती है। अतः, ज्ञातव्य यह है कि यह बन्धन किस प्रकार जारी रहता है और इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

कर्म के करने से ही परमाणुओं का आत्मा की ओर आकर्षण होता है और इन परमाणुओं से निर्मित शरीर के अन्दर ही प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मान, मोह, क्रोध और लोभ से उत्पन्न कर्मों से आकृष्ट परमाणु आत्मा को चपककर पकड़े रहते हैं और इस चपकाव के साथ कर्म को कषाय कहा गया है। पुद्गल-परमाणुओं के इस आकर्षण को आत्मव कहा गया है। जबतक वासनाओं से उत्पन्न कर्म होते रहेंगे, तबतक पुद्गल-परमाणुओं का अन्तर्वाह आत्मा की ओर बना रहेगा और जीव पुद्गल से लिपटकर संसार के आवागमन के चक्र में फँसा रहेगा। यही है बन्धन।

कर्म की अनेक प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, जिनमें ये आठ मूल हैं :

१. ज्ञानावरणीय : जो पाँच प्रकार के सोपानक्रमिक ज्ञान को आच्छादित करते हैं। जैसे : (क) मति, (ख) श्रुति, (ग) अवधि (घ) मनःपर्याय और (ङ) केवली।
२. दर्शनावरणीय : जो आत्मा के चैतन्यगुण को आवृत करता है। इसमें निद्रा-तन्द्रा आदि कर्मगुण देखे जाते हैं।
३. मोहनीय कर्म : जो क्रोध, मोह, मान और लोभ से उत्पन्न होते हैं।
४. अन्तराय।
५. वेदनीय।
६. आयु।
७. नाम।
८. गोत्र।

अतः, कर्मों के आस्रव को रोकना चाहिये और पूर्वसंचित कर्मों का नाश करना चाहिये । इन दो क्रियाओं को 'संवर' और 'निर्जरा' कहते हैं ।

संवर-निर्जरा :

नये कर्म को रोकने का नाम संवर है । इनके अन्तर्गत निम्नलिखित कठिन तप की बात कही गयी है—

१. त्रिगुप्ति—जिसमें मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोका जाता है ।
२. पंचसमिति ।
३. दशलक्षणधर्म ।
४. द्वादशानुप्रेक्षा ।
५. द्वाविंशति—परीषहजय, अर्थात् इसके अन्तर्गत २२ पीड़ाओं को सहन करना, उदाहरणार्थ, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मच्छर-खटमल का दंश आदि ।
६. पंचचारित्र—अर्थात्, पापक्रियाओं का त्याग, समताभाव, शान्तचित्त आदि को अपनाना ।

निर्जरा से अर्थ है झड़ना । तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं । इसमें कठिन तप की आवश्यकता होती है, जैसे, उपवास, अल्प-भोजन आदि । इसके साथ पश्चात्ताप, श्रद्धा, सेवा, अपरिग्रह आदि भी आवश्यक माने गये हैं । आस्रव से बन्धन और दुःख । दुःख को शान्त करने के लिये संवर-निर्जरा । परन्तु, दुःख-निवृत्ति-मार्ग को ही मोक्ष-मार्ग समझना चाहिये और इसके अनुसरण के लिये रत्नत्रय का उल्लेख किया गया है, अर्थात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' इसलिये इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उल्लेख किया जायगा ।

मोक्षप्राप्ति-मार्ग :

पहले ही कहा जा चुका है कि सामान्यतः भारतीय धर्मदर्शन का उद्देश्य है कि व्यक्ति ही को परिवर्तित किया जाय— उसमें ही उदात्त गुणों का उद्बोध किया जाय और इस लक्ष्य को आत्मसंवर्धन का सिद्धान्त कहा जा सकता है । इस आत्मपरिपूर्णता में मानव की सभी प्रक्रियाओं का सम्बोधन परिमार्जन और संकलन आवश्यक होता है । यही कारण है कि व्यक्ति के

सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए जैनमत में रत्नत्रय का उल्लेख किया गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य। 'दर्शन' से तात्पर्य दृढ़ विश्वास अथवा अडिग प्रतीति है। इसलिये, 'दर्शन' अटूट श्रद्धा अथवा कूटस्थ आस्था का परिचायक माना जाता है। अतः, मोक्षप्राप्ति के लिए व्यक्ति को जनशास्त्र, जैन धर्मज्ञान आदि में अटूट श्रद्धा होनी चाहिए परन्तु कोई भी श्रद्धा बिना ज्ञान के स्थायी और असन्दिग्ध नहीं हो सकती है। इसलिये, सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान की बात भी बताई जाती है।

जैनमत में 'ज्ञान' से वैज्ञानिक ज्ञान का विशेष अभिप्राय नहीं दिया जाता है। सम्यग्ज्ञान वह है, जिससे मोक्षप्राप्ति में सहायता प्राप्त हो। मोक्षज्ञान को धर्मज्ञान से भिन्न समझना चाहिये। शास्त्रविहित ज्ञान को धर्मज्ञान कहा जाता है। परन्तु, शास्त्रों का ज्ञान हो जाने पर भी सम्भवतः मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है, यदि इस ज्ञान से आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न हो। अतः साधक को इसका पूर्ण भान हो जाना चाहिये कि वह अजीव नहीं है और अपने अकेलेपन का अनन्य बोध हो जाना चाहिये। भारतीय धर्मदर्शन में साधना का विषय है और साधना में एक क्रमिक विकास होता है। अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी एक क्रमिक विकास के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। ज्ञान पाँच प्रकार के बताये गये हैं :

१. मतिज्ञान वह है, जिसमें ज्ञानेन्द्रिय तथा मन के माध्यम से व्यावहारिक जीवन की वस्तुओं का ज्ञान सम्मिलित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान आदि सम्मिलित चले आते हैं।
२. श्रुतज्ञान विशेषतया आप्तवचन तथा शास्त्रों में विहित धर्मोपदेशों सम्बन्ध रखता है। इसलिये, इसे शब्द-ज्ञान भी कहा जा सकता है।
३. अवधिज्ञान वह है, जो साधना की थोड़ी उपलब्धि के बाद ही सम्पन्न होता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ध्यान और गुणस्थान के विभिन्न प्रकार की साधनायें हैं, जिनके फलस्वरूप भिक्षु अपनी मोक्ष यात्रा में अग्रसर होता है। जब कर्म अंशतः विनष्ट हो जाता है तभी अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। अवधि में दूर, सूक्ष्म वस्तु तथा परमाणु तक का ज्ञान हो जाता है।

४. मनःपर्याय ज्ञान तभी होता है, जब वाधायें पहुँचानेवाली कर्म-शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लिया जाता है। मनःपर्याय में साधक अन्य व्यक्तियों के मन की बात जान लेता है और उनके भूत और भविष्य का भी साधक को ज्ञान हो जाता है। परन्तु, यह ज्ञान सीमित वस्तुओं का तथा कालगत घटनाओं का ही ज्ञान होता है।

५. केवलज्ञान सिद्ध योगी को ही सम्भव होता है। वह अपने चैतन्य-स्वरूप अनन्त आत्मा को जानने लगता है, जिससे आत्मा को वह अकेला अथवा अन्य सभी ग्रन्थियों और कर्मों से मुक्त देखता है।

जैनदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण-रूप में मति का सम्बन्ध विशेष-रूप से प्रत्यक्ष से रहता है और श्रुत का सम्बन्ध अनुमान, उपमान और शब्द से रहता है। जैन दर्शन में प्रत्येक द्रव्य को अनन्त गुण और पर्यायों (अर्थात् नित्य नूतन परिवर्तन) युक्त समझा जाता है। अतः, किसी एक दृष्टिकोण (नय) से केवल एक ही अन्त (पक्ष) का ज्ञान सम्भव हो सकता है। इसलिये वस्तुओं में अनेकान्तवाद को तथा इनके सम्बन्ध में दृष्टि-विचार को सप्तभंगी नय कहा जाता है। चूँकि एक समय में एक ही अन्त को जाना जा सकता है, इसलिये इस बात का बोध कराने के लिये 'स्यात्' शब्द को काम में लाया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' नहीं है। परन्तु, इससे ध्वनित होता है कि अमुक वस्तु अथवा घटना का अन्य पक्ष भी सम्भव है। सप्तभंगी नय को स्याद्वाद भी कहा जाता है।

१. स्यात् अस्ति—यह कलम है, परन्तु इसके अन्य गुण और पर्याय का उल्लेख नहीं है। अतः, इसके वर्ण, स्थान, देश आदि पक्ष भी सम्भव हैं, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

२. स्यात् नास्ति—यह कलम लाल नहीं है, मेज पर नहीं है आदि।

३. स्यात् अस्ति च नास्ति च—यह कलम अभी मेज पर नहीं है, परन्तु कुछ ही क्षण पूर्व यह कलम मेज पर थी। अतः, एक घण्टे को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि यह कलम मेज पर थी और नहीं भी थी।

४. इसी बात को पूछा जाय, क्या यह कलम मेज पर ८ से ९ बजे प्रातःकाल में थी ? यहाँ उत्तर होगा 'अवक्तव्यम्'; क्योंकि दोनों बातें एक साथ सही हैं और इसलिये शब्दों के द्वारा हाँ-न तथा हाँ-न से नहीं व्यक्त किया जा सकता है ।

इसी प्रकार अन्य तीन नय भी हैं, अर्थात्,

५. अवक्तव्यम् अस्ति ।

६. अवक्तव्यम् नास्ति ।

७. अवक्तव्यम् अस्ति च नास्ति च ।

पाश्चात्य विचारकों में ब्रैडले का कहना है कि चूँकि किसी भी वस्तु को हम चयनात्मक रीति से ही अनुभूत कर सकते हैं और चूँकि उसे उसके असंख्य गुण और पर्याय को नहीं जान सकते हैं, इसलिये मानव-ज्ञान केवल आभास को ही जान सकता है, न कि सत् को । जैनों के अनुसार किसी भी प्रत्यक्ष में किसी भी वस्तु के एक ही अन्त का ज्ञान सम्भव होता है, परन्तु यह एकान्तिक ज्ञान अपूर्ण है, न कि असत्य । इसलिये जैनज्ञानमीमांसा को वास्तववादी कहा जाता है और इस मत की तुलना जेम्स तथा रसेल के वास्तववादी मत से की जा सकती है ।

जैनदर्शन का लक्ष्य आत्मदर्शन तथा केवलज्ञान से है और आत्मदर्शन व्यक्ति के चारित्र्य से सम्बन्ध रखता है । इसलिये रत्नत्रय अवियोज्य हैं । मुक्तिज्ञान वह है, जो अज्ञान से उत्पन्न सभी कर्मों और आवरणों को दूर कर दे और कर्मावरण प्रवृत्तियों से उत्पन्न होते हैं । अतः, प्रवृत्ति-विनाश से ही कषाय और आवरण दूर किये जा सकते हैं । यह घोर तप के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकता है, जिसका थोड़ा-सा उल्लेख संवर-निर्जरा के प्रसंग में कर दिया गया है । परन्तु, सम्यक्चारित्र्य में पंचमहाव्रत का उल्लेख किया जाता है और ये हैं :

१. अहिंसा;

२. सत्य;

३. अस्तेय;

४. अपरिग्रह और

५. ब्रह्मचर्य ।

जैनमत के अतिरिक्त अन्य भारतीय धर्मदर्शन में भी इन व्रतों का उल्लेख किया गया है, परन्तु जैनधर्म में अहिंसा को प्रधान व्रत माना गया है और इसमें सन्देह नहीं कि जैनों के ही कारण पशुबलि आदि का हिन्दुत्व में निषेध किया गया है। जैनों की अहिंसा उनके दर्शन से ही सिद्ध होती है। इनके अनुसार छोटे-से-बड़े सभी जीवों में एक ही प्रकार की आत्मा है और इसलिये सभी जीवों का संरक्षण और समादर होना चाहिये। इस दृष्टि से जैनों के अहिंसा-व्रत में कान्त के उस मत की स्पष्ट पूर्व-छाया है, जिसमें कान्त ने बताया है कि सभी मानव का अपना निजी लक्ष्य है, जो लक्ष्य सभी व्यक्तियों में एक ही प्रकार का है। अतः, मानवता, जहाँ भी पायी जाय, पूज्य है। इसे कभी अपने स्वार्थ का साधन नहीं बनाना चाहिये। कान्त की अपेक्षा जैनमत में अधिक व्यापकता पायी जाती है; क्योंकि इसका क्षेत्र समस्त प्राणि-जगत् है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने भी बताया है कि कोई भी व्यक्ति इसलिये प्रिय होता है कि उसकी और प्रेमी की अन्तरात्मा एक ही होती है। जैनों की अहिंसा एक नैतिक सिद्धान्त ही नहीं, वरन् उनके व्यावहारिक जीवन का कुंजीपद है। अहिंसा का अर्थ है सभी जीवों के प्रति सम्मान।

इन पंचमहाव्रतों को यथासम्भव गृहस्थ जैनों को भी पालन करना होता है। श्रावक के लिये 'ब्रह्मचर्य' से तात्पर्य है कि वह अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखे। यहाँ इन पंचमहाव्रतों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। जैन धर्ममीमांसा में प्रत्येक व्रत की छानबीन की गयी है और प्रत्येक का अनेक भेद बताया गया है। परन्तु, सम्यक्चारित्र्य का मुख्य उद्देश्य है कि जीव सभी प्रकार की ग्रन्थियों से मुक्त होकर शुद्ध आत्मा का रूप धारण कर ले। शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त आत्मा का रूप धारण करने के लिये दो आध्यात्मिक प्रयोगों की चर्चा की गयी है, ध्यान और गुणस्थान। यहाँ इनकी व्याख्या की जायगी।

गुणस्थान :

मोक्षप्राप्ति की दिशा में आध्यात्मिक विकास-क्रम को गुणस्थान कहते हैं, जिसके अन्तर्गत १४ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। जबतक कर्मभावों का उपशमन तथा उनका क्षय नहीं होता है, तबतक आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। इस दिशा में, वास्तव में, मोहनीय कर्मों का ही क्षय विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि ये अनादिकाल से जीव को अज्ञान से आवृत रखते हैं।

१. मिथ्यादृष्टि : आत्मा अपने में अनन्तज्ञान और चैतन्य से पूर्ण होती है, परन्तु इसका यह रूप अज्ञान से आच्छादित होने पर जीव को प्राप्त नहीं होता है। अज्ञान में रहकर जीव ऐसा कर्म करता ही रहता है, जिससे उसका बन्धन बना रहता है। परन्तु, जीवों में ऊपर उठने की भी प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की भी उत्प्रेरक प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के सक्रिय हो जाने पर ऊपर उठने की प्रक्रिया जानी रहती है, परन्तु यह उत्क्रमण केवल अस्थायी रहता है।

२. सासादन-सम्यग्दृष्टि : वास्तव में, यह विकास-क्रम की सीढ़ी नहीं है, जब जीव प्रगति करके कषायों के कारण फिर पतन को प्राप्त होता है, तब वह इसी अवस्था में थोड़ी देर रहता है। परन्तु, प्रथम अवस्था में पहुँचने के पूर्व ही जीव को अपने अनन्त स्वरूप का घुंघला-सा दर्शन हो जाता है।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि : इसमें कुछ स्कन्धों का क्षय होता है, परन्तु अन्य स्कन्धों के रहने से मिथ्यादृष्टि बनी रहती है। बिना कठिन प्रयास के वास्तविक प्रगति करना कठिन हो जाता है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि : इस अवस्था में जीव को आध्यात्मिक सत्यता का आभास मिल जाता है, परन्तु मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा नहीं रहती है, ताकि जीव आगे बढ़े। उसे अच्छाई का कोरा ज्ञान हो जाता है, परन्तु उसके अनुरूप का सम्पन्न नहीं होते। जीव जानता है कि इन्द्रिय-सुख क्षणिक होते हैं और अन्तिम रूप में वे दुःखपूर्ण ही कहे जा सकते हैं। तो भी जीव इन इन्द्रिय-सुखों को अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकता है।

५. देशविरतसम्यग्दृष्टि : यह वह अवस्था है, जिसमें अंशतया आत्मसंज्ञा प्राप्त हो जाता है और आध्यात्मिकता का आभास मिलता रहता है। इस अवस्था में आवश्यकता है कि संयम और व्रत को कठिन तप के रूप में अपनाया जाए, इतनी दूर तक श्रावक पहुँच जाते हैं। परन्तु, इसके बाद भिक्षु बनकर व्रतों को महाव्रत के रूप में पालन करना पड़ता है। बिना कठिन तप के प्रगति करना कठिन हो जाता है।

६. प्रमत्तसंयत अथवा प्रमत्तविरत : इस अवस्था में श्रावक भिक्षु बन जाता अथवा सभी व्रतों को वह संयम से निबाहने लगता है और साधक

शान्ति भी आने लगती है। परन्तु, सभी कषायों का अब भी क्षय नहीं होता है और अभिमान, आलस्य, इन्द्रिय-सुख आदि के प्रति प्रमाद या भूलें हो जाती हैं। इसी से इस अवस्था को प्रमत्तसंयत कहा जाता है।

७. अप्रमत्तसंयत : यहाँ प्रमादों का भी ह्रास होने लगता है और ध्यानों की आवश्यकता अब पड़ने लगती है, जिसकी चर्चा बाद में की जायगी। विना ध्यानों के सभी कषायों का क्षय नहीं हो सकता है।

८. अपूर्वकरण : यहाँ पतन-भय दूर हो जाता है और स्थूल कर्मों का बन्धन टूट जाता है। परन्तु, सूक्ष्म कर्मबन्धन अब भी बने रहते हैं। इस अवस्था को इसलिये अपूर्व कहा गया है कि, इसमें अपूर्व शक्ति का संचार होता है और साधक अपने आध्यात्मिक विकास की ओर द्रुत गति से प्रगति करने लगता है।

९. अनिवृत्तिबादर-साम्पराय : इस अवस्था में सभी स्थूल कर्मों का क्षय हो जाता है, परन्तु कुछ सूक्ष्म कर्मों का प्रभाव जारी रहता है। यहाँ क्रोध और मान दोनों का क्षय हो जाता है। परन्तु, स्थूल कर्मों के प्रति पतन सम्भव है। इसलिये इसे बादर-साम्पराय कहा गया है।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय : इस अवस्था में आत्मविशुद्धि बहुत दूर तक प्राप्त हो जाती है। तो भी देहग्रहण करने की अचेतन लालसा बनी रहती है।

११. उपशान्तमोहनीय अथवा उपशान्तकषाय : इस चरण में मोहनीय कर्मों का उपशमन होता है, न कि क्षय। इसलिये साधक छद्मवीतराग कहलाता है।

१२. क्षीण-कषाय : इस चरण में मोहनीय कर्मों का उपशमन ही नहीं, वरन् क्षय भी हो जाता है। परन्तु, केवल ज्ञान नहीं प्राप्त होता है; क्योंकि अभी तक ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मों का पूर्ण क्षय नहीं होता है।

१३. सयोगकेवली : इस अवस्था में साधक को विश्व की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। चूँकि शरीर अब भी बना रहता है, इसलिये साधक को सयोगकेवली कहा जाता है। इस स्थिति में जब नाम, गोत्र और वेदनीय, तीन अघातिया कर्म शेष रह जाते और आयुर्कर्म बहुत थोड़ा रह जाता है, तब इन सब शेष अघातिया कर्मों को क्षीणकर उन्हें विनष्ट करने की तैयारी की

जाती है। यह अवस्था वेदान्त के अथवा बौद्धमत के जीवन्मुक्त की अवस्था अनुरूप ही होती है।

१४. अयोगकेवली : अन्त में सभी कर्मों के क्षय हो जाने पर साधक बुद्ध होकर अनन्त ज्ञान, वीर्य तथा आनन्द को प्राप्त कर लेता है और इस संसार में जन्म नहीं लेता है।

ध्यानयोग :

किसी एक ही वस्तु पर चित्त के टिकाने को ध्यान कहा गया है। ध्यान चार प्रकार के बताये गये हैं, अर्थात् आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त्त को रौद्र को अशुभ तथा धर्म और शुक्ल ध्यान को शुभ माना जाता है। अनिष्ट के संयोग, भोगों की अभिलाषा आदि के लिये आर्त्त ध्यान तथा चोरी-छिप करके अथवा हत्या आदि क्रूर व्यापार की सफलता के लिये रौद्र ध्यान सम्पन्न किया जाता है। राग-द्वेष तथा मनोनिरोध के लिये धर्मध्यान और आत्मज्ञान के लिये शुक्लध्यान को अपनाया जाता है।

ध्यान के द्वारा ही कर्मों का क्षय हो सकता है। इसलिये, रागादि भावों का निराकरण ध्यान के द्वारा सम्पन्न होता है। धर्मध्यान को आध्यात्मिक उद्विकास का साधन माना जाता है और इस ध्यान में आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को आवश्यक सहायक अंग स्वीकार किया गया है। सात आसनों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन तथा कायोत्सर्गासन। आसन जमा लेने पर ध्यान सुविधा चली आती है। इसी प्रकार, प्राणायाम पर भी बल दिया गया है ताकि इसके द्वारा चित्तनिरोध अथवा मानसिक वृत्तियों पर नियन्त्रण किया जा सके। पूरक, कुम्भक और रेचक (श्वास लेने, रोकने और छोड़ने) की तीन प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है। प्रत्याहार वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा इन्द्रियों को सभी ओर से सिकोड़कर आँख, नाक, नाभी तथा कर्ण पर ध्यान टिकाया जाता है।

धर्मध्यान के द्वारा रागात्मक वृत्तियों का निरोध किया जाता है। ध्यान चार प्रकार का होता है :

१. आज्ञाविचय : 'आज्ञा' से शास्त्रादेश अभिव्यंजित होता है और 'विचय' से गवेषण का तात्पर्य है। अतः, आज्ञाविचय से अर्थ हुआ कि शास्त्रों के कथनों को तर्कबुद्धि के द्वारा निर्धारित करना।

२. अपायविचय : 'अपाय' से तात्पर्य है विघ्न-बाधा । इसलिये, अपाय-विचय से अभिप्राय हुआ, विघ्न-बाधाओं के निराकरण करने के लिए चिन्तन ।

३. विपाकविचय में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के उदय-अन्त के सम्बन्ध में चिन्तन किया जाता है ।

४. संस्थानविचय : इसमें विभिन्न प्रकार के लोक, नरक-स्वर्ग, सिद्धलोक आदि के सम्बन्ध में चिन्तन किया जाता है । संस्थानविचय के चार प्रकार माने जाते हैं : क. पिण्डस्थ, ख. पदस्थ, ग. रूपस्थ और घ. रूपातीत ।

१. पिण्डस्थ ध्यान में शरीर को ही ध्यान का विषय बनाया जाता है और इसकी पाँच अवस्थायें बतायी गयी हैं । पार्थिवी धारणा में साधक एक शान्त, नीरव और स्वच्छ सागर की कल्पना करते हैं, जिसमें सहस्र पंखड़ियों के साथ कमल खिला हुआ है । इसमें मधुमक्खी मकरन्दों पर भ्रमण करती हुई कल्पित की जाती है, जो वास्तव में कषायों का प्रतीक होता है । साधक इस कमल पर आसन लगाकर ध्यान करता है कि वह कर्मरूप सभी पुष्पदलों का नाश कर रहा है । आग्नेयी धारणा में साधक कल्पना करता है कि उसकी नाभी से १६ पंखड़ियों का कमल खिला है और इन कर्मरूपी पंखड़ियों को अग्नि जलाकर भस्म कर रही है । फिर, इसी अग्नि से शरीर भी भस्म हो जाता है और तब अग्नि अपने-आप शान्त हो जाती है । मास्ती धारणा में साधक कल्पना करता है कि प्रचण्ड तूफान उठा हुआ है, जिसने पूर्वध्यान से उत्पन्न भस्म को उड़ाकर साफ कर दिया है । तब वारुणी धारणा में साधक कल्पना करता है कि मूसलधार वर्षा हुई है, जिसमें बचा हुआ, शरीर-भस्म बहकर साफ हो गया है । अन्त में तत्त्वरूपवती धारणा में साधक कल्पना करता है कि वह शरीर के सातों तत्त्वों से मुक्त होकर सिद्ध हो गया है ।

२. पदस्थ ध्यान की अवस्था में मन्त्रों से ध्यान सम्पन्न किया जाता है और जप के आधार पर ऋद्धियाँ सिद्ध होती हैं और साधक सर्वज्ञता-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है ।

३. रूपस्थ ध्यान में अर्हन्तों पर ध्यान लगाया जाता है, ताकि साधक स्वयं अर्हन्त हो जाय ।

४. रूपातीत ध्यान में साधक विमुक्त सिद्धों पर ध्यान लगाता है।

धर्मध्यान के फलस्वरूप साधक में आनन्द का संचार होने लगता है उसमें ऐश्वर्य-गुण का भी आगमन होने लगता है और वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है।

शुक्लध्यान :

शुक्लध्यानी को शास्त्रों का पूरा ज्ञान होना चाहिये और शरीर को शुद्ध होना चाहिये। रागात्मक वृत्तियों से शुद्ध हो जाने पर ही विमल चित्त में शुक्लध्यान सम्भव होता है। यहाँ वास्तविक जगत् के परमाणु-रूप में वस्तुओं का ध्यान लगाया जाता है। शुक्लध्यान के चार चरण हैं। पहले दो चरण गुणस्थान की ७वीं से १२वीं अवस्था तक पाये जाते हैं और तीसरा चौथा चरण गुणस्थान की अन्तिम दो अवस्थाओं में पाया जाता है।

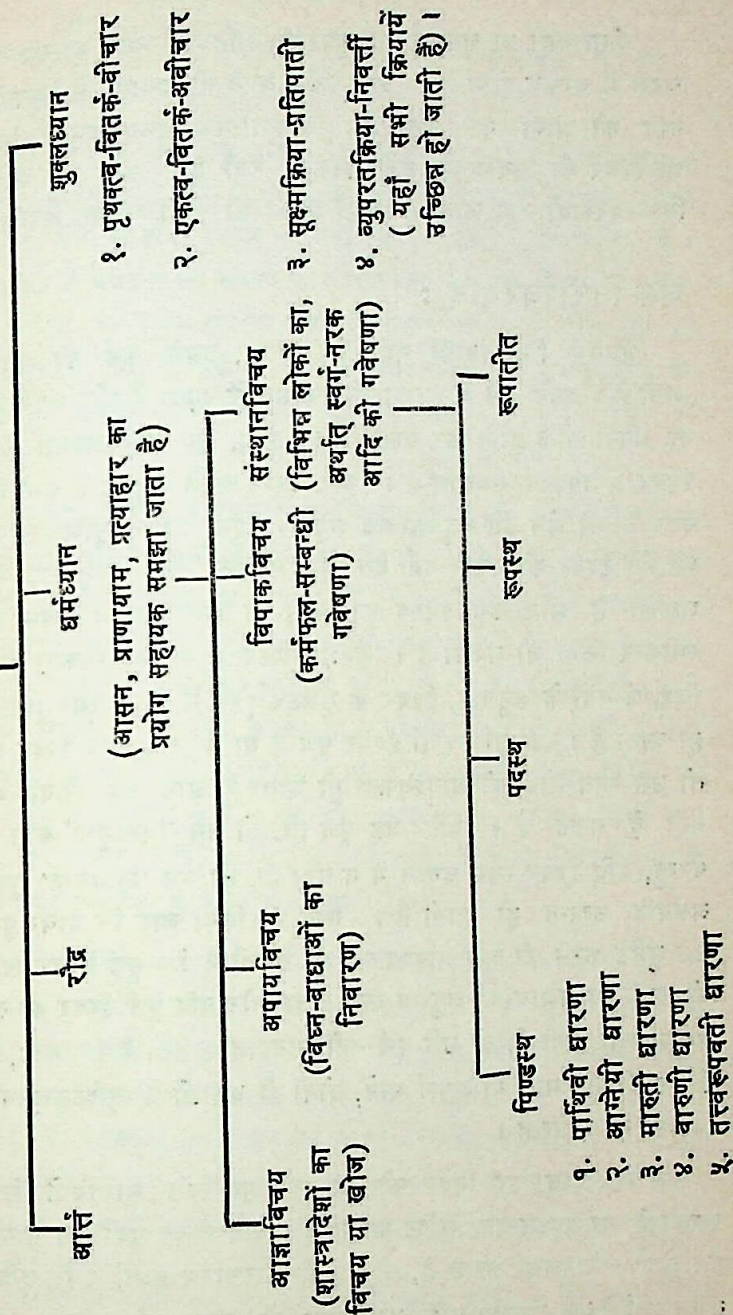
पृथक्त्व-वितर्क-वीचार : यहाँ वितर्क से अभिप्राय है, शास्त्र-विचार को 'वीचार' से तात्पर्य है, विचरण या परिवर्तन। अतः, इस चरण में ध्यान पर्याय से द्रव्य तथा द्रव्य से पर्याय के प्रति, एक शास्त्र-विचार से दूसरे शास्त्र-विचार के प्रति तथा एक योग से दूसरे योग के प्रति विचरण करता है। यहाँ द्रव्यों—पर्यायों, शास्त्रों आदि के पृथक्त्व पर बल दिया जाता है।

एकत्व-वितर्क-अवीचार : जब एक ही द्रव्य या उसका पर्याय, एक ही शास्त्र-विचार और एक योग में ध्यान अन्य पृथक् वस्तुओं से सिमटकर एकत्रित हो जाता है, तब ध्यान में 'अवीचार' चला आता है।

सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती : इस चरण में न तो द्रव्य-पर्याय, न शास्त्र और न तर्क ही रहता है। केवल सूक्ष्म काययोग-मात्र रह जाता है। इस अवस्था में पहुँच जाने पर फिर, किसी पूर्व की गति में लौटना नहीं होता है, इसलिए इसे अनिवर्त्ती ध्यान भी कहा गया है।

व्युपरतक्रिया-निवर्त्ती अथवा व्यवच्छिन्नप्रतिपाती : वह अन्तिम सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान है, जहाँ केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है और जीवात्मा शरीर त्यागकर अनन्त वीर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान और आनन्द को प्राप्त कर लेता है। ध्यान के भेदों की स्पष्टता के लिए प्रस्तुत तालिका द्रष्टव्य है।

ध्यान के प्रकार



जैसा कहा जा चुका है कि व्युपरतक्रियानिवर्त्ती ध्यान गुणस्थान का चरण में सम्भव होता है। अतः, जीव अपने ही प्रयास से अपनी सर्वोच्च गति को प्राप्त कर लेता है। आध्यात्मिक विकास-क्रम में जैनों को कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं दिखाई देती है। इसी से जैनदर्शन को निरीश्वरवादी कहा जाता है। यहाँ इसकी भी थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है।

जैन निरीश्वरवाद :

जैनधर्म नियतिवादी नहीं है, परन्तु, इसमें कर्म की प्रधानता मानी जाती है। अपने कर्म के कारण जीव बन्धन में पड़ता है और अपने पुरुषकार से वह अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः, वह कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर अनावश्यक समझता है। यदि ईश्वर अपने अनुग्रह से कर्मों के फल को बदल दे, तो जैन इसे यदृच्छावाद कहेंगे। इसी प्रकार, सृष्टिकर्त्ता के रूप में भी जैन ईश्वर को स्थान नहीं देते हैं; क्योंकि उनके अनुसार, यह सृष्टि शाश्वत है और इस विश्व का किसी भी कालविशेष में उत्पन्न होना नहीं स्वीकार किया जा सकता है। अतः, सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता ही नहीं है। फिर, जैनियों के अनुसार, ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व में ही आत्मव्याघात उत्पन्न हो जाता है। क्या सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पूर्ण है या अपूर्ण। यदि ईश्वर अपूर्ण हो, तो उसे स्वयं मोक्ष की आवश्यकता हो जाती है और वह जीवों को मोक्ष नहीं दे सकता है। यदि वह पूर्ण हो, तो उसे 'नित्यमुक्त' कहा जायगा। परन्तु, यदि ईश्वर स्वयं बन्धन में न पड़ा हो, तो उसे 'नित्यमुक्त' पुकारने में असंगति उत्पन्न हो जाती है। मान भी लिया जाय कि ईश्वर पूर्ण है, तो उसे सृष्टि करने की क्या आवश्यकता हो सकती है? पूर्ण ईश्वर को किसी भी कमी या अभाव का अनुभव नहीं होता और यदि पूर्ण ईश्वर को सृष्टि की आवश्यकता होती है, तो उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता है। अतः, चाहे हम ईश्वर को पूर्ण मानें या अपूर्ण मानें, दोनों ही दशाओं में सृष्टिकर्त्तृत्व आत्म-विरोधी हो जाता है।

अपितु, ईश्वर इस विश्व को या तो पूर्वस्थित सामग्रियों से उत्पन्न करता है, या वह शून्यतः सृष्टि करता है। यदि ईश्वर पूर्वस्थित सामग्रियों से इस विश्व की रचना करता है, तो वह निमित्तकारण हुआ, न कि सृष्टिकर्त्ता। सृष्टिकर्त्ता केवल शून्यतः सृष्टि करनेवाला हो सकता है। परन्तु, शून्य से

कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः, ईश्वर को किसी भी रूप में सृष्टिकर्ता नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

आगे चलकर हम जैनों के द्वारा ईश्वर-विरोधी युक्तियों को प्रस्तुत करेंगे, इसलिए केवल उन्हीं बातों का यहाँ उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर सिद्धान्ततः जैनों के द्वारा ईश्वर को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु, हमलोगों ने देखा है कि रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यान में शरीरी और अशरीरी अर्हन्तों पर ध्यान लगाया जाता है, ताकि साधक को आत्मशुद्धि की प्राप्ति में अनुप्रेरण प्राप्त हो सके। साधारणतया जैनधर्म में पंच-परमेष्ठि को माना जाता है, अर्थात् अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की 'पूजा' की जाती है। अतः, इस आधार का क्या तात्पर्य हो सकता है ?

सिद्ध आत्मायें वे मुक्त जीवात्मायें हैं, जिन्होंने अपने को बन्धन से मुक्त कर अनन्त वीर्य, ज्ञान और आनन्द को प्राप्त कर लिया है। ये सिद्ध आत्मायें न तो सृष्टि करती हैं और न सृष्टि का विनाश ही। ये न तो किसी भी साधक की प्रार्थनाओं का प्रत्युत्तर करती हैं और न किसी को क्षमा करती हैं या न किसी पर अनुग्रह-दान ही करती हैं। ये सिद्ध आत्मायें वीतराग और शान्त रहती हैं। ऐसी अवस्था में सिद्धों से प्रार्थना करने का क्या अभिप्राय हो सकता है ? यहाँ जैनों का कहना है कि सिद्धों की आराधना करने से स्वयं सिद्धों से किसी भी प्रकार का साक्षात् प्रत्युत्तर नहीं प्राप्त हो सकता है। परन्तु, सिद्धों की आराधना से साधक में निहित सिद्धत्व का उद्घोष होता है और इस रूप में साधक को सिद्धत्व-प्राप्ति में सहायता पहुँचती है।

समसामयिक विचारधारा में जैन विहित सिद्धों की पूजा को बहुत समादृत समझा जायगा। जर्मन-निवासी पास्टर बॉनहोयफर सन् १९४५ ई० में नात्सियों के द्वारा गोसियों से उड़ा दिये गये, परन्तु उनके पत्रों में लिखित विचार को ईसाई आध्यात्मिकता की चरम सीमा कहा जाता है। इन पत्रों में बॉनहोयफर ने लिखा है कि ईश्वर जो हमारे साथ है, वह चाहता है कि हम ईश्वरहीन रूप में रहे हैं। हमारा ईश्वर वह है, जो हमारा त्याग करता है। ईश्वर हमारी मनचाही आशीषों को नहीं दे सकता है।^१ अतः, बॉनहोयफर

१. Dietrich Bonhoeffer, Letters and Papers from Prison, Fontana Books, 1969, pp. 122-123.

और सिद्ध आत्माओं की आराधना में किसी प्रकार का अन्तर देखने में नहीं आता है। अन्तर यही है कि जिस बात को जनों ने लगभग दो हजार वर्ष पूर्व अनुभूत कर लिया है, उसे अब पाश्चात्य देशों में मान्यता दी जा रही है। पर, इस प्रकार के सिद्धों की पूजा को क्या अनावश्यक समझा जा सकता है? मेरी समझ में सिद्ध आत्मा का कोई भी रूप हम क्यों न खींचे, यह केवल मनोवैज्ञानिक प्रतीक है, जिसके द्वारा अचेतन मन की ग्रन्थियाँ विलीन हो जाती हैं और उनमें निहित मानसिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि इस रूप में ईश्वर-पूजा को स्थान दिया जाय, तो ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विना ईश्वर की वास्तविकता को स्वीकार किये हुए मानव जीवन में शुभ लक्ष्य की प्राप्ति में अनुप्रेरणा लाभ कर सकता है। ईश्वर का अस्तित्व अधिक-से-अधिक मनोवैज्ञानिक कहा जायगा, न कि तात्त्विक। ईश्वर न तो प्रत्यक्ष का विषय है और न तत्त्व का। ईश्वर गुंगे के गुड़ के आस्वादन के रूप में आत्मकथात्मक आत्मनिष्ठ अनुभूति का विषय है। जैन धर्मदर्शन के अनुसार जिसने ईश्वर का यह रूप नहीं समझा, वह अब भी मूढमति अज्ञानी है।

जैन आध्यात्मिक कथनों की अर्थपूर्णता :

वे कथन, जिनमें किसी तथ्य के होने-रहने की सूचना दी जाती है, संज्ञानात्मक कहे जाते हैं। संज्ञानात्मक कथन सत्य-असत्य कहे जा सकते हैं। यदि कथन में दी गई सूचना की इन्द्रियानुभव द्वारा पुष्टि हुई, तो उसे सत्य अन्यथा उसे असत्य कहा जायगा। तथ्य आत्मनिष्ठ अनुभूतिविषयक भी हो सकता है और बाह्य वस्तुविषयक भी। आत्मनिष्ठ अनुभूति का सत्यापन शारीरिक व्यापारों के द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, यदि साधक उद्विग्न दिखे, तो उसे ध्यानसिद्ध नहीं कहा जायगा। परन्तु, यदि साधक धैर्य जाने पर भी न प्रसन्न हो और न क्रुद्ध, तो उसे वीतराग कहा जायगा। अतः संज्ञानात्मक कथनों की अर्थपूर्णता संज्ञापनीय (Communicable) पुनरावृत्ति (Repeatable) तथा सार्वजनिक अनुभूतियों के द्वारा निर्धारित की जाती है। चूँकि जैन आध्यात्मिक कथनों में पारलौकिक वस्तुगत सत्ता का उल्लेख नहीं किया जाता है, और चूँकि इनमें आत्मनिष्ठ पूर्णता का ही उल्लेख किया जाता है, इसलिये इन कथनों को आत्मकथात्मक ही माना जायगा। अतः, जैन आध्यात्मिक कथनों की अर्थपूर्णता में बाह्य शरीर-व्यापार के द्वारा ही अर्थपूर्ण सिद्ध की जा सकती है। परन्तु, इनमें अनेक आध्यात्मिक कथन तत्त्व

मीमांसात्मक हैं, जिनका कोई भी सत्यापन साक्षात् रूप से नहीं किया जा सकता है। अज्ञान, संसार, कर्मसिद्धान्त, आत्मा की नित्यता आदि तत्त्व-मीमांसात्मक कथन हैं और इन्हें साक्षात् रीति से सत्यापित-मिथ्यापित नहीं किया जा सकता है। परन्तु, इनका असाक्षात् तर्कतः सत्यापन हो सकता है।

१. यदि अज्ञान और कर्मसिद्धान्त सम्भव हैं, तो मोक्ष प्राप्त हो सकता है।
२. गुणस्थान तथा ध्यान के आधार पर मोक्ष प्राप्त होता है।
३. इसलिये तत्त्वमीमांसात्मक अज्ञान, संसार और कर्मसिद्धान्त भी सत्यापित हुए।

इसे सही न्याय नहीं समझा जायगा। परन्तु, विज्ञान-पद्धति में इसी प्रकार प्रयोग सत्यापन किये जाते हैं। जितनी बार मोक्ष-प्रयोग सिद्ध होगा, उतना ही अधिक जैनतत्त्वमीमांसा को पुष्ट समझा जायगा। परन्तु, इसका सबसे प्रमुख अंग होगा, मुक्तिमार्ग और मोक्षगति। क्या इन्हें सत्यापित किया जा सकता है?

मोक्षगति किसी भी साधारण, आवृत्तीय, सार्वजनिक इन्द्रियानुभव के द्वारा सत्यापित नहीं की जा सकती है। अन्तिम ध्यान-धारणा तथा गुणस्थान की अन्तिम अवस्था क्षणमात्र की होती और इसलिये इसकी कोई परीक्षा नहीं की जा सकती है। साधक भी अपनी कोई आत्मकथा प्रस्तुत करने में असमर्थ होता है। परन्तु, मोक्षमार्ग की कुछ अवस्थाओं का अध्ययन सम्भव है। यदि अनेक साधक गुणस्थान तथा ध्यान की सीढ़ियों का एक ही प्रकार का क्रम उपस्थित करें और प्रत्येक क्रम की व्याख्या प्रस्तुत करें, तो आध्यात्मिक अनुक्रम को बहुत दूर तक सत्यापित समझा जायगा। ऐसा ज्ञात होता है कि यह आध्यात्मिक अनुक्रम वास्तव में बार-बार सिद्ध देखा गया है। यही बात बौद्ध समाधि में भी देखी जाती है। अतः, बहुत दूर तक जैनों के आध्यात्मिक मोक्षमार्गीय कथनों को अर्थपूर्ण माना जा सकता है।

दूसरी बात है कि ध्यान की सोपान-क्रमिक व्यवस्था में ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति बतायी जाती है। यह ठीक है कि इन अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति को आध्यात्मिक विकास में नहीं गिना जाता है। परन्तु, इन सिद्धियों को सार्वजनिक रीति से आवृत्तीय स्वीकारने पर मोक्षमार्गीय कथनों को अर्थपूर्ण माना जा सकता है।

अन्त में, सभी प्रकार के आध्यात्मिक विकास में व्यापार-मुद्रा को ही अर्थपूर्णता की कसौटी स्वीकार किया गया है। कम-से-कम जीवन्मुक्त का सिद्धान्त जैन, बौद्ध और शांकर अद्वैतवाद में पाया जाता है और जीवन्मुक्तों का जीवन आध्यात्मिकता की अर्थपूर्णता सिद्ध करता है। इन जीवन्मुक्तों में जीवमात्रों के लिये मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, आत्तों के प्रति करुणा तथा रागवृत्ति से मुक्त माध्यस्थ भाव अनायास रूप से देखने में आता है। इसलिये, सामान्य रूप से जैनों के आध्यात्मिक कथनों को अर्थपूर्ण समझा जा सकता है? परन्तु, क्या जैन आदर्श को कालोचित समझा जा सकता है? क्या हम कह सकते हैं कि जैन आदर्श को समाजवादी, वैज्ञानिक अभ्यर्थना आदि के अनुरूप समझा जा सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति और समाज पर आधिपत्य न कर सकने के कारण ही भारतीय मुनियों ने आत्मविजय का प्रयोग हमें बताया था। क्या आत्मविजय को लोकहित या समाज-सेवा में अपने को विलीन कर हम नहीं प्राप्त कर सकते हैं? चूँकि इस प्रकार के प्रश्न बौद्ध तथा शांकर मत में भी उठाये जायेंगे, इसलिये इनका समाधान वाद में किया जायगा। यहाँ हम देखेंगे कि जो बात जैन धर्मदर्शन के सन्दर्भ में पायी जाती है, वे ही बात लगभग बौद्ध दर्शन में भी अधिक स्पष्टता तथा सुनिश्चितता के साथ देखी जाती है। अतः, निरीश्वरवादी बौद्ध दर्शन का अध्ययन अब अभीष्ट मालूम देता है।



अध्याय ५

निरीश्वरवादी बौद्ध धर्मदर्शन

विषय-प्रवेश : बौद्ध धर्म-परम्परा अवैदिक श्रमण-परम्परा से निकली है। अतः, बौद्ध धर्मदर्शन तथा वैदिक धर्म-मान्यताओं में सर्वथा विरोध देखने में आता है।

वैदिक मान्यता

१. स्वर्गप्राप्ति तथा स्वर्ग-सुख, जिसे प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन यज्ञकर्म को माना गया है। यह धर्म विशेषतया इस विश्व को स्वीकार करता है और इस विश्व को सुखी बनाने का प्रयास करता है। देवी-देवताओं से सन्तान-सुख, धन-धान्य की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है।

२. वर्ण-विचार तथा आश्रम-धर्म को वैदिक समझना चाहिये। ब्राह्मण को श्रेष्ठ माना जाता है।

३. स्वर्गप्राप्ति के लिये याज्ञिक हिंसा को अपनाया गया है, यद्यपि धीरे-धीरे जैन-बौद्ध मत के प्रभाव से वैदिक परम्परा में भी अहिंसा को अपनाया जाने लगा।

बौद्ध मान्यता

१. प्रचलित बौद्ध मत में भी स्वर्ग-कामना को स्थान दिया गया है। परन्तु, सिद्धान्ततः स्वर्ग-सुख को, औपनिषद परम्परा को स्वीकार करते हुए, तुच्छ माना गया है और मोक्ष-प्राप्ति को जीवन का निःश्रेयस् स्वीकारा गया है। अज्ञान, कर्मसिद्धान्त, संसार तथा मोक्ष को बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त समझना चाहिये।

२. बौद्ध मत के अनुसार जाति-पाँति का भेद, अर्थात् वर्ण-विचार को नहीं स्वीकार किया गया है। अनेक स्थलों पर ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को ही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण कर्म से, न कि जन्म से सम्भव होता है।

३. बौद्ध मत के अनुसार जीवन का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है और इसे शील, प्रज्ञा और विशेषकर समाधि के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसमें यज्ञकर्म का कोई स्थान नहीं है।

वैदिक मान्यता

फिर, ऐहिक सुख की प्राप्ति के लिये देवताओं की प्रशस्ति की जाती थी। इसलिये वैदिक धर्म को ईश्वरवादी कहा जा सकता है। इसे ऐहिकतावादी का बीज-रूप भी माना जा सकता है।

बौद्ध मान्यता

समाधि में व्यक्ति अपने ही अकेले प्रयास से अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये बौद्ध मत में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि बौद्ध मत को निरीश्वरवादी कहते हैं। चूँकि मानव अपने ही प्रयास से अपना निःश्रेयस् प्राप्त कर लेता है, इसलिये बौद्ध धर्म को आध्यात्मिक मानवतावाद कहा गया है।

समसामयिक दृष्टिकोण से बौद्ध धर्म को तत्त्वमीमांसा-विरोधी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, जैन-सांख्यादि परम्परा को ध्यान में रखते हुए बुद्ध भगवान् को तत्त्वमीमांसा-विरोधी कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने दस प्रश्नों को 'अव्याकृतानि' कहकर उनके समाधान करने से इनकार कर दिया था, अर्थात्,

१. क्या यह लोक शाश्वत है ?
२. क्या यह लोक अशाश्वत है ?
३. क्या यह सान्त है ?
४. क्या यह अनन्त है ?
५. क्या आत्मा और शरीर एक ही हैं ?
६. क्या आत्मा और शरीर एक दूसरे से भिन्न हैं ?
७. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ?
८. क्या मृत्युत्तर तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता है ?
९. क्या तथागत का जन्म होता भी है और नहीं भी होता है ?
१०. क्या तथागत का जन्म होना और न होना, दोनों असत्य हैं ?

टी० आर० मूर्ति ने इन दस प्रश्नों की तुलना कान्त महोदय के बाह्य अत्यानुभविक भ्रमों (Transcendental illusions) से की है। जिस प्रकार से

कान्त को तत्त्वमीमांसा-विरोधी कहा गया है, उसी प्रकार बुद्ध भगवान् को भी तत्त्वमीमांसा-विरोधी कहा जा सकता है। साथ-ही-साथ बुद्ध भगवान् ने उन्हीं बातों को मान्यता दी है, जिन्हें अनुभूति से सत्यापित किया जा सकता है। इस अर्थ में बौद्ध धर्मदर्शन को प्रत्यक्षवादी (Positivist) कहा जा सकता है। दुःख-सिद्धान्त को प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त कहा जा सकता है। परन्तु, अनात्मवाद, कर्मवाद, अज्ञान-संसार, क्षणिकवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद को तत्त्व-मीमांसात्मक गिना जायगा; क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्तिम तत्त्वों से है और फिर इन्हें अनुभूति के द्वारा साक्षात् रीति से सत्यापित नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अज्ञान को अनादि माना गया है। आवागमन को कोई भी विश्वसनीय तथा आवृत्तीय अनुभूति के आधार पर सत्यापित नहीं कर सकता है; क्योंकि इसमें मरणान्तर जीवन का उल्लेख रहता है, जिन्हें साधारण अनुभूति के द्वारा ज्ञान का विषय नहीं कहा जायगा। आत्मा-सम्बन्धी गवेषणा के सम्बन्ध में बुद्ध भगवान् मौन धारण कर लेते थे। इसलिये, या तो अनात्मवाद को अवक्तव्य विषय मान लिया जाय; नहीं तो इसे भी तत्त्वमीमांसात्मक ही समझा जायगा। कर्मसिद्धान्त नैतिक तथा धार्मिक चिन्तन का अभ्युपगम (Postulate) माना जायगा, न कि सिद्ध नियम। अज्ञान-कर्म-संसार-मोक्ष श्रमण-परम्परा के मूल सिद्धान्त हैं, जिन्हें उपनिषद्, जैन-बौद्धमत तथा शांकर अद्वैतवाद में स्वीकार किया गया है। वर्तमान युग में इन सिद्धान्तों को अवैदिक स्वीकार करते हुए भी इन्हें हिन्दुत्व का मुख्य स्तम्भ मानना चाहिये। इन चार सिद्धान्तों को मानते हुए क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद तथा अनात्मवाद को बौद्ध धर्मदर्शन का विशिष्ट लक्षण स्वीकारना चाहिये। साथ-ही-साथ बौद्ध दर्शन को निरीश्वरवादी तथा कर्मवादी कहना चाहिये। फिर, चूँकि जैन धर्मदर्शन के साथ ही बौद्ध धर्मदर्शन का उदय हुआ और चूँकि जैन धर्मदर्शन को घोर तपस्या का धर्म कहा जाता है, इसलिये इसकी तुलना में बौद्ध धर्मदर्शन को मध्यमार्गी कहा जा सकता है। अतः, यहाँ बौद्ध धर्मदर्शन के निरीश्वरवाद, कर्मवाद तथा मध्यमार्ग की अति संक्षिप्त व्याख्या की जायगी।

निरीश्वरवाद : तीन मुख्य अर्थों में 'ईश्वर' पद को काम में लाया गया है, अर्थात्,

- (क) व्यक्तित्वपूर्ण परमात्मा, जो सर्वदा शुद्ध, बुद्ध, सृष्टिकर्त्ता और मानवों का कर्मफलदाता है।

(ख) ईश्वरत्व ईश्वर-तत्त्व अथवा (Godhead), जिसे परमतत्त्व समझा जा सकता है। इस रूप में भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण तथा निर्वैयक्तिक, दोनों ही अर्थ में काम में लाया जाता है। उपनिषदों में और बाद में राधाकृष्ण तथा महर्षि अरविन्द के दर्शन में व्यक्तित्वपूर्ण परमात्मा के स्थान पर ईश्वरतत्त्व की ही चर्चा की गई है।

(ग) देवी-देवताओं को भी लघु ईश्वर के रूप में व्यवहृत किया गया है।

बुद्ध भगवान् ईश्वर के अस्तित्व को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। यही नहीं, बुद्धघोष ने (ज० ईसवी ३६०) बुद्धचरित्र में बुद्ध भगवान् के मुख से निकली निम्नलिखित निरीश्वरवादी युक्ति को भी प्रस्तुत किया है :

“यदि ईश्वर इस विश्व का रचयिता होता, तब सभी वस्तुयें उससे उत्पन्न होकर क्यों नाशवान् होतीं, क्यों दुःख और विनाश होता, क्यों कोई भी कार्य अनुचित होते।

“यदि चेतन प्राणियों में दुःख-हर्ष, प्रेम-घृणा ईश्वर-रचित होते, तो इन भावों का रचयिता भी दुःख-हर्ष, प्रेम-घृणा आदि से आक्रान्त होता और इन भावों से आक्रान्त आत्मा किस प्रकार पूर्ण कही जा सकती है ?

“यदि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो और यदि सभी घटनायें ईश्वर से ही संचालित हों, तो पुण्य करने से क्या लाभ हो सकता है ? यदि शुभ और अशुभ दोनों को ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है, तो ईश्वर के लेखे ये दोनों एक-बराबर माने जायेंगे।

“परन्तु, यदि अशुभ का कर्त्ता (ईश्वर को छोड़कर) अन्य कारण हों, तो इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर के बिना भी कुछ घटनायें अन्य कारणों से उत्पन्न हो सकती हैं। तो क्यों नहीं, सभी घटनायें अन्य कारणों से अथवा अकारण मानी जायें ?

“फिर यदि इस विश्व का ईश्वर रचयिता हो, तो उसने इसकी रचना या तो किसी उद्देश्य से की होगी, या निरुद्देश्य रूप में की होगी। यदि किसी उद्देश्यपूर्ति के लिये ईश्वर ने विश्व की रचना की है, तो ईश्वर पूर्ण नहीं

कहा जा सकता; और यदि उसने निरुद्देश्य भाव से सृष्टि की है, तो यह रचना बच्चों का निरुद्देश्यपूर्ण खेल है।”

यह कहना कठिन है कि वास्तव में ईश्वर-विरोधी युक्तियाँ बुद्ध-वचन में निहित हैं या नहीं; क्योंकि परम्परा के अनुसार बुद्ध भगवान् ईश्वर-सम्बन्धी चिन्तन के सन्दर्भ में मौन रह जाते थे। ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों को बुद्ध भगवान् ‘अव्याकृतानि’ मानकर चुप हो जाते थे। परन्तु, बाद में चलकर बौद्धों ने ईश्वर-विरोधी युक्तियों को प्रचण्ड रूप में प्रस्तुत किया है, जिनका उल्लेख बाद में किया जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्मदर्शन को सिद्धान्ततः निरीश्वरवादी समझा जायगा। परन्तु, क्या बौद्ध धर्मदर्शन को जड़वादी नियतिवाद समझा जाय? निर्वाण-प्राप्ति को अध्यात्मवाद कहा जायगा, न कि जड़वाद।

कर्मवाद : भारतीय नैतिक सिद्धान्त में यह वाद जड़ पकड़े हुए है कि सभी जीव अपने कर्मों से ही संचालित होते हैं। पूर्वमीमांसा का निरीश्वरवाद भी इसी कर्मसिद्धान्त पर टिका हुआ है। बहुधा इसी कर्मसिद्धान्त से प्रभावित होकर विचारक अपने को ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी दोनों मानते हैं। न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक जीव का, अनेक जन्मों के फलस्वरूप, कर्मसंस्कार इतना जटिल हो गया है कि संस्कार के अनुसार फल होने के लिये एक परम बुद्धिमान् ईश्वर की आवश्यकता हो जाती है, जो प्रत्येक जीव को उसके पूर्व कर्मसंस्कारों के अनुसार फल प्रदान करे। पूर्वमीमांसा तथा अन्य निरीश्वरवादियों के अनुसार कर्म के फल को ईश्वर भी नहीं बदल सकता है। स्वयं देवता भी अपने कर्मों से बंधे होते हैं। परन्तु, अनेक भारतीय विचारक कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हुए पुरुषकार को भी स्वीकार करते हैं। बुद्ध भगवान् दैववादी नहीं थे। वे मानते थे कि मानव अपने प्रयास से निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं और सभी कर्मों से मुक्त होकर बुद्ध हुए दीप के समान शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। शील, समाधि तथा प्रज्ञा के आधार पर मानव अन्तिम गति को प्राप्त कर सकते हैं। अतः, बुद्ध भगवान् कर्मवीर मानवतावादी थे।

मध्यममार्ग : जैनधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म के उदयकाल में अनेक पन्थ थे, जिनमें घोर त्याग और तपस्या का पाठ सिखाया जाता था। स्वयं बुद्ध भगवान् ने अनेक वर्षों तक घोर तपस्या की थी। परन्तु, बोधि प्राप्त कर

लेने के बाद बुद्ध भगवान् ने घोर तपस्या के मार्ग को व्यर्थ के कष्ट का भाग पाया। न तो बुद्ध भगवान् प्रेयस् को सही मानते थे और न घोर तप को। प्रेयस्-मार्ग वह था, जिसमें यज्ञादि कर्मकाण्ड किया जाता था, परन्तु जीवन में इस कर्मकाण्ड से सुख-प्राप्ति का लक्ष्य स्वीकारा जाता था। प्रायः कर्मकाण्डों जीवन में सुखभोगी होते थे। इसके विपरीत, बुद्ध भगवान् ने स्वर्ण मध्यममार्ग का अनुसरण करने का आदेश दिया है। इन्होंने अष्टांगिक मार्ग को ही मध्यममार्ग बतलाया है।

फिर, बुद्ध भगवान् ने न तो उच्छेदवाद को और न शाश्वतवाद को अपनाया है। उच्छेदवाद के अनुसार मृत्यु के बाद कोई भी स्थायी आत्मा नहीं पायी जाती है। शाश्वतवाद के अनुसार, आत्मा अमर है और यह देह से भिन्न स्वन्तत्र सत्ता है। बौद्ध धर्म के अनुसार, न तो आत्मा देह से अनन्य है और न अन्य। जिस प्रकार, अग्नि न तो ईन्धन से स्वतन्त्र है और न यह केवल ईन्धन-मात्र है। जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह स्कन्ध-मात्र अथवा मानसिक घटनाओं की प्रवाह-राशि है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार, प्रत्येक प्रत्यक्ष वस्तु अनेक संवेदनाओं का संघात अथवा संघटित व्यवस्था है। जब तक यह संघात (संघटित व्यवस्था) ज्यों-का-त्यों बताया जा सकता है, तब तक उस वस्तु को उसी नाम से पुकारा जाता है। जैसे, यह मेज़, जिसपर मैं लिख रहा हूँ, अनेक वर्षों से है और इसमें अनेक परिवर्तन और मरम्मत हुए हैं, तो भी इन सब परिवर्तनों के बावजूद कहा जाता है कि यह वही मेज़ है, जिसे मैंने ४० वर्ष पहले खरीदा था। इसी प्रकार, राम को अब भी 'राम' पुकारा जाता है, यद्यपि राम अब ६० वर्ष के हो गये हैं और अब उनमें बचपन से जवानी तक का कोई भी लक्षण अक्षुण्ण नहीं रह पाया है। इसी प्रकार, जबतक स्कन्ध अथवा मानसिक प्रक्रियाओं की सामुदायिक राशि का गेस्टाल्ट अथवा संघात एक रूप में रहता है, तब तक आत्मा को 'आत्मा' संज्ञा दी जाती है। बौद्ध धर्म के अनुसार, विविध आत्मा का स्कन्ध अथवा संघात असंख्य जन्म-जन्मान्तरों तक बना रहता है जबतक कि भव, तृष्णा, वेदना आदि का अन्त नहीं हो जाता है। परन्तु संघात को संघटकों अथवा अवयवों से स्वतन्त्र नहीं समझा जा सकता है। मेज़ को इसके पैरों, चौकोनों, ऊपरी तख्ता आदि के संघात (स्कन्ध) से स्वतन्त्र नहीं समझा जा सकता है। बैलगाड़ी पहिया, धुरी आदि का स्कन्ध है।

जब पहिया, धुरी, जुआ आदि अलग-अलग हो जाते हैं, तब बैलगाड़ी भी समाप्त हो जाती है। अन्तर इतना ही है कि गाड़ी संघात को स्कन्ध में रखने के लिये कोई आन्तरिक चिपकानेवाली वस्तु नहीं रहती है। परन्तु, जीव-स्कन्ध को जन्म-जन्मान्तरों तक संरक्षित रखने के लिये भव, तृष्णा, वेदना आदि द्वादश निदान हैं। जब देह छूटता है, तब फिर, सूक्ष्म शरीर के द्वारा वह संघात एक जन्म से अन्य जन्मों में संक्रमण करता रहता है। जिस प्रकार, एक मोमबत्ती बुझने के पहले दूसरी मोमबत्ती को जलाकर एक ही प्रकार के प्रकाश को कायम रखती है, उसी प्रकार एक मानसिक प्रक्रिया का प्रवाह दूसरे समान प्रवाह में संक्रमित होकर जीवात्मा को संरक्षित किये रहता है। इस मानसिक प्रक्रिया की सन्तति (प्रवाह) को न तो नित्य कहा जा सकता है और न अनित्य। 'नित्य' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस स्कन्ध का अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से विलयन हो सकता है। फिर, इसे 'अनित्य' भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों में विशिष्ट जीवात्मा का संक्रमण होता रहता है। अतः, बुद्ध भगवान् न तो उच्छेदवाद को (भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः) और न शाश्वतवाद को (जैसा जैन, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में स्वीकारा गया है) ही अपनाते हैं। इस अर्थ में भी बौद्ध धर्मदर्शन को मध्यममार्गी समझा जा सकता है।

बौद्ध भगवान् के अवैदिक विहार में स्तूपों, चैत्यों, यक्ष, नाग तथा वट आदि वृक्षों की पूजा होती थी। बुद्ध भगवान् ने इन पूजाओं को निषिद्ध नहीं किया। यदि कोई उपासक (अर्थात्, गृहस्थ बौद्ध) बुद्ध, संघ तथा धर्म की दीक्षा लेकर अन्य प्रचलित रिवाजों को भी स्वीकार करता था, तो बुद्ध भगवान् ने इन उपासकों को छूट दी थी। यह बात जैनमत में लागू नहीं थी। जैनमत में श्रावकों (जैन गृहस्थों) को पंचमहाव्रत का पूर्ण पालन करना अनिवार्य समझा जाता था। परन्तु, बुद्ध भगवान् ने उपासकों को अपनी धर्म-परम्परा को नहीं छोड़ने का आदेश दिया था। यही कारण है कि बौद्धों में वट, स्तूप, चैत्य आदि अन्त तक आदर के विषय बने रहे। इस अर्थ में भी बौद्ध धर्म को मध्यममार्गी कहा गया है। फिर, बौद्ध धर्म में भक्ति और ज्ञान दोनों का समन्वय है। बुद्ध भगवान् ने बराबर आदेश दिया कि तर्कबुद्धि के द्वारा ही बौद्ध मत के सिद्धान्तों की परीक्षा करनी चाहिये। फिर, भक्ति के द्वारा बुद्धि विमल होती है, इस बात को भी स्पष्ट देखा जाता है।

बौद्ध धर्म के अनुसार, प्रत्येक जिज्ञासु को अपने ही कठिन प्रयास से निर्वाण प्राप्त करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये स्वयं दीपक है और दूसरे की शरण लेना व्यर्थ है। परन्तु, आत्मदीप के आलोक से ही बोधित होता है कि कोई भक्त है, कोई ज्ञानी है और कोई अद्भुत योगी। जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति है, वह उसी के अनुसार, अपना निर्वाण ढूँढ़े। इस अर्थ में भी बौद्ध धर्म को मध्यममार्गी कहा जा सकता है।

बुद्ध भगवान् ने अपने मत को चार आर्यसत्त्यों के आधार पर व्याख्या किया है और इन चार आर्यसत्त्यों (चत्वारि आर्यसत्यानि) की व्याख्या करके पर बौद्ध धर्मदर्शन पर प्रकाश पड़ सकेगा। ये चार आर्यसत्य हैं :

१. दुःख है।

२. दुःख का कारण है : द्वादश निदान।

३. दुःख के निरोध का मार्ग है : अष्टांगिक मार्ग।

४. दुःख का अन्त, अर्थात् निर्वाण।

अब प्रत्येक आर्यसत्य की व्याख्या की जायगी।

१. दुःख है :

भारतीय धर्मदर्शन की श्रमण-परम्परा में मान लिया गया है कि जीवन दुःख है। सांख्यकारिका के प्रथम सूत्र में ही दुःखत्रय, अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों की चर्चा की गयी है। परन्तु, बुद्ध भगवान् ने दुःखों पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने दुःखों को स्पष्ट करने के लिए, जरा-मरण, बीमारी तथा मृत्यु की बात कही है। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें बीमारी, बुढ़ापा और अन्त में मृत्यु नहीं दिखाई देती है। परन्तु, क्यों नहीं कहा जाय कि जीवन में सुख-दुःख दोनों हैं? क्यों जीवन को सर्वथा दुःखमय ही कहा जाय? बुद्ध भगवान् ने बताया है कि वास्तव में सुख भी दुःख से ही भरा है और दुःख की तुलना में सुख स्थायित्व नहीं है; क्योंकि सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। प्रियजनों का विच्छेद अवश्यम्भावी है। जिन वस्तुओं पर हमारा भरोसा है, वे सभी विनश्यत होनेवाली हैं। सभी वस्तुएँ अनित्य इसीलिये हैं कि वे सभी क्षणभंगुर हैं। वस्तुएँ स्कन्ध अथवा संघात हैं और सभी संघात एक-न-एक दिन समाप्त

जानेवाले हैं। पर, क्या स्कन्ध के आधार में नित्य अणु नहीं हैं? बौद्ध दर्शन में किसी भी अवयव को शाश्वत अणु नहीं माना गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के स्कन्ध से शरीर तथा अन्य वस्तुयें सम्भव होती हैं, परन्तु बौद्ध दर्शन में किसी भी द्रव्य को नित्य नहीं माना गया है। सभी वस्तुयें क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती हैं और प्रत्येक क्षण में उनका उदय, स्थिति और विनाश होता रहता है।

तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से बौद्ध दर्शन में ह्वाइटहेड के अणु-परक क्षणिक घटना की झलक दिखाई देती है और इसलिये बौद्ध दर्शन को प्रक्रम-दर्शन (Process philosophy) के अन्तर्गत रखा जायगा। अपितु, बुद्ध भगवान् दुःख-सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान खींच कर बताना चाहते हैं कि जीवन में कहीं भी स्थिरता नहीं दिखाई देती है। ऐसा आभासित होता है कि सभी वस्तुयें और जीव असत् से ग्रस्त हैं। फिर, मानव को आभासित होता है कि उन्होंने अपने-आप को अथवा अपने सत् को नहीं प्राप्त किया है। यह अन्यदेशीपन (Estrangement, Alienation) का भान होना, भारतीय धर्मदर्शन की मुख्य मान्यता है। पाश्चात्य ईसाई धर्मदार्शनिकों ने भी, सन्त अगस्टिन से कार्ल बार्थ तक, स्वीकार किया है कि मानव के अन्दर एक ईश्वरीय बेचैनी अथवा व्याकुलता पायी जाती है, जो उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर अनुप्रेरित करती है। अतः, बौद्ध दर्शन का दुःख-सिद्धान्त मानव की इस अस्तित्ववादी (Existential) स्थिति का भान कराता है, ताकि मानव इस स्थिति से अवगत होकर अपने सत् (Being) की प्राप्ति करे और प्रयत्नशील हो जाय। बुद्ध भगवान् कर्मसिद्धान्त को मानते हुए भी पुरुषकार को ही प्रथम स्थान देते हैं। इनके अनुसार, मानव अपने ही प्रयास के बल पर अपना निर्वाण प्राप्त कर सकता है। न तो देवी-देवताओं के अनुग्रह से और न किसी के कहे-सुने से कोई भी भिक्षु अहंत्व को प्राप्त कर सकता है : 'अत्तदीपो विहरथ।' अतः, बुद्ध भगवान् स्वतन्त्र इच्छा के पोषक थे और बताते थे कि प्रत्येक मानव स्वयं अपना ही निर्माता है। इसलिये अनित्यता तथा क्षणिकवाद को न तो तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त मानना चाहिये और न निराशावाद। मानव को अपनी वास्तविक स्थिति से अवगत कराकर उनमें बोधि-प्राप्ति की आग सुलगाने के लिए अनित्यता और क्षणिकवाद का सन्देश दिया गया है। 'अप्पो दीपो भव' का सन्देश देकर बुद्ध भगवान् ने आत्मनिर्भरता तथा कर्मठता

का सन्देश दिया है। अतः, बौद्ध दर्शन न तो अक्रियावादी है, न निराश्रयवादी है; प्रत्युत यह मानवतावादी कर्म का सन्देश-संवाहक है।

२. दुःख का कारण है : द्वादश निदान :

दुःख अथवा जरा-मरण की व्याख्या को आत्मव्याख्येय बनाने के लिए बुद्ध भगवान् ने किसी पारलौकिक सत्ता तथा देवकथा (Myth) की सहायता नहीं ली है। उन्होंने सर्वमान्य कारण-कार्य-सिद्धान्त के आधार पर ही दुःख का कारण बताने का प्रयास किया है, ताकि अन्त में इसका निवारण भी किसी पारलौकिक सत्ता के आधार पर सम्भव हो सके।

बुद्ध भगवान् के अनुसार, मानव-जीवन बारह कड़ियों की शृंखला है जिसे द्वादश-निदान तथा भाव-चक्र भी कहते हैं। यथा :

- | | |
|------------|-------------|
| १. अविद्या | ७. वेदना |
| २. संस्कार | ८. तृष्णा |
| ३. विज्ञान | ९. उपादान |
| ४. नाम-रूप | १०. भव |
| ५. षडायतन | ११. जाति |
| ६. स्पर्श | १२. जरा-मरण |

यह भाव-चक्र कारण-कार्य के सिद्धान्त पर अवलम्बित है और इस सिद्धान्त को इस सन्दर्भ में बुद्ध भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार, एक घटना के होने पर दूसरी घटना का उत्पाद अथवा उद्भव होता है। अतः, विश्व को घटना-प्रवाह समझना चाहिये, जहाँ 'इसके होने पर यह होता है' इसे ही प्राथमिक सिद्धान्त स्वीकारना चाहिये। यहाँ, विश्व की स्वायत्तता स्वीकारी जाती है और निम्नांकित धारणाओं को नकारा जाता है :

१. विश्व अकारण अथवा अहेतुक नहीं है।
२. विश्व का कोई सृष्टिकर्ता नहीं है।
३. विश्व का मूलाधार नित्य अणु अथवा प्रकृति नहीं है।
४. विश्व नियतिवाद से जकड़ा नहीं है। इसलिये मानव को भाग्य भरोसावाद नहीं अपनाना चाहिये और अपने पुरुषकार से ही अपने निर्वाण को प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्रत्येक घटना क्षणिक होती है और एक ही क्षण में प्रत्येक घटना का उदय, उसकी स्थिति तथा विनाश होता है। इसलिये एक घटना के होने पर जब दूसरी घटना होती है, तब इन दोनों घटनाओं की श्रृंखला में केवल पूर्वापर (पहले और बाद) सम्बन्ध ही होता है। अतः, घटनाओं की सन्तति तथा प्रवाह को विशेष मानना चाहिये, जहाँ एक घटना के होने पर दूसरी घटना का उत्पाद होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर द्वादश निदान या कड़ियों की व्याख्या की जा सकती है।

अविद्या : अधिकतर श्रमण-परम्परा में भारतीय धर्मदर्शन में अविद्या (अज्ञान) को मानव-दुःख का मूल कारण मान लिया गया है। परन्तु, सभी दर्शनों में अविद्या का एक अर्थ नहीं पाया जाता है। बौद्ध धर्मदर्शन में अविद्या के निम्नलिखित अर्थ लगाये जाते हैं :

१. 'चत्वारि आर्यसत्यानि' की अनभिज्ञता।
२. अनित्य को नित्य समझना तथा आत्मा के सम्बन्ध में शाश्वतवाद-उच्छेदवाद के भ्रामक सिद्धान्तों को अपनाना।
३. विश्व की क्षणिकता का ज्ञान होना।

चूँकि, मानव द्वादश निदान को नहीं समझता है, इसलिये अज्ञानवश वह सभी प्रकार के भ्रामक सिद्धान्तों को स्वीकार कर सकता है। परन्तु, मूल अज्ञान अहंभाव अथवा अहंमन्यता के कारण होता है। जबतक मानव का 'यह मेरा है', 'मैं यह हूँ' इत्यादि भ्रम नहीं छूटेगा, तबतक उसे निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता है। इसी अहंभाव में मानव की सभी रागद्वेषात्मक वृत्तियाँ छिपी हुई हैं। अतः, अहंमन्यता को मानव का मूल अज्ञान कहा जा सकता है तथा अहंमन्यता के विलयन को निर्वाण-प्राप्ति का मुख्य आधार माना जा सकता है।

संस्कार : बुद्ध भगवान् अन्य श्रमण विचारकों के समान मानते थे कि मानव अनेक जन्म-जन्मान्तरों से गुजरता है। अनेक जन्मों के कर्मों के फल-स्वरूप मोटी परत जम जाती है। चूँकि, अज्ञानवश कर्म किये गये हैं, इसलिये इन संस्कारों के फलस्वरूप मानव का अज्ञान भी गहरा हो जाता है और आत्मा को शाश्वत समझकर या उसका उच्छेदन समझकर मानव तृष्णा में बना

रहता है। फिर, संस्कारों के, अर्थात् संचित कर्मों के फलस्वरूप विविध प्रकार का शारीरिक संघात अथवा स्कन्ध भी तैयार हो जाता है, जिसके कारण जीव अनेक जन्मों में संक्रमण करता रहता है। यही कारण है कि निर्विण्ण-प्राप्ति के लिये इन संस्कारों का उन्मूलन करना पड़ता है।

विज्ञान, नाम-रूप : 'विज्ञान' से यहाँ चैतन्य का बोध होता है। संस्कार के रहने के कारण मानव को संसार की विषय-वस्तु की लालसा बनी रहती है और इसलिये जन्म प्राप्त कर वस्तुओं की चेतना उत्पन्न होती है। यहाँ समझा जाता है कि मरणकाल में जिस जीव की कल्पना होती है, उसी जीव में मानव फिर से जन्म लेता है। परन्तु, किसी जीव-विशेष की कल्पना भी मानव के अपने पूर्व-संस्कार के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

'रूप' से यहाँ भौतिक पदार्थ का बोध होता है और 'नाम' से संज्ञा, वेदना और संस्कार के चैतन्यपूर्ण संघात का बोध होता है। इसलिये, नाम-रूप गर्भस्थ भ्रूण के मन-शरीर के उस संघात को कहते हैं, जिसमें वस्तुओं के उपभोग की लालसा के लिये प्रवृत्ति बनी रहती है। दूसरे शब्दों में मरणकाल में प्रतिसन्धि-विज्ञान के कारण जीव गर्भस्थ होता और इस भ्रूण में वस्तुओं को प्रत्यक्ष करने, उनके भोग करने (वेदना) तथा अन्य संस्कारों के होने की सम्भावना भी हो जाती है।

षडायतन : वस्तुओं का प्रत्यक्ष (संज्ञा) तथा उनके उपभोग करने की प्रवृत्ति तबतक नहीं हो सकती है, जबतक छः इन्द्रियाँ (अर्थात्, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय) न हों।

स्पर्श : परन्तु, जबतक वस्तु और इन्द्रियों का सम्पर्क न स्थापित हो, तबतक न उनका प्रत्यक्ष ही सम्भव होगा और न उनका उपभोग ही सम्भव है। अतः, जीवन में अनुभूति के जारी रहने के लिये वस्तु-स्पर्श आवश्यक कड़ी हो जाती है।

वेदना : वस्तु-इन्द्रिय-सम्पर्क से उत्पन्न वस्तु की चेतना उत्पन्न होती है।

तृष्णा : जितनी वस्तुओं से वेदना उत्पन्न होती है, उतनी ही अधिक उन वस्तुओं के उपभोग करने की लालसा दृढ़ होती जाती है।

उपादान : वस्तुओं को प्राप्त करने तथा उनके उपभोग करने की लालसा से वस्तुओं में लिपटे रहने (उपादान—जकड़कर पकड़ना) की प्रवृत्ति जन्म जाती है।

भव : विषय-प्राप्तना में लिपटे रहने की आकांक्षा के कारण मानव बार-बार जन्म लेता रहता है। 'भव' से जन्म लेने की प्रवृत्ति का बोध होता है।

जाति : भव के फलस्वरूप मानव जन्म लेता है और जन्म लेने के उपरान्त जीव में—

जरा-मरण : अर्थात्, दुःख का होना जारी हो जाता है।

इन बारह कड़ियों में 'तृष्णा' को मुख्य समझा गया है; क्योंकि इसके ही कारण अन्य कड़ियाँ भी जारी रहती हैं। परन्तु, तृष्णा के आधार में भी अहंमन्यता को स्वीकारा जाता है; क्योंकि तृष्णा तबतक बनी रहेगी, जबतक मानव में यह भावना बनी रहती है कि 'मैं इन वस्तुओं का उपभोक्ता हूँ', या 'मुझे इन वस्तुओं की प्राप्ति नहीं हुई है।' यहाँ प्रश्न होता है कि यदि आत्मा नित्य नहीं है, तो जन्म-जन्मान्तरों में क्या संक्रमण करता है ?

इसका प्रत्युत्तर 'मध्यममार्ग' के सन्दर्भ में कर दिया गया है और फिर इसकी चर्चा निर्वाण के सन्दर्भ में की जायगी। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि बुद्ध भगवान् पुनर्जन्म को मानते हैं, परन्तु आत्मा के आवागमन को नहीं स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ है कि बुद्ध भगवान् के लिए कोई स्थायी आत्मा नहीं है, जो बार-बार जन्म लेती है। परन्तु, स्कन्ध की स्थिति को स्वीकारा जाता है। जबतक स्कन्ध अथवा संघात जारी रहेगा, तबतक पुनर्जन्म जारी रहेगा। पाँच तत्त्वों के स्कन्ध को जीव कहते हैं, अर्थात् नाम-रूप। रूप के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के महाभूत आते हैं और नाम के अन्तर्गत संज्ञा (वस्तु-प्रत्यक्ष), वेदना (रागात्मक धृत्तियाँ), संस्कार (अथवा कर्म-संस्कार) तथा विज्ञान (वस्तु-ज्ञान) गिने जाते हैं। जबतक स्कन्ध-विशेष संरक्षित रहता है, तबतक हम उसे उसी नाम से पुकारते हैं। पुनर्जन्म में एक स्कन्ध समाप्त होने के पूर्व कर्मसंस्कार के फलस्वरूप एक सदृश सूक्ष्म स्कन्ध बना लेता है और तब वह दूसरे सदृश स्कन्ध में संक्रमित हो जाता है। यहाँ मोमबत्ती की उपमा दी जाती है। एक बत्ती बुझने के पहले दूसरी बत्ती को जला देती है और प्रकाश पूर्ववत् बना रहता है। इसी प्रकार, एक स्कन्ध विनष्ट होने के पूर्व दूसरे सदृश स्कन्ध में संक्रमित होकर जीव-क्रिया जारी रहती है। यहाँ स्थायी आत्मा की कल्पना नहीं की गयी है। यहाँ दो स्कन्धों में लगाव अवश्य है। परन्तु, वे पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार सभी घटना-चक्र की कड़ियाँ हैं। जबतक

घटना-प्रवाह जारी है, तभी तक अमुक वस्तु उस रूप में समझी जाती है। यह बौद्ध दर्शन का यह मत ह्यम के मत से मिलता-जुलता दिखाई देता है। ह्यम ने भी आत्मा अथवा अहंमन्यता को मानसिक घटनाओं की सन्तति कहा था और समकालीन अनुभववादी सिद्धान्ततः ह्यम की इस व्याख्या को स्वीकारते हैं। इस रूप में बौद्ध दर्शन शताब्दियों पहले से वर्तमान युग का अग्रदूत कहा जायगा।

इस द्वादश निदान को कई प्रकार से व्यवस्थित कर भावचक्र बनाया जाता है।

१. अविद्या	}	भूत जीवन से प्राप्त
२. संस्कार		
३. विज्ञान	}	वर्तमान, जो भूत से प्रभावित होकर भविष्य का ओर अग्रसर होता है।
४. नाम-रूप		
५. षडायतन		
६. स्पर्श		
७. वेदना		
८. तृष्णा		
९. उपादान		
१०. भव	}	भविष्य जीवन
११. जाति		
१२. जरा-मरण		

३. दुःख-निरोध या निर्वाण :

सभी दुःखों के अन्त को निर्वाण कहा जा सकता है। परन्तु, निर्वाण की वास्तविकता को कैसे सिद्ध किया जाय ? यदि मान भी लिया जाय कि जीवन दुःखमय है और सुख भी अन्तिम रूप में—

१. या तो दूसरों के दुःख पर आधृत है;

२. या अपने ही भविष्य के दुःख पर वर्तमान सुख टिका हुआ है;

३. या वर्तमान सुख उन कारणों के द्वारा प्राप्त होता है, जो स्वयं दुःखपूर्ण है इत्यादि।

तो भी इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि दुःख-निरोध सम्भव है। क्यों नहीं सम्पूर्ण जीवन को अन्तिम रूप में दुःखपूर्ण माना जाय ? क्यों माना जाय कि

निरीश्वरवादी बौद्ध धर्मदर्शन

१०७

दुःख का निरोध सम्भव हो सकता है ? एक बात स्पष्ट दिखती है । मानव एक स्कन्ध है, जिसमें रूप (महाभूत) और विज्ञान, संज्ञा, संस्कार और वेदना (नाम) है । जहाँ स्कन्ध होगा, वहाँ उनका विलयन होना भी सम्भव है । यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में स्कन्ध-लोप, अर्थात् अहंभाव के विलयन को दुःखों का अन्त माना गया है । परन्तु, ऐसी स्थिति में स्कन्ध-लोप से अर्थ हुआ कि आत्मा का अन्त में अभाव या लोप हो जायगा । परन्तु, इसे भी बौद्ध दर्शन में उच्छेद-सिद्धान्त का दोष माना जायगा; क्योंकि बौद्ध उच्छेदवाद को नहीं स्वीकारते हैं । इसलिये, निर्वाण की भावना न तो दुःख के अस्तित्व से और न किसी अन्य रूप से स्पष्ट होती है । यह भी श्रमण-परम्परा का एक मन्तव्य है, जिसे बौद्ध दर्शन में अपना लिया गया है ।

चूँकि, बौद्ध दर्शन के अनुसार, जीवन की निःश्रेयस्-प्राप्ति निर्वाण है, इसलिये इसके स्वरूप को स्पष्ट कर देना चाहिये था । परन्तु, निर्वाण-गति को बुद्ध भगवान् ने अव्याकृत अथवा अव्याकृत कहा है । यह बौद्ध दर्शन की सबसे बड़ी कमी कही जायगी । निर्वाण को अभाव-मात्र नहीं माना गया है । तो इसका क्या वास्तविक स्वरूप हो सकता है ? यह विषय विद्वानों के लिये सर्वदा अटकल का विषय होगा । बार-बार बुद्ध भगवान् ने बताया है कि जिस प्रकार बत्ती का प्रकाश दीप के बुझ जाने पर कहाँ चला जाता है, नहीं जाना जा सकता है, उसी प्रकार निर्वाण की स्थिति है । यदि इस उपमा पर बल दिया जाय, तो कहना पड़ेगा कि निर्वाण अभाव-मात्र है; क्योंकि दीप का आलोक दीप के बुझ जाने पर लुप्त हो जाता है । फिर, बौद्ध दर्शन में निर्वाण को अभावात्मक रीति से भी स्पष्ट किया गया है । कहा गया है कि निर्वाण अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है । फिर, कहा गया है कि निर्वाण वह स्थिति नहीं है, जो उत्पन्न होती है । यह है, परन्तु, यह संज्ञा और असंज्ञा दोनों से अतीत है । यह वह स्थिति है, जिसे न वास्तविक कहा जा सकता है और न अवास्तविक । इसका केवल आस्वादन हो सकता है । परन्तु, जिस प्रकार गुँगा गुड़ के स्वाद को अन्य व्यक्तियों को संज्ञापित (व्यक्त) नहीं कर सकता है, उसी प्रकार, निर्वाण की स्थिति को संज्ञापित नहीं किया जा सकता है । 'मिलिन्दप्रश्न' में नागसेन ने राजा मिलिन्द को बताया है कि निर्वाण का शब्दों के द्वारा केवल नकारात्मक रूप से ही बोध कराया जा सकता है, परन्तु इसके भावात्मक पक्ष को उपमाओं के द्वारा अभिव्यक्त किया जा

सकता है। निर्वाण समुद्र के समान गहरा, गगन के समान विशाल, पर्वत के समान ऊँचा, मधु के समान मीठा आदि है। फिर, निर्वाण केवल मरणान्तर नहीं, प्रत्युत इस जीवन में भी प्राप्त होता है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने इस जीवन में लगभग २५ वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया और मरणपर्यन्त उपदेशना में निरत रहे। अतः, निर्वाण भावस्थिति है और लोक-कल्याण हेतु-क्रियावादी दशा है। बौद्ध धर्मदर्शन के अनुसार, निर्वाण की स्थिति को निम्नलिखित रूप में बताया जा सकता है :

१. यह पूर्ण उपेक्षाभाव की अवस्था है, जिसमें न सुख और न दुःख का अनुभव होता है। इस स्थिति में न तृष्णा और न राग-द्वेष ही रहता है।
२. निर्वाणगति में अहंभाव का विलयन हो जाता है; क्योंकि अहंभाव (अर्थात् मेरा, मैं आदि) पंचतत्त्वों के स्कन्ध पर निर्भर होता है। सत्य ज्ञान हो जाने पर स्कन्ध जो अविद्या और तृष्णा पर स्थिर रहता है, अपने-आप विलीन हो जाता है।
३. अब यदि अहंमन्यता ही नहीं रहेगी, तो भाव, राग-द्वेष आदि का आधार भी नहीं रहेगा। यही कारण है कि निर्वाणप्राप्त भिक्षु एकरस उपेक्षाभाव से पूर्ण होता है।
४. चूँकि अहंमन्यता का लोप हो जाता है, इसलिये संज्ञापन-भाषा का भी लोप हो जाता है; क्योंकि भाषा संसार और अज्ञानी जीव के संज्ञापन-कार्य से उत्पन्न होती है। निर्वाण संसार और जीव दोनों से परे और अतीत होता है। इसलिये, निर्वाण-गति अनिर्वचनीय अथवा वर्णनातीत होती है।
५. निर्वाण-प्राप्ति के बाद भिक्षु जन्म और मरण दोनों के चक्कर से मुक्त हो जाता है। ऐसा जीव भवसागर से पार कहा जाता है।
६. निर्वाणप्राप्त अर्हत् में अपना दुःख नहीं होता, वरन् समस्त जगत् का; उसके दाँत का दर्द उसे अनुभूत नहीं होता, परन्तु उसे दर्द का पूर्ण ज्ञान होता है। इस बात को ब्रह्म-विहार तथा अपरिमित के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जायगा।

यदि निर्वाण अनात्मवादी हो, तो क्या इसे आलयविज्ञान अथवा शुद्ध चित् मान लिया जाय ? बार-बार मूर्धन्य विद्वानों ने अटकल लगाया है कि निर्वाण को परम शुद्ध चित् समझा जा सकता है; क्योंकि बताया गया है कि निर्वाण वह स्थिति है, जहाँ जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी नहीं पायी जाती है, जहाँ न लम्बा और न छोटा कुछ कहा जा सकता है; जहाँ न शुभ है और न अशुभ । फिर, कहा गया है कि निर्वाण वह विशाल सागर है, जिसमें अनेक अर्हत् प्रवेश करते हैं, परन्तु, इस प्रवेश से निर्वाण न बढ़ता है और न घटता है । इस रूप में प्रायः विद्वान् लोग निर्वाण को शांकर निर्गुण ब्रह्म के समान समझते आये हैं । परन्तु, निर्वाण को शुद्ध चित् नहीं समझा जा सकता है; क्योंकि शुद्ध चित् की अवस्था अरूपलोक-ध्यान तथा समापत्ति की अवस्था (छठे ध्यान में) में प्राप्त किया जाता है और निर्वाण-गति आठवें ध्यान के बाद प्राप्त होती है और फिर, इसे शील और प्रज्ञा से भी युक्त किया जाता है । इसलिये, निर्वाण को आलयविज्ञान से उच्चतर स्थिति समझना चाहिये ।

दूसरी बात है कि निर्वाणगति में भिक्षु केवल अपने अहंभाव को ही नहीं, वरन् अपने राग-द्वेष तथा तृष्णा का भी त्याग करता है; वह अपने मित्र और सम्बन्धियों को ही नहीं त्यागता है, प्रत्युत वह सभी उपलब्धियों और आठों ध्यानो को भी छोड़ देता है; वह सभी ज्ञानालय से, जिसे उसने सुना, देखा, विचारा और जाना है, मुक्त हो जाता है; वह एकत्व, नानात्व तथा सभी वैचारिक भेदों से मुक्त हो जाता है । अतः, निर्वाण-गति को शुद्ध चित्त से परे और अतीत स्थिति के रूप में बताया जाता है ।

अतः, निर्वाण में न तो जीवात्मा का संरक्षण होता है और न इसमें कोई परमात्मा तथा परम चित् है, जिसमें अर्हत् विलीन हो जाता है । अनात्मवाद में किसी भी प्रकार की आत्मा का शाश्वत रहना नहीं बताया जा सकता है । तब उच्छेदवाद को क्यों नहीं अपनाया जाय ? इसका कारण है कि निर्वाण भावात्मक गति है और निर्वाण-प्राप्त अर्हत् एक साक्षात् जीव होता है । मेरी समझ में बुद्ध भगवान् के लिये निर्वाण आध्यात्मिक आरोग्य की दशा है और इसी मनोवैज्ञानिक स्थिति को लोगों ने सत् के रूप में आरोपित कर लिया है । बुद्ध भगवान् ने लोगों को बताया था कि निर्वाण की अन्तिम स्थिति का स्वरूप अव्याकृत है और इसके विषय में मन्यन करना दुःख-निरोधप्राप्ति के लिये बाधा हो सकती है । वे दुःख-रोग की आध्यात्मिक

चिकित्सा में ही विश्वास रखते थे और इसलिये वे चाहते थे कि दुःख का निदान कर उसका सही उपचार किया जाय। बुद्ध भगवान् इतना ही भर बताना चाहते थे कि किस प्रकार परम उपेक्षाभाव, अनात्मभाव, क्षणिकत्व तथा अनित्यत्व को प्राप्त कर लिया जाय। दुःख-निरोधमार्ग के अध्ययन करने से सिद्ध हो जायगा कि निर्वाणप्राप्ति एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति है। जब व्यक्ति अनात्म होकर सुख-दुःख दोनों की अनुभूति से परे होकर व्यापक उपेक्षाभाव को प्राप्त होता है, तभी उसे निर्वाणप्राप्त व्यक्ति कहते हैं। क्या यह स्थिति किसी शारीरिक अथवा मानसिक आधार पर अवलम्बित होती है? नहीं। शुद्ध चित् को मस्तिष्क और मनस् पर निर्भर रहना होता है, परन्तु, निर्वाण को सभी आश्रय, अवलम्ब से परे अप्रतिष्ठित विज्ञान बताया गया है। जिस प्रकार से दीप का प्रकाश दीप के बुझ जाने पर निरवलम्ब होकर वर्णनातीत हो जाता है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उपेक्षाभाव की स्थिति मन और शरीर से मुक्त होकर न जाने किधर चली जाती है? मुख्य बात है कि किस प्रकार संज्ञा-असंज्ञा से परे उपेक्षाभाव-रूप निर्वाण को प्राप्त किया जाय, न कि तथागत की अन्तिम दशा अथवा उनके स्वरूप को सोचा जाय। गिल्बर्ट राइल के शब्दों में मन शरीर में वास करने वाले किसी भूत का नाम नहीं है। उसी प्रकार, निर्वाण निर्वाणी के उपेक्षाभाव, अनन्त करुणा और मैत्री के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है। निर्वाण को द्रव्य समझना क्षणिकवाद, अनात्मवाद तथा अनित्यवाद के प्रति घात करना है। जिस प्रकार राइल को २५०० वर्षों की भूलों को दूर करने के लिये बताना पड़ा कि मन प्रक्रियाओं से परे स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसी प्रकार, अब समझना चाहिये कि बुद्ध भगवान् बताना चाहते थे कि निर्वाण-स्थिति को छोड़कर निर्वाण की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह होगा सच्चा अनात्मवाद।

४. दुःख-निरोध-मार्ग :

यदि निर्वाण अर्हत् की मनोवैज्ञानिक स्थिति हो, तो मुख्य उद्देश्य यही होगा कि उस मार्ग का अनुसरण किया जाय, जिसके द्वारा इस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। इस रूप में बौद्ध मत एक जीवन-पथ या मार्ग है, जिसके द्वारा व्यक्ति किसी वस्तु या सत्ता को नहीं प्राप्त करता है, परन्तु वह अपनी उ

मनोवैज्ञानिक स्थिति को प्राप्त करता है, जिसमें वह सभी दुःख-सुख के भावों से मुक्त होकर उपेक्षाभाव को प्राप्त करता है। इस रूप में बौद्धधर्म न केवल निरीश्वरवादी और मानवतावादी है, परन्तु, साथ-ही-साथ व्यावहारिक और संत्यापनीय मार्ग है।

दूसरी बात है कि धर्म व्यक्ति का सर्वांगपूर्ण समग्र व्यवहार होता है और यह बात दुःख-निरोध-मार्ग में देखने में आती है। इस निरोध-मार्ग द्वारा व्यक्ति की क्रिया, भाव और संज्ञान तीनों का एक साथ एक नये संघात में एकीकरण होता है और व्यक्ति सम्पूर्णतया बदल जाता है। इस मार्ग में शील (क्रियात्मक पक्ष), समाधि (भाव एवं संज्ञान) और प्रज्ञा (भाव एवं क्रिया) तीनों का अवियोज्य योग देखने में आता है। इस मार्ग को बुद्ध भगवान् ने अष्टांगिक मार्ग कहा है; क्योंकि इसमें आठ साधनों की बात कही गयी है :

१. सम्यग्दृष्टि
२. सम्यक्संकल्प
३. सम्यग्व्यायाम
४. सम्यक्समृति
५. सम्यग्वाक्
६. सम्यक्कर्मन्ति
७. सम्यगाजीव
८. सम्यक्समाधि < $\begin{cases} \text{रूपलोक समाधि} \\ \text{अरूपलोक समाधि (समापत्ति)} \end{cases}$

इन आठों अंगों में शील, समाधि और प्रज्ञा तीनों निहित हैं :

शील } $\begin{cases} \text{सम्यग्वाक्} \\ \text{सम्यक्कर्मन्ति} \\ \text{सम्यगाजीव} \end{cases}$

चित्-निरोध } $\begin{cases} \text{सम्यग्व्यायाम} \\ \text{सम्यक्समृति} \\ \text{सम्यक्संकल्प} \\ \text{सम्यक्समाधि} \end{cases}$
अथवा
समाधि

प्रज्ञा—सम्यग्दृष्टि ।

सम्यक्-दृष्टि या सम्यग्दृष्टि महत्त्वपूर्ण कुंजीपद है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति प्रारम्भ और अन्त—दोनों के लिये ही आवश्यक है। प्रारम्भ में यह

दृष्टि छिछली होती और इसके प्रति केवल श्रद्धा की मात्रा विशेष होती है। परन्तु, अन्त में सम्यग्दृष्टि अहंत् को अनायास उपलब्ध हो जाती है। प्रारम्भ में संज्ञानात्मक रूप से जिज्ञासु को चत्वारि आर्यसत्यानि, स्कन्ध-विचार, षडायतन, अनित्यता, क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद का ज्ञान होता है। इस प्रारम्भिक स्थिति में जिज्ञासु को कोरा दार्शनिक ज्ञान और गुरुजनों तथा अहंतों के प्रति भक्ति होने के कारण इन मतों में श्रद्धा होती है। परन्तु, अहंत्व-प्राप्ति करने पर अहंत् स्वयं अनात्म हो जाता, वस्तुओं की अनित्यता तथा क्षणिकता के क्षुब्ध नहीं होता, स्कन्ध के पाँच तत्त्वों की जानकारी से सुख-दुःख से परे होकर उपेक्षाभाव को प्राप्त होता है। अतः, सम्यग्दृष्टि सर्वांगपूर्ण, सर्वसमावेशी तथा असांसारिक एवं पारमार्थिक दृष्टि है। इस दृष्टि को अंग्रेजी में Attitude, Deep-seated disposition तथा Blik कहा जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चे को अपने माता-पिता की ओर ऐसी गहरी अभिवृत्ति हो जाती है कि बचपन में बच्चा उन्हें आराध्य देवता समझता है; उन्हें अपने सुख-दुःख का एकमात्र आधार मानता है इत्यादि। इसी प्रकार, आदिम जाति के लोग भूत-प्रेत, जादू-टोना, तन्त्र आदि में विश्वास कर सभी घटनाओं में जीवात्माओं की कार्यवाही देखते हैं। इन आदिम जातियों के लिये जन्म, मृत्यु, रोग आदि सभी किसी रहस्यमय शक्ति के द्वारा उत्पन्न समझे जाते हैं। इसके विपरीत आधुनिक मानव की दृष्टि आनुभविक होती है, वह अनुभवाश्रित परीक्षणों में विश्वास करता और अलौकिक शक्तियों और सत्ताओं के प्रति उदासीन रहता है। इन सब उदाहरणों में बच्चे, आदिम जाति और आधुनिक व्यक्ति की दृष्टि का अन्तर होता है। दृष्टि को कोरा संज्ञान नहीं समझना चाहिये। ऐसी गहरी वृत्ति है कि व्यक्ति इसी के अनुसार सोचता-विचारता, वस्तुओं को अच्छा-बुरा कहता और कथनों को सत्य-असत्य समझता है, इत्यादि। आदिम जाति की दृष्टि आधुनिक व्यक्ति की दृष्टि की तुलना में असत्य नहीं होती। स्वयं सत्यता-असत्यता की कसौटी ही दृष्टि पर आधृत होती है। इतना ही भर कहा जा सकता है कि आदिम जाति की दृष्टि व्यापक अनुभव के आधार पर सन्तोषजनक नहीं सिद्ध होती है। प्रायः जातियों में दृष्टियों की हद होती है और अन्त में उसी दृष्टि को अपनाया जाता है, जो मानव-जीवन को सफल और सुखी बनाने में समर्थ होती है। अतः, 'सम्यग्दृष्टि' से यहाँ तात्पर्य है कि बौद्ध मत की दृष्टि होना, अर्थात् निर्वाण-प्राप्त व्यक्तियों की दृष्टि प्राप्त करना।

आदिम जाति के लोगों को भूत-प्रेत साक्षात् दिखते हैं; जादू-टोने से उनके लिये घटनायें वास्तविक रूप से घटती हैं। इसी प्रकार से आधुनिक व्यक्ति को वास्तव में रोग के कीटाणु दिखते हैं। ठीक इसी रूप में बौद्ध सम्यग्दृष्टि के हो जाने पर अनात्मभाव होता है; अर्हत् को सुख-दुःख का भाव नहीं होता है। उसमें समस्त प्राणियों के प्रति करुणा और मैत्री होती है। इस स्थिति में बौद्ध लक्ष्य कहा-कही की नहीं, वरन् देखा-देखी की बात हो जाता है। अतः, सम्यग्दृष्टि निरोध-मार्ग के आदि-अन्त तक बनी रहती है और अन्त में प्रज्ञा-प्राप्ति, अर्थात् चार ब्रह्म-विहार में सिद्ध हो जाती है।

‘शील’ से अर्थ है शुद्ध नैतिक कर्मों से और बिना नीतिवान् हुए निर्वाण प्राप्त करना असम्भव है। परन्तु, शील निर्वाण-प्राप्ति का केवल एक आवश्यक, अंग है, न कि सम्पूर्ण निर्वाण। इसलिये, बौद्ध मत की कोरी नीति-व्यवस्था कहना भारी भूल है।

शील के अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग के तीन पाद हैं, अर्थात् सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मन्ति और सम्यगाजीव। इन तीन उपायों के आधार पर भिक्षुओं का सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित किया जाता था। सम्यक्-वाक् के अन्तर्गत कटुवचन, मिथ्याकथन, व्यर्थ की वकवास के त्याग की बात कही गयी है। सम्यक् कर्मन्ति में हिंसा, चोरी तथा दुराचार के त्याग की बात कही जाती है। यह ठीक है कि गृहस्थ बौद्ध (उपासकों) को धोखा देकर जीविका-उपार्जन को वर्जित माना गया है, परन्तु भिक्षु को भी कहा गया है कि भविष्यवाणी, तन्त्र आदि के द्वारा वे अपनी जीविका को नहीं अपनायें।

चित्त-निरोध :

जबतक चित्त अथवा मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण नहीं किया जाय, तबतक भिक्षु में सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न हो सकती है। फिर, यद्यपि चित्त-निरोध का तात्पर्य समाधि होता है, तथापि इसके अन्तर्गत अन्य सहायक तथा उपक्रमिक क्रियाओं को भी स्थान दिया गया है। सम्यक् व्यायाम का अर्थ है कि अपने को बुरी भावनाओं से मुक्त करने का प्रयास करते रहना चाहिये। फिर, जब शुभ विचार मन में आ जायें, तब रागात्मक विचारों को दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। अतः, बुरी भावनाओं का त्याग कर शुभ भावनाओं को ध्यान में रखने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। सम्यक् स्मृति से तात्पर्य है

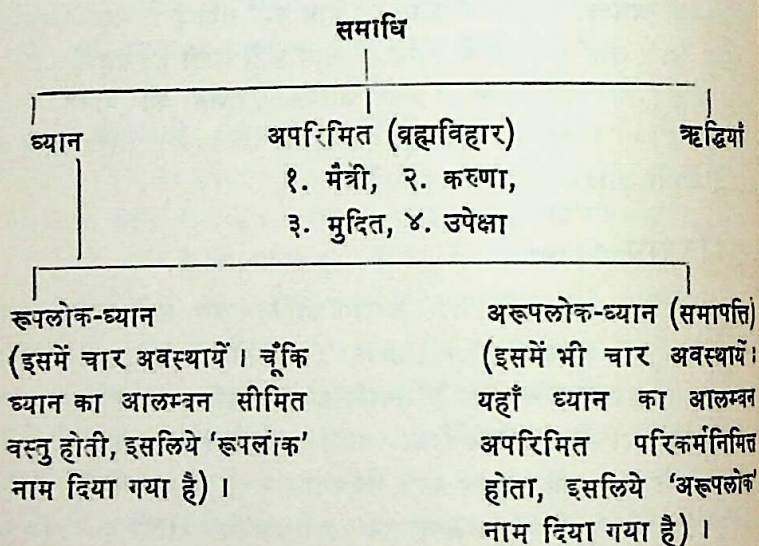
११४

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

सतर्कता तथा जागरूकता । भिक्षु को पाँच तत्त्व से निर्मित शरीर-स्कन्ध तथा इन्द्रियों का ज्ञान होना चाहिये । शरीर से उत्पन्न मल, मल-द्वार, मल की गन्दगी पर ध्यान रखना चाहिये, ताकि शरीर और वासनाओं के प्रति अनासक्ति हो जाय । सम्यक् संकल्प में अन्तर्गत दृढ संकल्प कर लेना चाहिये कि किसी प्राणी के प्रति घृणा-द्वेष न हो और न उनके प्रति किसी भी प्रकार का हिंसा-भाव रहे । सम्यक् समाधि बौद्ध धर्मदर्शन का मुख्य अंग है, जिसके द्वारा भिक्षु निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ होता है । इसकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या की जायगी ।

समाधि :

ध्यान को किसी एक वस्तु पर एकाग्र चित्त से, समुचित रीति से स्थिर करने को 'समाधि' कहते हैं । समाधि के द्वारा चित्त का ऐसा विस्तारण और संशोधन किया जाता है कि अहम्मन्यता को पार कर चित्त व्यापक तथा निर्व्यक्तिक रूप धारण कर ले । विंशुद्धमार्ग के अनुसार समाधि के अन्तर्गत आठ ध्यान, चार ब्रह्मविहार (अपरिमित) और ऋद्धियाँ गिनी जाती हैं ।



जब दुःख से त्रस्त होकर भिक्षु निर्वाणगति को प्राप्त करना चाहता है, तब वह समाधि की शरण लेता है । वह बुद्ध भगवान् धर्म, संघ की स्तुति करता,

मित्रों को नमस्कार, अपने पापों को अंगीकार करता और अहंतों की याद करके योगमुद्रा को ग्रहण करता है। उसे अपने ध्यान के लिये किसी आलम्बन को स्वीकारना पड़ता है, जिसे परिकर्मनिमित्त कहते हैं और बौद्ध दर्शन में परिकर्म-निमित्त को कर्मस्थान भी कहते हैं, जिनकी संख्या ४० बतायी जाती है। अपने संस्कार के अनुसार भिक्षु को एक परिकर्मनिमित्त अपनाना होता है। कोई बुद्ध भगवान् की प्रतिमा, कोई नीले अथवा लाल कमल को या अन्य इस प्रकार की शुभ वस्तु को अपना कर्मस्थान बनाता है। कुछ ही दिनों के अभ्यास के फलस्वरूप चुनी गयी कर्मस्थान-वस्तु को अपने शुद्ध रूप में बिना वर्ण, आकार, क्षेत्र तथा अन्य गुणों के चित्त में रहना चाहिये। इस शुद्ध रूप में इसे प्रतिभाग-निमित्त कहते हैं। यदि कर्मस्थान-वस्तु को संवेदित प्रदत्त माना जाय, तो प्रतिभाग-निमित्त को बिम्ब अथवा प्रतिमा (Image) कहा जा सकता है।

प्रारम्भ में भिक्षु का प्रतिभागनिमित्त-विषयक ध्यान बार-बार भंग होता रहता है। परन्तु, प्रयास और अभ्यास के परिणामस्वरूप अन्त में ध्यान प्रतिभागनिमित्त पर घण्टों तक स्थिर हो जाता है। ध्यान की पहली क्षीण अवस्था को, जिसमें ध्यान भंग होता रहता है, उपचार, और स्थिर ध्यान की अवस्था को अर्पणा कहा जाता है। अर्पणा की प्राप्ति के बाद ही ध्यान-क्रम प्रारम्भ होने लगता है, पहले रूपलोक-समाधि और तब अरूपलोक-ध्यान अथवा समापत्ति।

रूपलोक-ध्यान

प्रथम ध्यानावस्था :

१. इस अवस्था में मन को सभी वासनाओं और रागात्मक वृत्तियों से मुक्त करना चाहिए, अर्थात् मन को कुत्सित भावनाओं से मोड़ लेना चाहिये।
२. प्रतिभाग-निमित्त पर चित्त को अभिरोपित करना चाहिये।
३. जिस प्रकार से भौंरा किसी एक फूल पर घण्टों अमण करता है, ठीक उसी प्रकार चित्त को आने प्रतिभाग-निमित्त पर स्थिर करना चाहिये।

४. नीवरणों के हट जाने पर ध्यानी को शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव होने लगता है ।

५. प्रतिभाग-निमित्त के प्रति एकाग्रता प्राप्त होती है ।

प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, पीति, सुख और चित्त की एकाग्रता पायी जाती है । इसमें वासनाओं तथा कामवृत्ति के प्रक्षालन से चैतसिक विशुद्धि प्राप्त होती है । फिर, शान्ति का अनुभव होता है । मानसिक सुख अथवा सम्प्रसाद (सुप्रसन्नता) का अनुभव होता है । परन्तु, विचार और वितर्क के कारण ध्यान पूर्णतया स्थिर नहीं हो पाता है । फिर, ये वितर्क-विचार स्थूल रूप लिये होते हैं । सुख तथा पीति भी स्थूल रहता है । अतः, ध्यानी को प्रतिभाग-निमित्त को विस्तारित करना पड़ता है, ताकि चित्त-विशुद्धि भी व्यापक रूप धारण करती जाय ।

रूपलोक-ध्यान की दूसरी अवस्था अथवा चरण :

१. यहाँ आर्यसत्त्यों के सम्बन्ध में मनन करना बन्द हो जाता है और उन-पर विचार करना भी अनावश्यक हो जाता है । यहाँ शारीरिक सुख भी स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म होने लगते हैं ।

२. यहाँ सम्प्रसादन तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न होने लगता है, जिससे ध्यान स्थिर होने लगता है ।

३. ध्यान की अटूट स्थिरता के हेतु पीति और सुख का भी संचार होने लगता है ।

४. एकाग्रता में भी गम्भीरता बढ़ जाती है ।

परन्तु, ध्यानी शारीरिक सुख तथा पीति को इस अवस्था में रुकावट समझने लगता है ।

तीसरा ध्यान : इस चरण में उपेक्षा, सतिमा और सुखविहार का अनुभव होने लगता है । उपेक्षा सुख और दुःख दोनों से परे एक तीसरे प्रकार का भाव है जिसमें सुख-दुःख से विरक्त होकर ध्यानी सूक्ष्म आनन्द का लाभ उठाता है, पर इस आनन्द को 'सुख' नहीं कहा जा सकता है । यह सुख से परे उच्चतर कोटि का भाव है, जिसे योगी ही अनुभूत कर सकता है । इस अवस्था में अनात्मभाव, अनित्यता तथा क्षणिकत्व-भावना से ध्यानी क्षुब्ध नहीं होता है । यह स्थिति बढ़

मामिक है; क्योंकि साधारणतया शायद ही कोई व्यक्ति अपने अभाव या विलोपन पर शान्तचित्त से कुछ क्षणों तक भी ध्यान कर सकता है। सतिमा में ध्यानी को बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का सही ज्ञान होने लगता है और इस ज्ञान के कारण पीति और सुख का प्रादुर्भाव नहीं होने पाता है। सुख-विहार का अर्थ है कि ध्यानी अब सुखभाव से अप्रभावित रहता है।

चौथा ध्यान : रूपलोक-ध्यान के चतुर्थ चरण में कोई नयी बात नहीं होती, परन्तु पूर्व के तीनों चरणों की इसमें पूर्णता प्राप्त होती है।

१. ध्यानी शारीरिक सुख-दुःख भाव से मुक्त हो जाता है।

२. ध्यानी चैतसिक सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है।

३. वह उपेक्षा-भाव को प्राप्त होता है और उसकी चित्त-विशुद्धि हो जाती है।

रूपलोक-ध्यान में चित्त-विशुद्धि हो जाती है और उपेक्षा-भाव भी प्राप्त हो जाता है, परन्तु इसमें कर्मस्थान तथा प्रतिभाग-निमित्त रहता है, जिसके आधार पर संसार और शरीर के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है। अतः, ध्यान को बिना किसी कर्मस्थान अथवा परिकर्म-निमित्त रूप-विहीन होना चाहिये। यही कारण है कि अरूपलोक-ध्यान की आवश्यकता हो जाती है।

अरूपलोक-ध्यान (समापत्ति) :

अरूपलोक-ध्यान में भी परिकर्म-निमित्त रहता है, परन्तु यह असीमित रहता है, जिसे विशिष्टवस्तुविहीन कहा जा सकता है। इसी कारण इस प्रकार के ध्यान को अरूप कहते हैं। इन अरूप ध्यानों के आधार मन केवल वस्तुविहीन ही नहीं होता, वरन् क्रमशः यह व्यापक, गहरा और विशाल रूप प्राप्त कर अनात्म हो जाता है।

पाँचवाँ ध्यान : इस ध्यान में वस्तुविहीन अथवा निर्विशेष अपरिमित दिक् प्रतिभाग-निमित्त रहता है। इस प्रकार के रिक्त दिक् पर ध्यान टिकाये रहने पर नीवरणों का नाश होता है और सति या शक्ति (सतिमा) को बल मिलता है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार की वस्तु चेतना का विषय नहीं रहती है, (१) न तो किसी भी वस्तु का रूप या आकार चित्त का विषय होता है, (२) न किसी भी इन्द्रिया-वासना की वस्तु और (३) न किसी भी प्रकार का शब्द, गन्ध

आदि चित्त का विषय होता है। ध्यानी केवल अपरिमित शुद्ध दिक् को अपने ध्यान का आलम्बन मानता है। साधारणतया बिना वस्तुविषय के शुद्ध दिक् का ध्यान करना सम्भव नहीं मालूम देता है। कान्त ने बिना वस्तु के शुद्ध दिक् के प्रत्यक्ष को प्रागनुभव कहा है, अर्थात् वह, जो अनुभव से परे, पूर्व और अतीत हो। परन्तु, यहाँ ध्यानी ऐसे चित्त को प्राप्त करना चाहता है, जो न केवल निर्विषय है, पर जो बिना किसी उपभोक्ता के अपनी अहम्भन्यता से भी परे और पूर्व हो। हमलोगों ने पहले ही देखा है कि निर्वाण को अतीत और वर्णनातीत माना गया है। ऐसी अवस्था में ध्यान में की गयी अनुभूति को विलक्षण अथवा असामान्य माना ही जायगा।

छठा ध्यान : बिना किसी भी वस्तुविषय के विज्ञान को प्राप्त किये रहना कठिन है। इसलिये शुद्ध रिक्त आकाश में विज्ञान रहता है और इसलिये इसमें भय रहता है कि कहीं इस विज्ञान का कोई विषय फिर से न प्राप्त हो जाय। पुनः दिक् में स्वयं ऊपर-नीचे छोटे-बड़े का भेद रहता है। इसलिये यहाँ चित्त सभी भेदों से परे निर्विषय नहीं रह पाता है। इस भय के निवारण करने के लिये छठे ध्यान में अपरिमित विज्ञान को ही प्रतिभाग-निमित्त बनाया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक इस अनुभूति को भी नहीं स्वीकार करेंगे; क्योंकि उनके अनुसार कोई भी चित्त बिना विषयवस्तु के सम्भव नहीं हो सकता है। परन्तु, बौद्ध ध्यानी शुद्ध चित्त की कल्पना को साधना का विषय मानते हैं। इसी अवस्था को आलय-विज्ञान कहा जाता है, जिसमें बिना किसी विषय या वस्तु के शुद्ध विज्ञान के होने की सम्भावना स्वीकार की जाती है। परन्तु, निर्वाणगति इस शुद्ध चित्त की गति से भी अतीत और गम्भीर है।

सातवाँ ध्यान : शुद्ध विज्ञान में भी कोई वस्तु नहीं पायी जाती है, परन्तु वस्तुविषय की सम्भावना अवश्य रहती है। इस आशंका से विमुक्त होने के लिये ध्यानी शून्यता को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। यहाँ किसी भी विषय के प्रादुर्भाव होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यद्यपि स्थूल चित्त नहीं रहता, तथापि सूक्ष्म चित्त ध्यानी में अवशेष रह जाता है।

आठवाँ ध्यान : ध्यान के इस अन्तिम चरण में न तो कोई विषय रहता है और न किसी विषयवस्तु की सूक्ष्म चेतना की सम्भावना ही रहती है। इस दशा में न तो किसी विषय की संज्ञा रहती, और न असंज्ञा। परन्तु, यहाँ चित्त-

विहीनता नहीं रहती है। यहाँ विशुद्ध और सूक्ष्मतम चित्त ही सम्भव रहता है। यह दशा वेदान्तियों की तुरीय अवस्था से बहुत मिलती-जुलती है। इस अवस्था में विशुद्ध उपेक्षाभाव ही रह जाता है, जिसमें ध्यानी को शान्ति, विशुद्धता और प्रशान्ति प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्मविहार (अपरिमित) :

दुःख-निरोध-मार्ग का मुख्य उद्देश्य है कि आत्मभाव का विलयन हो। समाधि का मुख्य लक्ष्य यही है कि सम्यग्दृष्टि हो जाय, जिसमें क्षणभंगुरता उसी प्रकार सहजता से दिखे, जैसा प्रायः लोगों को वस्तुओं का सापेक्ष स्थायित्व दिखता है; अनित्यता उसी प्रकार ध्यानी को प्रतीत होने लगे, जिस प्रकार साधारणतया द्रव्यों की स्थिरता लोगों को दिखाई देती है; और अन्त में भिक्षु को आत्मज्ञान के स्थान पर अनात्मभावना सहजता से प्रतीत होने लगे। यद्यपि समाधि समष्टिपूर्ण प्रक्रिया है, तथापि इसमें संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं और दृष्टियों को विशेष माना जाता है। इसलिये भाव-संवरणों के संशोधन और प्रक्षालन के लिये ब्रह्मविहार की आवश्यकता होती है। इनमें चार प्रकार के भावों का उल्लेख आता है, अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाभाव। इसलिये इन्हें ब्रह्मविहार कहा है। इनके आधार पर भिक्षु ब्रह्मायिक देवता के समान शुद्ध और पवित्र हो जाता है। इन चार भावों को अपनी अपरिमित सीमा तक व्यापक कर दिया जाता है, ताकि भाव सर्वव्यापक हो जायें और किसी भी प्रकार भिक्षु को सीमित न रखें। भावों के प्रक्षालन के द्वारा ब्रह्मविहार को आत्मविलयन का विशुद्ध मार्ग समझा जा सकता है।

मित्रता-भावना में सर्वप्रथम उस पात्र को विषय बनाया जाता है, जिसके प्रति भिक्षु को सहज प्रेम होता है। उदाहरणार्थ, बुद्ध भगवान्। इस स्थल पर भी ध्यान रखना चाहिये कि कहीं इस प्रेम में राग न उत्पन्न हो जाय। इसके बाद इस प्रेम को अपने ऊपर आरोपित करना चाहिये, तब अपने मित्रों तथा गुरुजनों के प्रति। जब मैत्री-भावना जम जाय, तब अपने शत्रु के प्रति भी इस भावना को स्थिर करना सीखना चाहिये। इसके बाद अपने मठ के सभी व्यक्तियों के प्रति, तब समस्त ग्राम के प्राणियों के प्रति और इस प्रकार इस सीमा-सम्भेद को अधिक व्यापक बनाते रहना चाहिये। अन्त में सभी सीमाओं के भेद को तोड़कर अपनी मैत्री-भावना को सीमा-असम्भेद कर लिया जाता है।

इस अवस्था में मित्र-शत्रु सभी के प्रति समान रूप से भिक्षु मित्रताभाव बरतने लगता है ।

फ्रॉयड के अनुसार द्वेष और प्रेम, दोनों बराबर मौलिक माने जा सकते हैं और इसमें भी द्वेष, हिंसा और विनाशकारी भाव को अधिक मौलिकता प्रदान की जा सकती है; क्योंकि अन्त में मृत्यु-काल में विनाश की ही जीत होती है । ठीक इसके विपरीत बौद्धों के अपरिमितता-सिद्धान्त में प्रेम की ही अन्तिम विजय होती है; क्योंकि राग-द्वेष को विजय कर भिक्षु समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना को व्यापक बना लेता है ।

करुणा-भावना को महायान-मत में विशेष स्थान दिया गया है । करुणा वह है, जिसमें दूसरों के दुःख को देखकर व्यक्ति के मन में दया का संचार होता है । इस प्रकार के ब्रह्मविहार में सबसे पहले किसी भिखारी को अपनी करुणा का विषय बनाया जाता है, या दण्ड भोगनेवाले अपराधी को । अन्त में, मैत्री-भावना के समान करुणा-भावना को अतिव्यापक रूप देकर सभी राग-द्वेष से मुक्त होकर शत्रुओं तक को अपनी करुणा-भावना का विषय बना लिया जाता है और फिर सीमा-असम्भेद को निवाहकर समस्त प्राणियों के प्रति करुणा दिखायी जाती है । बोधिसत्त्वों में इसी असीम करुणा के कारण जन्म-भार ग्रहण किया जाता है, ताकि समस्त प्रणिमात्र को अन्त में निर्वाण-गति की ओर प्रेरित किया जाय ।

मुदित भावना वह है, जिसमें अन्य व्यक्तियों की सफलता से विना विद्वेष-भाव के भिक्षु में प्रसन्नता होती है । यहाँ यह भाव-साधना सबसे पहले अपने अतिप्रिय मित्र के प्रति बरती जाती है और धीरे-धीरे अन्त में अपने शत्रुओं की सफलता से भी भिक्षु के अन्दर प्रसन्नता-भाव होने लगता है ।

उपेक्षा-भावना पहली तीन अपरिमित भावनाओं तथा आठों ध्यानो की प्राप्ति के बाद ही सम्भव होती है । यह स्थिति सुख-दुःख से परे करुणा, मुदित तथा मैत्री से परे भाव की अन्तिम दशा है । इसमें सभी भावों का अतिक्रमण और असम्भेद-भाव का प्रतिपालन होता है । यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है । इस स्थिति में न अपनापन है और न परायापन । जब भिक्षु अपना ही छोड़ देता है, तो अन्य सभी भेद-भाव क्षीण होकर लुप्त हो जाते हैं ।

ऋद्धियाँ :

पहले ही यह कहा गया है कि अवैदिक परम्परा में ब्रह्मचारी तपस्या के द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों को प्राप्त करते थे और इन्हीं शक्तियों के कारण समाज में उनका आदर होता था। इन्हीं अद्भुत शक्तियों को बाद में चलकर ऋद्धि-सिद्धि की संज्ञा दी गयी है। लगभग सभी आध्यत्मिक उद्देश्य को स्वीकार करनेवाले भारतीय दर्शनों में भोग, ध्यान और समाधि को अपनाया गया है और इन दर्शनों का दावा रहा है कि इन साधनों के आधार पर साधक में अद्भुत शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यही बात बौद्ध धर्मदर्शन में बतायी जाती है कि समाधि की मध्यस्थ कड़ियों में भिक्षु के अन्दर ऋद्धियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। ऋद्धियों को प्राप्त कर भिक्षु आकाश, पाताल, जल सभी स्थानों में सहजता से आ-जा सकता है, अपने इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति अथवा पशु का रूप धारण कर सकता है इत्यादि। परन्तु, बुद्ध भगवान् ने बताया है कि साधक को इन ऋद्धियों में आसक्त नहीं होना चाहिये, नहीं तो वे अपनी निर्वाण-गति को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। इन ऋद्धियों की प्राप्ति से केवल यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक की साधना सही है और उसने सही मार्ग को अपनाया है। फिर, यदि वह ऋद्धियों की तृष्णा को छोड़ सकता है, तो वह सभी प्रकार की तृष्णाओं से विमुक्त होकर स्कन्ध का विलयन कर निर्वाण-गति को प्राप्त कर सकता है।

प्रज्ञा :

दुःख-निरोध-मार्ग के अन्तर्गत शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन विधियाँ गिनी जाती हैं। शील के द्वारा भिक्षु अपने भाव-संवेग, तृष्णा आदि का नियन्त्रण करता है और निर्वाणगति की प्राप्ति के लिये अपने को तैयार करता है। शील की उपक्रमिक प्रक्रिया के बाद समाधि की शरण ली जाती है, जिसमें भाव-संवेग, तृष्णा तथा आत्मभाव का भी कुछ काल तक उन्मूलन हो जाता है और समाधि के पूर्ण हो जाने पर निर्वाणगति का अल्पकालीन आस्वादन होता है, अर्थात् जबतक समाधि की स्थिति जारी रहती है। इस निर्वाण-प्राप्ति को स्थायी करने के लिये प्रज्ञा की सहायता ली जाती है। वास्तव में देखा जाय, तो शील और समाधि की शिक्षा प्रायः अन्य भारतीय धर्मदर्शनों में भी पायी जाती है। परन्तु, अनात्मवाद बौद्ध दर्शन की विशेष

देन है और इस अवस्था की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा इसका मुख्य साधन है। प्रज्ञा द्वारा अनात्मभावना को स्थायी रूप दिया जाता है।

हमलोगों ने देखा है कि अहम्मन्यता पंच तत्त्वों के स्कन्ध पर निर्भर करती है, अर्थात् १. रूप, जो भौतिक तत्त्व है, वह जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी से बनता है। २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार और ५. विज्ञान।

यदि अहंभाव का हम विश्लेषण करें, तो इसमें अन्त में हम अहंभाव को कहीं नहीं पायेंगे। उदाहरणार्थ, हमलोग साधारणतया कहते हैं, मेरे दाँत के दर्द है। परन्तु, यदि इसका सही-सही विश्लेषण करें, तो इसमें निम्नांकित तत्त्व पाये जाते हैं :

१. भौतिक पदार्थ दाँत है, जिसका मसूढ़ा फूला हुआ है (रूप)।
२. दुःख की वेदना पायी जाती है (वेदना)।
३. दाँत और फूले हुए मसूढ़े का प्रत्यक्ष (संज्ञा)।
४. इस दाँत के दर्द के दूर करने की प्रवृत्ति (संस्कार)।
५. इन सब बातों की चेतना (विज्ञान)।

यहाँ 'अहंभाव' अथवा 'आत्मा' का कहीं स्थान नहीं दिखता है। ठीक है कि समाधि के आधार पर भिक्षु उपेक्षाभाव को प्राप्त हो जाता है, परन्तु इसे स्थायी करने के लिये सभी स्थानों पर आत्मनिर्देश को त्यागकर भिक्षु को निर्व्यक्तिक दृष्टि अपनानी पड़ती है। दाँत में दर्द है, पर यह 'मेरा' दर्द नहीं है। दाँत है, पर यह 'मेरा' दाँत नहीं है; विज्ञान है, पर मेरी चेतना नहीं है। इसी बात को पाश्चात्य विचारक और साधक स्पिनोजा ने बताया था कि प्रत्येक घटना को उसके शाश्वत पट से देखना चाहिये (Sub specie aeternitatis)। दुःख है, परन्तु यह विश्व का, न कि मेरा दुःख है। स्वयं अथवा संघात के विलयन के बाद समग्रत्व का, जिसका दूसरा नाम 'आत्मा' अथवा अहम्मन्यता है, अपने-आप विलयन हो जाता है। भिक्षु अपनी अहम्मन्यता को त्याग कर अर्हत् बन जाता है।

प्रज्ञा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार सांख्यदर्शन साधक पुरुष और प्रकृति के सम्भेद का ख्यातिज्ञान प्राप्त करता है, ठीक उसी

प्रकार बौद्ध दर्शन में इसी स्कन्ध के संघटक तत्त्वों के परिज्ञान से इस स्कन्ध का ही विलयन हो जाता है, जिस स्कन्ध के रहने पर ही 'अहंभाव' अथवा अज्ञान (अविद्या) की जड़ जमी हुई रहती है। अतः, अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप अनात्मभाव हो जाता, सभी घटनाओं का क्षणिकत्व स्पष्ट हो जाता और सभी वस्तुओं की अनित्यता प्रतीत होने लगती और अहंत् में उपेक्षाभाव का भान होने लगता है।

बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता :

बौद्ध धर्म-कथन एक ही प्रकार के नहीं हैं। उनमें कुछ कथन ऐतिहासिक हैं, कुछ नीतिपरक, तत्त्वमीमांसीय और कुछ शुद्ध धार्मिक कथन हैं। विभिन्न प्रकार के कथनों की अर्थपूर्णता भी विभिन्न कर्माटियों से निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ :

'बुद्ध भगवान् ने गया में बोधिलान किया।' इस कथन की अर्थपूर्णता ऐतिहासिक है और इसकी कसौटी भी आनुभविक, अर्थात् ऐतिहासिक ही होगी। इसी प्रकार, नीतिपरक कथनों की अर्थपूर्णता की भी अपनी विधि है। परन्तु, तत्त्वमीमांसीय और धार्मिक कथनों की अर्थपूर्णता की अपनी स्वजातीय, अर्थात् विशिष्ट कसौटी है। चूँकि, बौद्ध कथन तत्त्वमीमांसा से बहुत ओतप्रोत हैं, इसलिये इस स्थल पर इन्हें धार्मिक कथनों की विधि से विभिन्न नहीं किया जा सकता है।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की तीन मूल मान्यताएँ हैं, अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद और अनात्मवाद। इन तीनों मूल सिद्धान्तों को बुद्ध भगवान् ने बोधि द्वारा प्राप्त किया था, अर्थात् ये वे निर्णय हैं, जिन्हें बुद्ध भगवान् को मूल सत्य के रूप में दिखाई दिया। ये मूल सिद्धान्त न तो सत्य हैं और न असत्य। यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर उभे लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है, जिनके लिये ये मूल निर्णय स्थापित किये गये थे, तो इन्हें सफल समझा जायगा। बुद्ध भगवान् ने जीवन के लक्ष्य की शान्ति या उपेक्षाभाव की प्राप्ति माना है। यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर शील, समाधि तथा ऐसी प्रज्ञा की स्थापना हो जाय, जिनसे उपेक्षाभाव की प्राप्ति हो जाती है, तो इस सन्दर्भ में इन मूल निर्णयों को भी सफल और सिद्ध समझा जायगा।

धार्मिक कथन प्रायः श्रद्धामूलक होते हैं और इन्हें दृढ़ विश्वासपरक समझा जाता है। इस रूप में इन्हें असंज्ञानात्मक समझा जाता है। भगवान् ने कथनों के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि निर्वाण कोई वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त किया जाता है और जिसका वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्तः निर्वाण-कथा आत्मनिष्ठ आत्मकथात्मक कथन हैं, जिन्हें केवल निर्वाणप्राप्त व्यक्ति अनुभूत कर सकता है, परन्तु जिन्हें वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता है। परन्तु, समकालीन दर्शन में किसी भी अनुभूति को मुक्त समझा जाता है। ठीक है कि गूँगा गुड़ की मिठास का आस्वादन करता है परन्तु उसे वह कृत्रिम भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता है। परन्तु, शारीरिक व्यापार यहाँ पाये जाते हैं और इन व्यापारों द्वारा जाना जा सकता है कि गुँगा का आस्वादन गूँगे को प्रिय है, या नहीं। यदि गूँगा गुड़ की ओर वारन्वहाथ पसारता है, गुड़ के छिनने पर लालायित नेत्रों से गुड़ को देखता है, गुड़ के मिल जाने पर शान्ति रहती है इत्यादि, तो इन शारीरिक व्यापारों से स्पष्ट हो जाता है कि गूँगे को गुड़ का आस्वादन प्रिय मालूम दे रहा है। इसी प्रकार की निर्वाणगति भी है, जिसे आत्मनिष्ठ तथा आत्मकथात्मक कहा जा सकता है और जिनकी अर्थपूर्णता भी शारीरिक व्यापार द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। परन्तु, इसमें कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। निर्वाणप्राप्ति को अनात्मभावमूलक माना गया है। यदि वास्तव में निर्वाण की दशा आत्मभाव नहीं रहता है, तो निर्वाण-कथा को न तो आत्मनिष्ठ ही कहा जा सकता है और न आत्मकथामूलक। यही कारण है कि अन्तिम ध्यानस्थिति को 'संज्ञा-संज्ञा' कहा गया है। फिर राजा मिलिन्द द्वारा वारन्वप्रश्न किये जाने पर भदन्त नागसेन मौन रहे और अन्त में बताया—'निर्वाणशान्तं।' परन्तु, इस अवस्था में भी अन्य अर्हत् वता सकते हैं कि अमुक भिक्षु अन्त में निर्वाण प्राप्त किया है, या नहीं। निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता निम्नांकित रूप से निर्धारित की जा सकती है :

१. चूँकि अर्हत् में स्कन्ध का विलयन हो जाता है, इसलिये शारीरिक कष्ट को वह शारीरिक समझता है और उसे वह अपना दर्द नहीं मानता। इसलिये, दाँत में दर्द होने पर या शरीर के किसी भाग में भी कष्ट होने पर अर्हत् में व्याकुलता, बेचैनी नहीं पायी जाय, तो इस अनुभव को उपेक्षापूर्वक समझा जा सकता है। अतः, मौन धारण कर लेने पर भी निर्वाण-कथन स्पष्ट शारीरिक व्यापार से स्पष्ट की जा सकती है।

२. फिर, चूँकि अहंत् में अहंभाव नहीं होता और उसमें आत्मभाव का अभाव रहता है, इसलिये भाव-संवेगों के आश्रय (अर्थात्, आत्मा) के नहीं रहने पर अहंत् में दुश्चिन्ता, भय आदि का भी संचार नहीं होता है। अतः, न मृत्यु-भय और न पाप-भय अहंत् को हिला सकता है। अतः, मौन निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता आन्तरिक स्वच्छन्दता तथा निर्भय व्यवहार से निर्धारित होती है।

३. शारीरिक निश्चलता तथा मुख की आभा से अहंत्त्व भाँपा जा सकता है।

४. मानव और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता तथा सभी घटनाओं अथवा स्थितियों में उपेक्षाभाव को व्यापार द्वारा जाना जा सकता है और इन व्यापारों से निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता जानी जा सकती है।

५. यह ठीक है कि शुद्ध निर्वाण को शान्त कहा गया है और इसे सब प्रकार से वर्णनातीत भी माना गया है। परन्तु, यहाँ भी शारीरिक निस्तब्धता आदि पायी ही जाती है। अब यदि शारीरिक व्यापार पर अधिक बल न दिया जाय, तो भी अहंत् अपनी अनुभूति का प्रतिवेदन अन्य अहंत् को, विशेषकर गुरु को देता ही है। यह ठीक है कि साधारणतया अरूपलोक-ध्यान की अनुभूतियों को साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं; क्योंकि वस्तुविहीन आकाश, निर्विषय विज्ञान तथा शून्य की कल्पना करना अति कठिन कार्य कहा जायगा। परन्तु, इन अनुभूतियों की वास्तविकता को निर्वाण-प्राप्त गुरु मूल्यांकित कर सकता है।

६. यदि अहंत् में अरूपलोक-ध्यान तथा प्रज्ञाप्राप्ति को संज्ञापनीय नहीं समझा जाता, तो वे इस प्रकार की अनुभूतियों की क्रमिक व्यवस्था का उल्लेख नहीं कर पाते। कम-से-कम रूपलोक-ध्यान के चरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यानी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म विज्ञान के प्रति प्रगति कर रहा है और यही बात अरूपलोक-ध्यान के प्रतिकर्म-निमित्त अथवा कर्मस्थान के विषय भी कही जा सकती है। किसी भी क्रमिक विकास में निम्नतर अवस्थाओं की पुष्टि उच्चतर अवस्थाओं द्वारा की जाती है। फिर, उच्चतर अवस्थाओं का पूर्वाभास निम्नतर अवस्थाओं में पाया जाता है। अतः, क्रमिक अवस्थाएँ यदि स्थिर रहें, तो इन अवस्थाओं से सम्बद्ध कथनों की अर्थपूर्णता तदनु रूप अनुभव द्वारा निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ, ध्यान के प्रथम चरण में वितर्क और

विचार पाये जाते हैं। परन्तु, यहाँ भी आभासित होने लगता है कि ये चैतन्य प्रक्रियायें स्थूल हैं और ध्यानी की सूक्ष्म चेतना की ओर प्रगति करनी चाहिये। अब वितर्क-विचार की स्थूलता तभी पुष्ट समझी जायगी, जब इनके विलयन के बाद चित्त की सूक्ष्मता प्राप्त हो और दूसरे ध्यान में यह स्थिति प्राप्त होती जाती है। अतः, वितर्क-विचार की स्थूलता ध्यान के दूसरे चरण से सिद्ध होती जाती है। इस दृष्टि से सिद्धान्ततः सप्तम ध्यान की पुष्टि अन्तिम ध्यान होती है और अन्तिम ध्यान का भी पूर्वाभास सातवें ध्यान में अनुभूत होता है। अतः, बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता समाधि-अनुभवों की क्रमिक व्यवस्था के आधार पर सिद्धान्ततः सम्भव समझी जायगी।

७. फिर ध्यानी को समाधि की उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करने के ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। यद्यपि इन ऋद्धियों को आध्यात्मिक उपलब्धियों नहीं माना जाता है, तथापि इनकी प्राप्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यानी अपने प्रयास में बहुत दूर तक सफल हो गया है और ध्यान-कथन वास्तव में अनुभूति के बोधक हैं :

८. अन्त में, वास्तव में निर्वाण-कथन सत्य हैं या असत्य, यह अनावश्यक प्रश्न है। सही समस्या है; क्या निर्वाण-गति परीक्षणीय है या नहीं? कभी भी धार्मिक कथन अलग-अलग सत्यापनीय नहीं होते। अन्तिम रूप में धार्मिक कथनों की सत्यापनीयता धर्मविलम्बियों के जीवन और उनकी निर्भय मृत्यु द्वारा मूल्यांकित होती है। बुद्ध भगवान् के जीवन और उनकी मृत्यु से उनके आदेशों का स्पष्टीकरण होता है। इसी प्रकार आनन्द, मौद्गल्यायन तथा सारिपुत्र के जीवन से ही बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता अभिव्यक्त होती है। यदि इन जीवनियों से मानव अनुप्राणित हों और वे उनके पद-चिह्नों पर चलने के लिये उत्प्रेरित हों, तो ये उत्प्रेरणाएँ बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता कही जायेंगी।

मेरी समझ में शील, समाधि और प्रज्ञा-सम्बन्धी कथन वास्तव में अर्थपूर्ण हैं। समाधि एक प्रकार का 'अनुभूति-विषयक' प्रयोग है और सिद्धान्ततः इसे अनुभव द्वारा अर्थपूर्ण माना जायगा। परन्तु, मुख्य प्रश्न है : क्या निर्वाण-गति को इस युग में भी स्वीकारा जा सकता है? क्या ऐहिकतावादी युग में निर्वाण-प्राप्ति को जीवन का चरम उद्देश्य स्वीकारा जा सकता है?

जीवन का चरम उद्देश्य एक प्रकार का नहीं होता। गान्धीजी के युग में स्वतन्त्रता-संग्राम में सामाजिक पदों को छोड़कर जेल जाना महान् और पुनीत

उद्देश्य समझा जाता था । इस युग में अब यह उद्देश्य फीका पड़ गया है । क्या समाजवादी युग में निर्वाण-गति को जीवन का चरम उद्देश्य समझा जा सकता है ? इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति में परस्पर-विरोध देखने में आता है । निर्वाण-प्राप्ति के लिए आत्मभाव का विलयन करना पड़ता है, उपेक्षाभाव को प्राप्त होना पड़ता है, संसार-विमुखता को अपनाना पड़ता है इत्यादि । समाजवादी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वार्थलोलुपता को त्यागना पड़ता है, परन्तु समाज-सुधार और लोकहित, के हेतु एवं सर्वहिताय-सर्वसुखाय व्यक्ति को छद्मसंकल्प के साथ सांसारिक कर्मक्षेत्र में पिल जाना पड़ता है । छद्मसंकल्प बिना आत्मभाव अथवा अहंभाव के सम्भव नहीं होता है । अतः, समाजवादी लक्ष्य की पूर्ति अहंभाव के दृढीकरण से उत्पन्न होती है और निर्वाण-प्राप्ति अहंभाव के विलयन से । क्या इन दो चरम अन्तों के बीच दोलन के फल-स्वरूप समसामयिक भारतीयों को जीवन में स्थिरता प्राप्त हो सकती है ? इन सेव प्रश्नों का समाधान वाद में किया जायगा । अब हम वेदान्ती धर्मदर्शन की व्याख्या करेंगे, जिसके प्रचार एवं प्रसार के कारण बौद्ध धर्मदर्शन का लोप हो गया और समकालीन हिन्दुत्व का उदय हुआ । इसका अध्ययन करने पर बौद्ध धर्मदर्शन की मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक त्रुटियाँ स्पष्ट हो जायेंगी और फिर हमें वर्तमानयुगीन चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा, ताकि भारतीयों के भावी धर्म की अटकल लगायी जा सके ।



अध्याय ६

शांकर अद्वैतवाद

विषय-प्रवेश : भारतीय दर्शनशास्त्रों में शांकर अद्वैतवाद को विशेष स्थान प्राप्त है। बिना अद्वैतवाद के अध्ययन किये हुए शायद ही कोई भारतीय संस्कृति को समझ सकता है। परन्तु, अद्वैतवाद अति जटिल दर्शन है, जिसमें सूक्ष्मताओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक जन्म अपर्याप्त हो जायगा। इस पुस्तक में विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा अन्य प्रकार के अद्वैतवाद की चर्चा न करके केवल शांकर अद्वैतवाद की रूपरेखा दी जायगी जो उसमें भी तत्त्वमीमांसा, न्याय तथा नीतिशास्त्र का उल्लेख नहीं ही किया जायगा। शांकर अद्वैतवाद के धर्मदर्शन के उस पक्ष को ही चर्चित किया जायगा, जिसके आधार पर निरीश्वरवाद को स्पष्ट करने में सहायता मिल सकती है।

इसमें सन्देह नहीं है कि शांकर अद्वैतवाद अधिक प्राचीन नहीं है। शांकर का जन्म सातवीं शताब्दी के अन्त में और इनकी मृत्यु लगभग ८२० ई० मानी जाती है। शांकर धर्मदर्शन समन्वयात्मक दृष्टि से अद्वितीय है जो विश्व में अभी तक कोई ऐसा दर्शन नहीं देखने में आता है, जिसमें सभी पन्थ सम्प्रदायों तथा प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को मर्यादापूर्वक यथोचित स्थान प्रदान किया गया है। इसका उल्लेख भक्तिमार्ग के सन्दर्भ में किया जायगा। स्वयं ईश्वर अपने व्यावहारिक जीवन में शुद्ध निरपेक्षतावादी नहीं थे; क्योंकि उन्होंने बड़े देवी-देवताओं की पूजा को वैध माना है और फिर इन देवी-देवताओं की स्तुति भी की है, जिसका उल्लेख भक्तिमार्ग के शीर्षक में किया जायगा। परन्तु, यदि ब्रह्म के सगुण और निगुण दो रूप हों और यदि शांकर अद्वैतवाद में निगुण परम सत्ता मान ली जाय, तो स्वीकारना होगा कि अद्वैत स्थिति में ईश्वर-पूजा का विलयन हो जाता है। इस रूप में शांकर अद्वैतवाद को अन्तिम रूप में निरीश्वरवादी कहा जायगा। इस पुस्तक में शांकर निगुणवाद को अपनाया जायगा; क्योंकि इसी प्रकार के धर्मदर्शन को सर्व अधिक न्यायसंगत समझा जा सकता है। इसकी चर्चा फिर ब्रह्मविहार में दी जायगी।

जो कुछ भी शांकर अद्वैतवाद के सन्दर्भ में कहा जाय, हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि शंकर के समय में वैदिक और अवैदिक धाराओं का बहुत अधिक सम्मिश्रण और समन्वय हो चुका था और हिन्दुत्व का स्थायी रूप बन चुका था। इस विशाल और व्यापक हिन्दुत्व में श्रमण-परम्परा को भी सम्पूर्णतया अपना लिया गया था और शांकर अद्वैतवाद को इस विशाल धर्म का दार्शनिक आधार माना जा सकता है। शंकर ने श्रमण-परम्परा के अज्ञान, कर्म, संसार तथा मोक्ष इस सिद्धान्त-चतुष्टय को सम्पूर्णतया स्वीकार कर लिया है और इसके साथ-ही-साथ आर्य अथवा वैदिक विधान को भी मान लिया है। परन्तु, इस समन्वय में श्रमण-परम्परा के मूल सिद्धान्तों को अधिक प्रधानता दी गयी है। परन्तु, भारतीय परम्पराओं के सभी तत्त्वों को एक साथ स्वीकारना सम्भव नहीं है। विशेष कर बौद्धों के अनात्मवाद तथा क्षणिकवाद को ब्रह्म-विचार में स्थान देना शंकर के लिये सम्भव नहीं हो सका और इसलिये शंकर को कितना ही प्रच्छन्न बौद्ध क्यों न माना जाय, परन्तु वास्तव में उनका ब्रह्म-विचार अनात्मवाद के एकदम विरोध में था। शंकर ने ब्रह्म की एक नित्य, स्थायी तथा कूटस्थ परम सत्ता निम्नांकित विचारों^१ के आधार पर स्थापित की है :

१. नित्य और अनित्य सापेक्ष भावनार्ये हैं और एक भावना को दूसरी भावना से पृथक् कर तर्कसंगत रीति से नहीं विचारा जा सकता है। इसलिये, क्षणिकत्व को स्थायित्व से अलग करके नहीं स्वीकारा जा सकता है। यदि हम बौद्धों के इस मत को स्वीकार कर लें कि व्यावहारिक जगत् की सभी वस्तुयें क्षणिक और सीमित हैं, तो हमें यह भी स्वीकारना चाहिये कि इन क्षणभंगुर वस्तुओं के आधार में कोई एक ऐसी सत्ता है, जो स्थायी तथा नित्य है। एक से अधिक परम सत्ता नहीं हो सकती, इसलिये परम पदार्थ एक ही हो सकता है। फिर, आगे चलकर हम देखेंगे कि यह परम सत्ता निर्गुण है और इसलिये इसे एक-अनेक आदि गुणों से सम्पन्न नहीं समझना चाहिये। अतएव, इस परम सत्ता को 'अद्वैत' कहा गया है, न कि 'एक'। 'अद्वैत' पद से ब्रह्म के परम सत् तथा इसके भावात्मक पक्ष को परिलक्षित

१. शंकर की युक्तियाँ अधिक विस्तारपूर्ण और सूक्ष्म हैं। यहाँ केवल रूपरेखा-मात्र है।—ले०

किया जाता है और इस ब्रह्म के निर्गुणत्व को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया गया है।

२. शंकर सभी धर्मशास्त्रों को भी मान्यता देते हैं और उनका कहना है कि वेद, स्मृति, उपनिषदों आदि में बताया गया है कि अपरिमित, नित्य तथा शाश्वत सत्ता है, जो इस विश्व का आधारभूत मूल है। शास्त्रों के इस कथन को अनेक सन्तों तथा जीवन्मुक्तों ने अपनी निर्भ्रान्त अनुभूति द्वारा सत्यापित किया है। इसलिये, ब्रह्म को आप्तवचन मानकर स्वीकार कर लेना चाहिये।

३. हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि शांकर अद्वैतवाद प्रत्ययवाद (Idealism) है और इसलिये ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकारने के लिये हेगेलीय युक्ति प्रस्तुत की जा सकती है। हेगेल के अनुसार, यदि केवल सीमित ही वस्तु सत् होती, तो हम इसी सीमित तथा नश्वर वस्तुओं के चक्कर में पड़े रहते और हमें अद्वैत ब्रह्म का तनिक भी ज्ञान नहीं होता। हम यह भी नहीं जानते कि सीमित वस्तु सीमित है। 'सीमित' शब्द के प्रयोग से 'असीमित' का परिलक्षण हो जाता है और इसलिये सीमित वस्तुओं के सीमितपन के साथ हमें असीमितपन का भी बोध होता है और इसी अपरिमित सत्ता की प्रतीति से हमें आभासित होता है कि मानव और सभी वस्तुयें इस परम सत् की तुलना में सीमित और क्षणभंगुर हैं।

अतः, शंकर स्वीकार कर लेते हैं कि एक स्थायी, अपरिवर्त्तनशील, शाश्वत तथा कूटस्थ नित्य परम पदार्थ है, जिसे 'ब्रह्म' संज्ञा दी जा सकती है। शंकर के अनुसार, इस अद्वैत सत्ता के अतिरिक्त कोई भी अन्य वस्तुयें सत् (Real) नहीं कही जा सकती हैं, इसलिये जीवों और वस्तुओं का नानात्व मिथ्या है। अब मानव-विचार सत् और असत्, एक और अनेक, नित्य तथा क्षणभंगुर के दो सीमान्तों में दोलायमान होता रहता है। यही बात शंकर के दर्शन में पायी जाती है। इस दोलन में स्थिरता-प्राप्ति के लिये, शंकर के अनुसार, व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक जगत् में ही नानात्व, परिवर्त्तनशीलता तथा क्षणभंगुरता पायी जाती है। परन्तु पारमार्थिक सत्ता अद्वैत तथा नित्य रहती है। अतः, जीव अपनी शान्ति तथा स्थिरता-प्राप्ति के लिये नानात्व से अद्वैत की ओर प्रगति कर सकता है। यह कैसे? नानात्व तथा क्षणभंगुरता अज्ञान से उत्पन्न होते हैं।

यदि सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो अज्ञान दूर हो जायगा और अज्ञान के विलयन के साथ नानात्व भी लुप्त हो जायगा।

मान भी लिया जाय कि परम सत्ता अद्वैत है, तो इस स्थिति में नानात्व किस प्रकार सम्भव हो सकता है? शंकर के अनुसार, यह नानात्व ब्रह्म की मायाशक्ति से उत्पन्न होता है। तो क्या माया ब्रह्म में है या ब्रह्म को छोड़कर किसी अन्य सत्ता में है? चूँकि ब्रह्म केवल अद्वैत सत्ता है, इसलिये माया ब्रह्म को छोड़कर किसी अन्य सत्ता में नहीं हो सकती है। तो ब्रह्म की कार्यशक्ति-रूप माया किसको ठगती है? ब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई सत्ता नहीं है, जिसे ठगा जाय। तो क्या ब्रह्म स्वयं स्वांग रचकर अपने को ठगता है? पूरी बात ऐसी नहीं है। इस प्रकार के प्रश्न ब्रह्म में मानवतारोप (Anthropomorphism) के ही कारण उठाये जा रहे हैं। इस माया-कार्य को, जिससे नानात्व उत्पन्न होता है, 'लीला' संज्ञा दी जाती है। लीला को मानव इन्द्रिय-ज्ञान से नहीं जान सकता है। मानव के लिये अद्वैत ब्रह्म की परम सत्ता में नानात्व का कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म अपने में पूर्ण है। विश्व की घटनाओं से ब्रह्म की पूर्णता में कोई विकार नहीं होता है। समुद्र में ज्वार-भाटा उठता और फिर लय होता है, उर्मियाँ उछाल मारती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं। परन्तु, समुद्र न घटता है और न बढ़ता है। ब्रह्म की कूटस्थ नित्यता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

लेखक की दृष्टि में रामानुज के द्वारा माया-विषयक आपत्तियाँ मूलतः खण्डित नहीं की जा सकती हैं, चाहे हम इसपर कितनी ही अधिक तर्कबुद्धि खर्च क्यों न करें।^१ इसका कारण है कि सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य धार्मिक रहा है। इनका उद्देश्य है कि किस प्रकार, दार्शनिक आधार को उस धार्मिक अनुष्ठान के लिये तैयार किया जाय, जो मानव की निःश्रेयस्-प्राप्ति को स्पष्ट कर दे। अद्वैत वेदान्त का भी उद्देश्य शुद्ध रूप से बौद्धिक नहीं है। इसका भी यही उद्देश्य है कि किस प्रकार दुःखपूर्ण संसार से मानव को मुक्ति मिले। इस स्थिति में अद्वैतवाद के निम्नांकित चरण बताये जा सकते हैं :

(क) यह विश्व दुःखपूर्ण है।

१. अद्वैत दृष्टि से माया-सिद्धान्त की प्रतिरक्षा में सबल युक्तियों के लिये देखें, M. K. V. Iyer, Advaita Vedanta, Chap. IV, Asia Publishing House, 1964.

- (ख) परन्तु, अनेक सन्तों ने योग, समाधि तथा निदिध्यासन के आधार पर मोक्ष तथा विशुद्ध आनन्द को प्राप्त किया है।
- (ग) इस परमानन्द की अवस्था में ज्ञाता-ज्ञेय अथवा किसी विषय-विषयकी की चेतना नहीं रहती है।
- (घ) इस परमानन्द को मानव की परम गति कहा जा सकता है।
- (ङ) अतः, इसकी व्याख्या उसी रूप में तर्कसंगत रूप से की जा सकती है जिसे अद्वैतवाद कहा जाता है।

अन्तिम चरण को, अर्थात् दार्शनिक आधार को विश्व-प्राक्कल्पना रूप में माना गया है।

यदि ब्रह्म परम सत्ता हो, तो निदिध्यासन इत्यादि के द्वारा परमानन्द की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है;

परन्तु, परमानन्द की अवस्था वास्तविक है;

∴ ब्रह्म-सत्ता-विषयक दर्शन भी सम्भवतः सत्य है।

मूल बात है कि समाधि, निदिध्यासन आदि के द्वारा परमानन्द को मोक्षगति को प्राप्त किया जाय, अथवा दुःखपूर्ण संसार से मुक्त हुआ जाय। इसलिये, अद्वैतवाद की पुष्टि इसकी व्यावहारिक सफलता से जाँची गयी है। यह ठीक है कि विश्व-प्राक्कल्पना को वैज्ञानिक नहीं माना जायगा और इसे अकाट्य रूप से निदिध्यासन की सफलता से प्रमाणित किया जायगा। यह बात इसी से स्पष्ट होती है कि लगभग सभी भारतीय दर्शनशास्त्रों में ध्यान, योग, समाधि आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस विधि के अनुसरण से सभी प्रकार के विचारकों को लगभग एक ही प्रकार की मानसिक स्थिति का अनुभव हुआ था। परन्तु, उनकी दार्शनिक रचनायें विभिन्न रूपों में पायी गयी हैं। सांख्य के अनुसार, इस स्थिति को ख्यातिज्ञान कहना चाहिये। जैनों के अनुसार, इस स्थिति को विशुद्ध चैतन्य की अथवा सर्वज्ञता की अवस्था कहनी चाहिये और बौद्धों के अनुसार, इसे निर्वाण-गति की संज्ञा देनी चाहिये। इसलिये, भारतीय परम्परा में परम गति विशेष है। परन्तु, इस परम गति में मुख्य बात दृष्टि की है और इस दृष्टि को उत्पन्न करने अथवा उद्घोषित करने में दार्शनिक युक्तियों को, जो अनुनयात्मक (Persuasive) होती हैं, का आवश्यक अंग माना जाता है। परन्तु, भारतीय धर्मदर्शन को न केवल

ज्ञान और न कोरा सिद्धान्त माना जा सकता है। यदि भारतीय धर्मदर्शन को व्यावहारिक माना जाय और इसके व्यावहारिक पक्ष को विशेष माना जाय, तो इस रूप में यहाँ दिखाया गया है कि कैसे मुमुक्षु दुःखपूर्ण संसार से पार होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जब मुमुक्षु ब्रह्म बन जाता है, तब वह फिर अज्ञान से मुक्त होकर, इस संसार में जन्म नहीं लेता है। अतः, संसार से ब्रह्मप्राप्ति के सभी चरणों को प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु, ब्रह्म से संसार-जीव की दशा को नहीं प्रदर्शित किया जा सकता है। अतः, ब्रह्म-विश्व और विश्व-ब्रह्म का सम्बन्ध सममित (Symmetrical) नहीं है। यही कारण है कि ब्रह्म-माया तथा नानात्व के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।^१

सम्भव है कि विशिष्टाद्वैती, लेखक के इस सुझाव को न स्वीकार करें। कम-से-कम अद्वैती समझते हैं कि मोक्षावस्था ब्रह्मप्राप्ति की अवस्था है, जिसमें नानात्व नहीं पाया जाता है। अतः, इस ब्रह्म के स्वरूप को समझना आवश्यक है; क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति अद्वैती का एकमात्र निःश्रेयस् माना जाता है।

ब्रह्म का स्वरूप :

ब्रह्म दिक्-काल से परे, कूटस्थ नित्य, अपरिवर्त्तनशील अद्वैत सत्ता है। चूँकि ब्रह्म एकमात्र परम सत्ता है, इसलिये इसके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है, जिसके साथ इसके सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा सकता है। फिर, ब्रह्म में कोई अंग नहीं है, जिसकी व्यवस्था से ब्रह्म की रचना होती है। इसलिये ब्रह्म में न तो स्वजातीय और न विजातीय, न स्वगत और न वहिर्गत भेद पाया जाता है। ब्रह्म को इसलिये निर्गुण कहा जाता है कि इसमें अपना कोई भेद तथा लक्षण नहीं है। ब्रह्म के सन्दर्भ में इतना ही भर कहा जा सकता है कि यह है, पर हम नहीं बता सकते हैं कि ब्रह्म क्या है। ब्रह्म के विषय में केवल हम यही कह सकते हैं कि यह यह अमुक वस्तु नहीं है, यह वह अमुक पदार्थ नहीं है (नेति, नेति) इत्यादि। इसलिये ब्रह्म को अनिर्वचनीय

१. रसेल के अनुसार, उस सम्बन्ध को सममित कहा जाता है, जिसके आधार पर y और x के बीच के सम्बन्ध R से x और y के R सम्बन्ध को आपादित किया जा सकता है, अर्थात् $xRy > yRx$ । इसके विपरीत असममित सम्बन्ध वह है, जिसमें $xRy > \sim yRx$ ।

कहा जाता है। प्रायः ब्रह्म को लोग 'सच्चिदानन्द' (सत् + चित् + आनन्द) कहते हैं। परन्तु, शुद्ध रूप में कहना चाहिये, ब्रह्म असत् नहीं है, अचित् नहीं है और निरानन्द नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म शून्य है। ब्रह्म को निर्विकार अभेदित सत् मानना चाहिये। जब कहा जाता है कि ब्रह्म अचित् नहीं, अचित् नहीं, निरानन्द नहीं, तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म को सम्पूर्ण वस्तुओं (असत् से परिलक्षित) तथा जीवों (अचित् तथा निरानन्द प्रत्ययों से परिलक्षित) का आलम्बन तथा अधिष्ठान समझना चाहिये, अर्थात् बिना ब्रह्म के कोई भी वस्तु तथा जीव यथार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। ब्रह्म को चिन्त्य विषयवस्तु करने के लिये उपमामय रूप में कहा जा सकता है कि यह वह वर्णहीन पट है, जिसपर वस्तुओं और जीवों, अर्थात् नानात्व को आरोपित किया जा सकता है। यहाँ 'आरोपण' शब्द का व्यवहार किया गया है और इसे भी स्पष्ट करना चाहिये।

ब्रह्म को नानात्व का आलम्बन अथवा अधिष्ठान कहा गया, इसलिङ्ग ब्रह्म को पदार्थ नहीं माना जा सकता है। जडवादी के अनुसार, जड ही सभी वस्तुओं का मूल पदार्थ है, जो विभिन्न रूपों में विशिष्ट जीव तथा वस्तु समझा जाता है। इस स्थिति में कुर्सी, टेबुल, पशु तथा विचार तक जड का ही विभिन्न रूप समझा जाता है। इस बात को व्यक्त करने के लिये कहा जाता है कि सभी वस्तुयें अन्त में जड ही के विभिन्न परिणाम हैं। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार, सभी वस्तुयें अन्त में सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के विभिन्न परिणाम हैं। अद्वैतवाद के अनुसार, वस्तुओं को ब्रह्म का विभिन्न परिणाम नहीं कहा जा सकता है। वस्तुओं और ब्रह्म में प्राकारिक अन्तर है। ब्रह्म किसी भी प्रकार की वस्तु नहीं है। वस्तुओं के माध्यम से केवल यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म पशु नहीं है, मानव नहीं, प्रत्यय तक नहीं है। इस परिणामवाद को त्याग कर शंकर ने अध्यास-सिद्धान्त को अपनाया है।

किसी एक आश्रय में दूसरी अन्य वस्तु के आरोपित करने को अध्यास कहा जाता है। जब रस्सी साँप दिखायी देती है, साँप चाँदी के भ्रम को उत्पन्न करता है अथवा बालू का ढेर जलाशय की मरीचिका उत्पन्न करता है तब कहा जाता है कि सर्प को रज्जु में, चाँदी को साँप में तथा जलाशय को बालुका में अध्यासित अथवा आरोपित किया गया है। इसी अध्यास-सिद्धान्त के अनुसार, कहा जाता है कि व्यावहारिक जगत् ब्रह्म में आरोपित कि

जाता है। परन्तु, जिस प्रकार रज्जु, सीप और बालू ही सत्य है, उसी प्रकार, सभी वस्तुओं का अधिष्ठान ब्रह्म ही एकमात्र नित्य सत्ता है। जगत् मिथ्या है। किस रूप में? इसे भी दो प्रकार की उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

चाँद एक ही है, परन्तु आँख को उँगली से दवाने पर वही एक चाँद दो दिखता है। फिर, यदि हम चाँद को तालाव की लहरों में देखें, तो एक ही चाँद लहरियों की अनेकता के साथ अनेक दिखेगा। इस उपमा को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं। प्रतिबिम्बों के नानात्व से चाँद के एकत्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार, वस्तुओं के नानात्व से ब्रह्म के अद्वैतत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद के समान दूसरी उपमा को अवच्छेदवाद कहते हैं। जिस प्रकार, आकाश मेघों के द्वारा आच्छादित होने पर सूर्य की दृष्टि को छेक लेता है, उसी प्रकार, अज्ञान-द्वारा ब्रह्म का असली स्वरूप जीवों की दृष्टि से ओझल हो जाता है। 'अवच्छेद' से घेरने का, सीमित करने आदि का अर्थ होता है। इसलिये अवच्छेदवाद के अनुसार, अज्ञान द्वारा ब्रह्म पर परदा पड़ जाता है और साथ-ही-साथ नाम-रूप तथा अन्य उपाधियों से सीमित होकर अपरिमित ब्रह्म नानात्व रूप में दिखने लगता है। उदाहरणार्थ, आकाश अनन्त है। परन्तु, घट और मठ आदि में सीमित होकर, यह अनन्त आकाश घटाकाश, मठाकाश, ग्रामाकाश आदि हो जाता है। अतः, अज्ञान केवल ब्रह्म का आवरण ही नहीं करता है, परन्तु इसका जो अपना रूप है, उसे अज्ञान भ्रमपूर्ण प्रकार से बोधित करता है, अर्थात् असत् वस्तुओं को ब्रह्म पर आरोपित कर देता है। यदि किसी प्रकार, अज्ञान को दूर कर दिया जाय, तो नानात्व का विलयन हो जायगा और अद्वैत ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं दिखेगा।

चूँकि परम सत् केवल आलम्बन-मात्र है और नाम-रूप तथा अन्य उपाधियों से विभूषित नाना वस्तुयें केवल आरोपित भ्रम हैं, इसलिये यदि हमें इन वस्तुओं का ज्ञान हो जाय, तो वास्तव में हमें भ्रम का ही (अर्थात्, आरोपित भ्रम-रूप वस्तुओं का) ज्ञान होगा। इस ज्ञान से आधारभूत परम सत्ता ब्रह्म का ज्ञान नहीं कहा जायगा। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, वैज्ञानिक ज्ञान आरोपित वस्तुओं का होता है और इस प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान से ब्रह्म-ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। यह ठीक है कि आरोपित वस्तुयें आकाश-

पुष्प तथा बन्ध्या माता के पुत्र के समान असत् नहीं हैं : इनकी भी व्यावहारिक सत्ता है। तो भी स्वीकारना होगा कि ब्रह्म-ज्ञान व्यावहारिक जगत् के वैज्ञानिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान को अनुभवानुसृत कहा जाय, तो ब्रह्म-ज्ञान को अनुभवेतर (Non-empirical) कहा जायगा। अब इसकी चर्चा बाद में की जायगी कि अनुभवेतर ज्ञान को दर्शन में स्थान दिया जा सकता है या नहीं। फिर, क्या इस ब्रह्म-ज्ञान को अर्थपूर्ण माना जा सकता है या नहीं। परन्तु, वेदान्त के अनुसार, ब्रह्म-ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब मन को व्यावहारिक जगत् के वैज्ञानिक ज्ञान से एकदम रिक्त कर लिया जाय। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, संवेदन आदि ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये आवरण और विक्षेप (अध्यास) का काम करता है। अतः, संवेदन आदि से मन को रिक्त करने पर ही अज्ञान तिरोहित हो सकता है और तब सही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति की आशा हो सकती है।

जिस प्रकार से बताया गया है कि ब्रह्म वह है, जिसे असत् नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार यह भी कहा गया है कि ब्रह्म वह है, जिसे अचित् नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार से ब्रह्म की सत्ता को सभी नाम-रूपों तथा उपाधियों से मुक्त समझा जाता है, उसी प्रकार, ब्रह्म का चित् भी सभी नाम-रूपों तथा विशिष्ट वस्तुओं के चित् से विमुक्त समझना चाहिये। यह चित् न टेबुल-कुर्सी का है, न पेड़-पौधों का है, न स्मृति-वेदना का है। इसका अपना कोई विशिष्ट विषय नहीं है। इसमें न भाव है और न संवेग। यह चित् शुद्ध चैतन्य है। परन्तु, साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि ब्रह्म निरानन्द नहीं है। इस आनन्द को सुख-भाव नहीं समझना चाहिये; क्योंकि साधारणतया सुख या तो संवेदनों से प्राप्त होता है या वृत्तियों की तुष्टि से सम्भव होता है। संवेदन को अज्ञान के अन्तर्गत गिना जाता है। इसलिये, ब्रह्म में संवेदन से उत्पन्न सुख सम्भव नहीं हो सकता है। फिर, चूँकि ब्रह्म नित्य पूर्ण और तृप्त है, इसलिये उसमें किसी प्रकार की वृत्ति नहीं हो सकती। अतः, ब्रह्म में वृत्ति-सन्तोष से भी आनन्द नहीं हो सकता है। यह आनन्द सभी साधारण भावों से विभिन्न और इतर है, जिसकी चर्चा बौद्धों के उपेक्षा-भाव के सन्दर्भ में कर दी गयी है। परन्तु, अद्वैत-वेदान्त में इस आनन्द को एकदम विलक्षण और अनुभवेतर समझना चाहिये।

अद्वैत ब्रह्म में अनेकता तथा अज्ञानयुक्त जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह रहस्यमय है और अद्वैत-वेदान्त में इसे 'लीला' संज्ञा दी गयी है। यह बात दूसरी है कि इस 'लीला' को दर्शन में स्थान दिया जाय, या न दिया जाय। परन्तु उपनिषदों में नाटकीय कार्य के रूप में बताया गया है कि ब्रह्म ने कहा, 'मैं अनेक हो जाऊँ' और इसी वाक्य से सृष्टि उत्पन्न हुई। सृष्टि के साथ ही काल और दिक् की भी रचना हुई। इसलिये सृष्टि किसी काल-विशेष में उत्पन्न नहीं हुई है, अर्थात् यहाँ प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि सृष्टि के पूर्व ब्रह्म (शुद्ध रूप में ईश्वर) क्या करता था। पहली बात है कि सृष्टि के पूर्व काल ही नहीं था। इसलिये बिना काल के पूर्व और अपर का अनुक्रम ही सम्भव नहीं है। फिर, चूँकि ब्रह्म नित्य और कालेतर सत्ता है, इसलिये ब्रह्म के लिये न तो सृष्टि और न काल ही सत्य है। अतएव, दार्शनिक दृष्टि से, वेदान्त के अनुसार, ब्रह्म और सृष्टि का सम्बन्ध लीलामय है।

सृष्टि-क्रम में सबसे पहले ईश्वर, तब हिरण्यगर्भ और तब वैश्वानर और विराट् आते हैं। ईश्वर मायायुक्त सृष्टिकर्त्ता है। हिरण्यगर्भ में ही सूक्ष्म रूप में वस्तुयें सूक्ष्म गुण तथा उपाधियों के साथ रहती हैं। वैश्वानर और विराट् स्थूल शरीरधारी होते हैं। जिस प्रकार, मायायुक्त विश्व का सृष्टि-कर्त्ता, संहारक और पालक ईश्वर है, उसी प्रकार, अज्ञानयुक्त जीव असलियत में ब्रह्म ही है। ईश्वर अपनी माया से भ्रम में नहीं पड़ता है। परन्तु, अपनी अविद्या से संसार-माया के चक्कर में पड़कर बद्ध हो जाता है। ईश्वर न तो सृष्ट, न बद्ध और न मुक्त कहा जा सकता है। सृष्टिकर्तृत्व ईश्वर का अपना सारगुण है और मुक्त जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त कथन में बताया गया है कि जीव अज्ञानवश अपने को संसार के साथ जोड़कर बन्धन में पड़ा रहता है और इसलिये नाना प्रकार के दुःखों से त्रस्त रहता है। जीव अपने शरीर और वासनाओं को 'अपना' समझता है और इस ममत्व-भाव अथवा अहंभाव से बन्धन बना रहता है। इस सन्दर्भ में जीव के पाँच कोषों की बात कही गयी है :

१. अन्नमय कोष, अर्थात् स्थूल शरीर।
२. प्राणमय कोष, अर्थात् जैविक सत्ता।
३. मनोमय कोष, अर्थात् चेतनमय मन।

४. विज्ञानमय कोष, अर्थात् आत्मचेतना । इसके अन्तर्गत विज्ञान और तकनीकी-विषयक ज्ञान भी सम्मिलित हैं ।
५. आनन्दमय कोष । यह उस अवस्था का बोध कराता है, जो साधारण संज्ञान और सुखभाव का मूल आधार है । जब जीव क्रमशः अपने को प्रथम चार अवस्थाओं के साथ आत्मसात् कर आनन्द-नामक अन्तिम चरण को प्राप्त करता है, तब उसकी मुक्ति हो जाती है ।

कभी-कभी पाँच कोषों के पाँच चरणों का बोध न करके सूक्ष्मता के क्रम से तीन ही कोषों का उल्लेख किया जाता है, अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर । कारणशरीर वह है, जिससे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर का विकास होता है । इस कारण शरीर को लिंगशरीर भी कहते हैं, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर अथवा आवागमन के चक्कर में इसी लिंगशरीर का संक्रमण होता रहता है । इसी लिंगशरीर में कर्म-संस्कार छिपा रहता है ।

यह ठीक है कि जीव अपने विभिन्न प्रकार के शरीर से तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करके उसके दुःख-सुख का अनुभव करता है । इस तादात्म्य को अविद्या और बन्धन कहा जायगा; क्योंकि जीव का अपना असली स्वरूप ब्रह्म है, जिसे निरानन्द नहीं कहा गया है । इस अविद्या को ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है । परन्तु, अविद्या और ज्ञान के स्वरूप पर भी प्रकाश डालना चाहिये ।

न तो अविद्या वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव का बोधक है और न ज्ञान ही आनुभविक ज्ञान का द्योतक है । वास्तव में ये दो दृष्टियाँ हैं । बौद्ध दर्शन में समुचित निर्वाणदायक ज्ञान को 'सम्यग्-दृष्टि' संज्ञा दी गयी है । यहाँ दृष्टि से अर्थ है, गहरी तथा स्थायी अभिवृत्ति, जिसके अनुसार वस्तुयें दिखें । जादूगर हमारी दृष्टि को फेरकर अपनी इच्छा के अनुसार, हमें अपना कौतुक दिखाता है । एक ही सिक्के को वह अनेक दिखाता है । परन्तु, यह दृष्टि फेर अस्थायी होता है । इसकी अपेक्षा युगदृष्टि अधिक व्यापक और स्थायी होती है । एक समय था, जब सभी घटनाओं की व्याख्या तन्त्र-मन्त्र तथा भूत-प्रेतों के माध्यम से होती थी । परन्तु, यह प्राचीन युगदृष्टि बदल गयी है । शिक्षित वर्ग के लोग सभी घटनाओं की व्याख्या वर्तमानकाल में वैज्ञानिक विधि के अनुरूप किया करते हैं । शिक्षित लोगों के लिये बीमारी कीटाणुओं से,

विटामिन की कमी आदि कारणों से उत्पन्न होती है। बीमारी की व्याख्या वर्तमान शिक्षित व्यक्ति के लिये भूत-प्रेत तथा जादू के आधार पर नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार, अद्वैत वेदान्त के अनुसार, जीवों को ब्रह्म के स्थान पर नाम-रूपों, उपाधियुक्त वस्तुओं का नानात्व अविद्या के कारण मालूम होता है। इस अविद्या-दृष्टि को बदलना ही मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य है। जब नानात्व के स्थान पर सभी जगह, सभी कालों में ब्रह्म दिखायी पड़ने लगे, तो इसे सही ज्ञान अथवा सम्यग्दृष्टि कहा जायगा।

आर० एम० हेयर^१ ने बताया है कि अनुभववादी दोषपूर्ण रीति से धार्मिक कथनों को सूचनात्मक अथवा संज्ञानात्मक (Cognitive) समझते हैं। हेयर के अनुसार, धार्मिक कथन अथवा ईश्वर-सम्बन्धी कथन ब्लिंक-कथन, अर्थात् दृष्टि-विषयक होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि जो बात बौद्धों ने और अन्य भारतीय विचारकों ने कई सहस्र वर्ष पहले कही थी, उसी बात को समकालीन धर्मदार्शनिक दुहरा रहे हैं। हेयर के अनुसार, ब्लिंक लगभग स्थायी दृष्टि है, जिसके आधार पर हम सत्यता-असत्यता, यथार्थता-विपर्यय तथा भ्रम की कसौटी प्रस्तुत करते हैं। अतः, विश्व-दृष्टि अनेक चेतन और अचेतन निर्धारकों से पुष्ट-अपुष्ट होती है। मानव दृष्टि-शून्यता से जीवन का अनुभव प्रारम्भ नहीं करता है : वह अपने युग की दृष्टि से ही प्रभावित होकर अनुभव प्राप्त करता है। अतः, जीव अपर्याप्त दृष्टि से ज्ञान-वृद्धि के साथ अधिक व्यापक और अपेक्षाकृत दिव्य दृष्टि को प्राप्त करता है। इसलिये, उसी दृष्टि को अन्तिम रूप से ग्रहण किया जायगा, जो अन्त में किसी अन्य ज्ञान-वृद्धि के आधार पर खण्डित अथवा बाधित नहीं होना है। अन्तिम ज्ञान अथवा दृष्टि वह है, जिसमें परम सत्ता परम सत् के रूप में कूटस्थ नित्य दिखायी दे। इसलिये, अन्तिम ज्ञान वह है, जिसमें नानात्व के स्थान पर मात्र ब्रह्म दिखायी दे। क्यों इस दृष्टि अथवा ज्ञान को सत्य समझा जायगा ?

इस प्रसंग में शांकर अद्वैतवाद के अनुसार, वही पारमार्थिक ज्ञान है, जो सभी प्रकार की अनुभूतियों से बाधित न हो। यहाँ चार प्रकार की दृष्टियों

१. देखें, समकालीन धर्मदर्शन, पृ० ३३६-३४१। मूल लेख देखें, R. M. Hare, *Theology and Falsification in New Essays in Philosophical Theology*, ed. A. Flew/A. Macintyre, SCM Press.

का सोपानक्रमिक उल्लेख किया गया है, अर्थात् १. स्वप्नावस्था । २. जाग्रत् अवस्था । ३. निर्विघ्न निद्रा की अवस्था । ४. तुरीय अवस्था ।

स्वप्नावस्था का ज्ञान अपर्याप्त होता है; क्योंकि जागते ही हम स्वप्नों में अनुभूत वस्तुओं को भ्रम समझते हैं । परन्तु, जाग्रत् अवस्था में प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान को क्यों भ्रम माना जाय ? यहाँ यही एक कसौटी है, अर्थात् अवाधित्व । यदि ऐसी अनुभूति प्राप्त हो जाय, जिसे प्रामाणिक और सिद्ध स्वीकार किया जाय और जो लगभग स्थायी हो, तो उस अनुभूति के आधार पर, जो सत्य माना जायगा, उसे ही सत्यता की कसौटी समझा जायगा । जाग्रत् अनुभूति को स्वप्नों की अनुभूति की तुलना में अधिक स्थायी और प्रामाणिक स्वीकारा जाता है और इस जाग्रत् अवस्था की सत्यता की कसौटी के आधार पर स्वप्नों में प्राप्त वस्तुओं को मात्र भ्रम समझा जाता है । फिर, एक दूसरी कसौटी भी शांकर अद्वैतवाद से निस्सृत होती है । चूँकि परम सत्ता अविभेदिन है और सभी प्रकार के सम्बन्धों से रिक्त है, इसलिये वह अनुभूति, जिसमें अभेदि सत्ता का भान हो, अधिक विश्वसनीय समझी जायगी । अब जाग्रत् अवस्था की तुलना में निर्विघ्न गहरी निद्रा में ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं पाया जाता है । इसलिये जाग्रत् अनुभूति की तुलना में इसे अधिक विश्वसनीय माना जायगा । दूसरी बात है कि घोर निद्रावस्था में परमानन्द का पूर्वाभास मिलता है । निर्विघ्न निद्रा के टूटने पर विश्राम-दशा का अनुभव होता है । परन्तु, इस निद्रावस्था को अन्तिम अनुभूति नहीं समझना चाहिये; क्योंकि सूक्ष्म रूप में इसमें भी ज्ञाता-ज्ञेय का अन्तर अव्यक्त रहता है, नहीं तो हम कैसे कहते हैं, 'मैंने विश्रामपूर्ण निद्रा का भोग किया है ।' इस निद्रा की स्मृति भी अवश्य रहती है और जहाँ स्मृति रहेगी, वहाँ ज्ञाता-ज्ञेय का भेद भी गौण रीति से विद्यमान रहता है । निद्रावस्था की तुलना में तुरीय अवस्था को अधिक स्थायी तथा सन्तोषजनक माना गया है । तुरीय अवस्था सिद्धों को प्राप्त होती है और इसमें ज्ञाता-ज्ञेय तथा किसी भी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता है । तुरीयावस्था में अनिर्वचनीय आनन्द पाया जाता है । चूँकि दुःख से जीव के छुटकारे के उद्देश्य को चरम माना जाता है, इसलिये अन्तिम ज्ञान में आनन्द के लक्षण को प्रमुख स्थान दिया जाता है । इस आनन्द के लक्षण को प्रधानता प्रदान करने से स्पष्ट हो जाता है कि पारमार्थिक ज्ञान को संज्ञानात्मक (Cognitive) नहीं स्वीकारा जा सकता है । इस पारमार्थिक

ज्ञान को 'दृष्टि' शब्द से ही व्यक्त किया जा सकता है और यह अर्थ इस प्रकार के वस्तुविषय के स्वरूप से स्पष्ट हो जाता है।

जीवों की चार अवस्थाओं के अनुरूप तीन प्रकार की विषयवस्तु की चर्चा की गयी है। अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और पारमाथिक सत्ता। प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत स्वप्न-वस्तु तथा दैनिक जीवन का विपर्यय गिना जाता है और इस विपर्यय का तीखा उदाहरण सर्प-रज्जु-भ्रम समझा जा सकता है। प्रातिभासिक वस्तुयें निम्नस्तरीय मानी गयी हैं; क्योंकि इनका मिथ्यापन जाग्रत् अवस्था की अनुभूति के आधार पर स्पष्ट हो जाता है। परन्तु, प्रातिभासिक वस्तुयें भी एकदम अयथार्थ नहीं हैं। उन्हें बन्ध्या माता के पुत्र के समान तार्किकतः असम्भव नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इनमें भी सुख-दुःख-भाव पाया जाता है और इन वस्तुओं की भी आभासिक सत्ता है। हाँ, यह सत्ता क्षणिक है और इसमें नियमबद्धता नहीं पायी जाती है। फ्रॉयड के अनुसार, इसमें यथार्थता का नहीं, बल्कि सुख-प्राप्ति-निमित्त इच्छापूर्कता का ही सिद्धान्त विशेष रूप से पाया जाता है।

प्रातिभासिक जगत् की तुलना में व्यावहारिक सत्ता को जाग्रत् अवस्था की वस्तुओं से निर्मित माना जाता है और चूँकि साधारणतया दैनिक जीवन में इस जाग्रत् अवस्था को ही प्रधानता दी जाती है, इसलिये सामान्य रूप से व्यावहारिक सत्ता को विशेष स्थान प्रदान किया जाता है। इसी व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जीवों का विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण चला आता है। फिर, जीवन का आचार और धर्म भी इसी व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत ही गिना जाता है। परन्तु, इस व्यावहारिक सत्ता को भी अन्तिम सत्ता नहीं स्वीकारा जाता है; क्योंकि इस व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं का मिथ्यापन भी सिद्धों की दृष्टि में स्पष्ट हो जाता है। परन्तु, अन्तिम ज्ञान, जिसमें पारमाथिक सत्ता का अनुभव होता है, जीवों की अन्तिम स्थिति है। इसलिये जबतक मुक्ति-ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता है, तबतक जीवों को व्यावहारिक जगत् को सत्य समझना चाहिये, अर्थात् साधारणतया विज्ञान, नीति और धर्म को यथार्थ स्थान देना चाहिये। अतः, सिद्ध तथा मुक्त पुरुषों को छोड़कर शांकर वेदान्त के अनुसार, व्यावहारिक सत्ता को व्यावहारिक रूप में सत्य समझना चाहिये। केवल पारमाथिक दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर ही (जिस दृष्टि में अद्वैत, निर्गुण, नित्य ब्रह्म को छोड़कर अन्य कुछ का

-१४२

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

बोध ही नहीं होता है) इस व्यावहारिक जीवन का विज्ञान, आचार और धर्म बाधित हो जाता, अर्थात् मिथ्या सिद्ध हो जाता है। परन्तु, अन्त में व्यावहारिक सत्ता का आचार, धर्म और विज्ञान को भी मिथ्या कहा गया है। व्यावहारिक दृष्टि से जिस प्रकार का जीव होगा, उसी प्रकार के उसके देवता भी होंगे। चूँकि जीव अपने विकास के अनुसार, विभिन्न प्रकार के कोषों से अपना आत्मसात् कर लेता है, इसलिये कोषों के अनुरूप देवता भी होगा।

कोष-सिद्धान्त

देवता का स्वरूप

१. अन्नमय कोष

१. विराट् तथा वैश्वानर (अर्थात् सूक्ष्म एवं स्थूल वस्तुओं की समष्टि)

२. प्राणमय कोष

२. हिरण्यगर्भ (अर्थात्, सूक्ष्म वस्तुओं की समष्टि)

३. मनोमय कोष

४. विज्ञानमय कोष

५. आनन्दमय कोष

३. ईश्वर, जिसमें सभी वस्तुओं का वोज-रूप पाया जाता है।

जो व्यक्ति अपने शरीर को ही अपनी आत्मा समझता है, वह वैश्वानर-रूप में ही किसी देवी-देवता की पूजा कर सकता है। परन्तु, जब चेतना की गहराई के साथ जीव अपने को धीरे-धीरे विज्ञान, तकनीकी आदि के ज्ञान के साथ अपनी आत्मा का सार समझने लगता है, तब उसका देवता भी अधिक नीतिमान्, सर्वज्ञ, शुभ, करुणामय आदि दिखने लगता है। देवता के इस रूप को 'हिरण्यगर्भ' संज्ञा दी गयी है। परन्तु, जब जीव को सभी प्रकार की उपलब्धियाँ (धन-धान्य, दारा-पुत्र, विज्ञान, मान-मर्यादा आदि) व्यर्थ और क्षीण मालूम देती हैं और जब इन सब उपलब्धियों के स्थान पर विरक्ति-भाव से आनन्द का संचार होने लगता है, तब इस अवस्था में ईश्वर-रूप देवता की पूजा होती है। इस रूप में देवता 'अलख' कहा जा सकता है। परन्तु, ईश्वरोपासना को भी ब्रह्म-प्राप्ति की तुलना में निम्नतर कहा गया है; क्योंकि 'पूजा की स्थिति में' भक्त और भगवान् का भेद रह ही जाता है और अन्तिम अनुभूति वह है, जिसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहे। इस स्थिति में

शंकर अद्वैतवाद के अनुसार, पारमार्थिक गति निरीश्वरवादी कही जा सकती है। परन्तु, प्रश्न होता है कि इस ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग को कैसे स्थापित किया जाय।

मुक्ति-मार्ग :

भारतीय धर्मदर्शन में मुक्ति-प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं, अर्थात् कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग। शंकर के अनुसार, चूँकि अज्ञान ही बन्धन का मुख्य कारण है, इसलिये वही मार्ग यथार्थ और उपयुक्त होगा, जिसके अनुसार, इस अज्ञान का विलयन होगा। अज्ञान का विलयन सही ज्ञान के उदय के साथ हो सकता है। इसलिये शंकर वेदान्त के अनुसार, केवल पारमार्थिक ज्ञान के ही द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। परन्तु, शंकर ने कर्म और भक्ति को नकारा नहीं है। शंकर ने कर्म और भक्ति-मार्ग को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना है। इसका कारण है कि बन्धन के लिये संसार, अहंभाव, कर्तृत्व-भाव आदि अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और इसलिये इनका भी क्रमशः विलयन आवश्यक समझा जायगा। इसके विलयन के लिये कर्म और भक्ति को सहायक साधन समझा जाता है। अज्ञान का सबसे बड़ा परिणाम अहंभाव का होता है और अहंभाव को जारी रखने में विषय-वासना का सर्वोपरि स्थान कहा जायगा। कर्म-मार्ग के आधार पर काम-भाव का विलयन होकर अन्त में निष्काम कर्म का स्थान आता है और इस निष्काम कर्म के प्राप्त हो जाने पर वासना, इच्छा तथा कर्तृत्व-भाव का विलयन हो जाता है और अन्तिम ज्ञान प्राप्त करने के बाद ब्रह्म-प्राप्ति में निष्काम कर्म से सहायता मिलती है। इसी प्रकार, भक्ति-मार्ग को भी ज्ञान-प्राप्ति का अमूल्य साधन समझा गया है। भक्ति के ही आधार पर कर्मों को ईश्वर पर न्योछावर करके भक्त निष्काम कर्म के पालन में समर्थ होता है। इस रूप में भक्ति को कर्म-मार्ग से श्रेष्ठ माना जायगा; क्योंकि भक्ति के द्वारा कर्म-मार्ग का अन्तिम चरण प्राप्त होता है। फिर, भक्ति के आधार पर ईश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है और ईश्वर-प्रसाद से भक्त अन्त में ब्रह्म-ज्ञान का दान प्राप्त करता है। परन्तु, अन्तिम रूप में शंकर के अनुसार, केवल शुद्ध ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और तर्कशिरोमणि शंकर ने इस ज्ञान के पक्ष में निम्नांकित विचारों को कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है।

कर्म-योग अथवा कर्म-मार्ग :

चेतन तथा अचेतन क्रिया को 'कर्म' कहा गया है। यज्ञ और अयज्ञ दो प्रकार के कर्म हो सकते हैं। कर्मों को पाँच वर्गों में बाँटा गया है, अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध और वर्णाश्रम धर्म। नित्य कर्म शास्त्र-विहित कर्म हैं; जैसे, स्नान करना, सन्ध्या का पाठ करना इत्यादि। इन कर्मों के करने से पुण्य नहीं होता, परन्तु नित्य कर्मों के न करने से पाप लगता है। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो समय-समय अनिष्ट-क्षय के निवारण किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पापमोचन के लिये पश्चात्ताप करना तथा अनिष्ट से बचने के लिये जप करना। काम्य कर्म किसी उद्देश्य-विशेष की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। जैसे, स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ करने के लिये कहा गया है : ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। प्रतिषिद्ध कर्म निषिद्ध बताये गये हैं। वर्णाश्रम धर्म—प्रत्येक व्यक्ति का अपना कोई-न-कोई वर्ण होता है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। फिर, वह अपने जीवन के कोई-न-कोई आश्रम में होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक जीव का अपनी जाति तथा आश्रम के अनुसार, निश्चित कर्त्तव्य होता है। जैसे, क्षत्रिय का धर्म देश की संरक्षा करना है और ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर व्यक्ति को शिक्षा ग्रहण करना होता है आदि। वर्तमान युग में ब्रैडले की प्रसिद्ध उक्ति है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपने समाज के निश्चित स्थान में कोई-न-कोई कर्त्तव्य रहता है और इसी कर्त्तव्य को कर्त्तव्यता के हेतु निबाहना चाहिये।

शंकर ने कर्म-योग को मोक्ष-मार्ग नहीं स्वीकार किया है। परन्तु, कर्म-योग को शंकर ने ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना है। कर्मों को उचित रूप से निबाहने से मन की शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि ज्ञान-प्राप्ति के लिये सहायक बताया गयी है। द्वितीय, कर्मों के विधान को बराबर मानते रहने से संकल्प न दृढता आती जाती है और दृढ संकल्प के रहने से ही मुमुक्षात्व में बल आता है और अन्त में इसी मुमुक्षात्व के कारण ज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रयास बढ़ रहा है। तृतीय, वर्णाश्रम धर्म को कर्त्तव्यता के हेतु करना चाहिये, ताकि अपने कर्मों को निष्काम भाव से किया जा सके। सकाम कर्म से बन्धन होता है। परन्तु, निष्काम कर्म से कोई बन्धन नहीं होता, प्रत्युत वासनाओं तथा कर्तृत्व-भाव का विलयन होता है। जब इस भाव का विलयन होने लगता है

कि अमुक कर्म का कर्त्ता हूँ और मुझमें किसी भी फल की कामना है, तब ज्ञान-प्राप्ति में, अर्थात् नानात्व के स्थान पर ब्रह्म-प्राप्ति में प्रमुख सहायता मिलती है। ब्रह्म-प्राप्ति के लिये कर्म-योग को आवश्यक साधन मानते हुए भी शंकर ने निम्नांकित कारणों से कर्म-योग को मोक्ष-मार्ग नहीं स्वीकारा है :

१. कर्म-योग में कर्म और कर्म के कर्त्ता का भेद बराबर बना रहेगा और जहाँ भेद रहता है, वहाँ अभेदित अद्वैत ब्रह्म नहीं प्राप्त हो सकता है।

२. फिर, गीता में बताया गया है कि सभी कर्मों को ईश्वर की वेदी पर अर्पित करने से निष्काम कर्म भगवान् के प्रसाद के रूप में सम्भव होता है। इस स्थिति में कर्मयोग वास्तव में भक्तियोग पर निर्भर हो जाता है और इसलिये इस रूप में, इसे स्वतन्त्र कर्म-मार्ग नहीं स्वीकारा जा सकता है। फिर, निष्काम कर्म की प्राप्ति हो जाने पर भी ईश्वर और कर्मकर्त्ता अथवा कर्म का भेद रह ही जाता है, जिसके (अर्थात् ईश्वर के) लिये पूजा के रूप में निष्काम कर्म सम्पादित किया जाता है। अतः, निष्काम कर्म के आधार पर निर्गुण, निर्विकार परम सत् ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

३. अन्त में कर्त्तृत्व-भाव का विलयन होना चाहिये। परन्तु, कर्म बिना कर्त्ता के सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिये केवल शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही जीव प्रारब्ध, संचित तथा संचयीमान तीनों प्रकार के कर्मों से मुक्त हो सकता है।

वास्तव में देखा जाय, तो कर्मयोग का चरम चरण निष्काम कर्म की स्थिति में है और जबतक व्यक्ति ईश्वर को अपने सभी कर्मों को समर्पित न कर दे, तबतक निष्काम कर्म करना सम्भव नहीं है। कान्त ने भी बताया था कि जबतक व्यक्ति कर्त्तव्यों को ईश्वर की आज्ञा के रूप में न समझे, तबतक कर्त्तव्यता को अपनाना कठिन कार्य होता है। बाद में चलकर इस मत को मैथ्यु आर्नल्ड तथा आर० बी० ब्रैथवेट ने भी स्वीकार किया है, इसलिये कर्मयोग अन्त में भक्तियोग पर निर्भर हो जाता है। तो क्या भक्तियोग को मुक्ति-मार्ग माना जाय ?

भक्ति-योग :

शंकर 'कर्म-योग' से वैदिक यज्ञ नहीं समझते हैं; क्योंकि यज्ञों के द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, न कि मोक्ष। स्वर्ग-प्राप्ति अल्पकालीन होती है;

क्योंकि यज्ञों से प्राप्त पुण्यों की कमी हो जाने पर जीव को फिर से जन्म लेना पड़ता है। केवल मोक्ष ही नित्य होता है। परन्तु, केवल शुद्ध ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इस ज्ञान-प्राप्ति के लिये कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को अधिक सरल, सुगम तथा सन्तोषजनक साधन समझा जाता है। भक्ति के द्वारा वासनाओं का उन्मूलन तथा उनका परिशोधन सुगम हो जाता है। फिर, आत्म-विलोपन भी आसान हो जाता है; क्योंकि भक्त अपने को ईश्वर को समर्पित करना सीख लेता है और ईश्वर-दर्शन से भक्त में आत्मभाव तिरोहित हो जाता है। परन्तु, शंकर ने भक्ति-मार्ग को मुक्ति-मार्ग का साधन माना है, न कि मोक्ष-मार्ग।

हमने देखा है कि मुक्ति-ज्ञान वास्तव में पूर्ण दृष्टि है, जिस दृष्टि की प्राप्ति हो जाने पर व्यावहारिक जगत् की सत्ता तिरोहित हो जाती है। अतः, इस मुक्ति-ज्ञान को दिव्यज्योति, बोधि, त्रिनेत्र-दृष्टि आदि संज्ञाओं से पुकारा गया है। दिव्यज्योति प्राप्ति हो जाने पर नानात्व मिथ्या सिद्ध हो जाता है। इस ज्ञान-दृष्टि को प्राप्त करने में सम्पूर्ण मानव-विचार को छोड़ना पड़ता है; उसकी लम्बी ऐतिहासिक परम्परा को त्यागना पड़ता है और सम्पूर्ण सभ्य जीवन को तिलांजलि देनी पड़ती है। इसलिये व्यावहारिक जीवन की दृष्टि को छोड़कर पारमार्थिक दृष्टि को अपनाना अत्यन्त दुश्कर और कठिन तप है। अनवरत तथा निष्ठापूर्ण लगन के ही द्वारा शायद यह सम्भव हो जाय। ऐसी अवस्था में जब मानव अपने को निस्सहाय तप अत्यन्त दुर्बल पाता है, तब वह दैवी सत्ता की ओर झुकता है। शंकर के अनुसार, यह कठिन उपलब्धि ईश्वर के प्रसाद से सम्भव हो सकती है। इसलिये ज्ञान-प्राप्ति के लिये ईश्वर-भक्ति अमोघ साधन है।

इस स्थल पर हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि शंकर के अनुसार, निर्गुण ब्रह्म एकमात्र सत्ता है। परन्तु, निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त है और ध्यान के द्वारा इसे साक्षात् रीति से प्राप्त करना बड़ा कठिन है। परन्तु, अपेक्षाकृत सगुणोपासना आसान है। यहाँ उपासना (पूजा) और प्राप्ति में अन्तर किताब गया है। जब भी किसी देवता की पूजा की जायगी, तब उस देवता के व्यक्तित्वपूर्ण तथा अन्य गुणों से विभूषित माना जायगा। उपासना अथवा पूजा केवल सगुण की ही सम्भव है। निर्गुण परम सत्ता को ध्यान, योग तप

समाधि के द्वारा सिद्ध या प्राप्त किया जा सकता है। अतः, ब्रह्म-सिद्धि जीवों का एकमात्र लक्ष्य है, पर इसे सगुणोपासना के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

अन्तिम दृष्टि के अनुसार, सगुण और निर्गुण के बीच तात्त्विक अभेद है। एक ही परम सत्ता समाधि तथा निदिध्यासन के आधार पर सिद्धि का विषय होने पर निर्गुण और उपास्य होकर सगुण ब्रह्म कहलाती है। इसी दर्शन-दृष्टि के अनुसार, अज्ञानयुक्त ब्रह्म को जीव और ज्ञान-प्राप्त अथवा मुक्त जीव को ब्रह्म माना जाता है। अतः, ब्रह्म, सगुण ब्रह्म तथा जीवों में तात्त्विक अभेद है। इसी प्रकार, ब्रह्म अद्वैत रूप में निर्गुण ब्रह्म, मायायुक्त होने पर ईश्वर तथा अज्ञानयुक्त होने पर जीव और अनेक उपाधियों से युक्त होने पर जागतिक वस्तुयें कहलाता है। सबमें एक ही तात्त्विक आधार है, जिसे 'ब्रह्म' कहा जा सकता है। चूँकि तत्त्वों की शुद्धता के आधार पर निर्गुण, सगुण-जीव-विश्ववस्तु का सोपानक्रम है, इसलिये इसी क्रम से जीव को भी निर्गुण ब्रह्म की सगुणोपासना के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु, सगुण ब्रह्म की भी क्रमिक अवस्थायें हैं। सर्वप्रथम, मायायुक्त सृष्टिकर्ता ईश्वर का, तब हिरण्यगर्भ और अन्त में वैश्वानर अथवा विराट् का स्थान आता है। वैश्वानर आदि भी ईश्वर के अवतार के रूप में, अर्थात् राम, कृष्ण, शिव, भगवान् आदि के रूप में पूजित होता है। अतः, उपासना-क्रम में भी अवतारों की पूजा के बाद जीव को ईश्वर तक पहुँचना आवश्यक होता है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि ज्ञान-योग, जिसमें भक्ति-क्रम केवल साधनमात्र है, कितना कठिन है। जहाँतक गीता का सन्देश है, उसमें भक्ति को ज्ञानयुक्त होना चाहिये और ज्ञान को भक्तिपूर्ण होना चाहिये। स्वयं शंकराचार्य ने भी ज्ञान-योग को श्रेष्ठ मानते हुए, भक्ति के आश्रय को नहीं छोड़ा था। गीता में विविध देवी-देवताओं की पूजा को वैध मानते हुए कहा गया है :

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (६ : २३)

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ (६ : २५)

(अर्थात्, जो अन्य देवताओं को लोग पूजते हैं, वे एक ईश्वर ही को अज्ञानवश—अविधिपूर्वक पूजते हैं। इस प्रकार, पितरों की पूजा करनेवाले

१४८

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

भक्तों को पितर-लाभ होता तथा उच्चतर देवताओं की पूजा करने से उच्चतर देवताओं का लाभ होता है ।)

परन्तु, गीता के अनुसार, जबतक भक्त को यह ज्ञान न हो जाय कि सभी देवी-देवता एक ईश्वर के ही विभिन्न रूप हैं, तबतक उन्हें पूर्णानन्द नहीं प्राप्त हो सकता है और उन्हें बार-बार जन्म लेना पड़ता है :

अहं हि सर्वज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (६ : २४)

(सभी यज्ञों का एक ही भोक्ता ईश्वर को न जानने पर भक्त जनों की च्युति होती रहती है) । अतः, उपाय यह है कि इन विविध देवी-देवताओं के एकमात्र ईश्वर को पहचाना और जाना जाय । परन्तु, अज्ञानी भक्त अव्यक्त ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानकर उसकी उपासना करते हैं :

अव्यक्तं व्यक्तीमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । (७ : २४)

परन्तु, जो भक्त केवल एक ईश्वर को सभी देवी-देवताओं का एकमात्र आधार समझकर पूजते हैं, वे ही सच्चे भक्त कहे जा सकते हैं :

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ (६ : ३१)

ऐसा भक्त किसी की भी पूजा क्यों न करे (सर्वथा वर्तमानोऽपि) वह अन्त में केवल एक ईश्वर को ही प्राप्त करता है (स योगी मयि वर्तते) । परन्तु, इस सिद्धि को प्राप्त योगी को उतना ही भर सिद्ध कहा जायगा, जितना उसे भक्त कहा जायगा । अद्वैत के अनुसार, ज्ञान-मार्ग की अन्तिम सीढ़ी को भक्ति-मार्ग के क्रम से प्राप्त की जाती है, अर्थात् अवतार-पूजा, वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और अन्त में ईश्वर की पूजा सम्भव होती है । मुख्य विषय, जिसपर प्रकाश डालना है कि अव्यक्त, निर्गुण की प्राप्ति बिना ईश्वर भक्ति के सम्भव नहीं और इसमें साकार रूप अथवा प्रतीक (Symbol) आवश्यक अंग माना गया है ।

चूँकि जगत् की सभी वस्तुयें भ्रम हैं और ब्रह्म सभी वस्तुओं से इतर है, इसलिये ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है । वह सभी शब्दों और मानसिक कल्पनाओं से अछूता है । इस रूप में ब्रह्म मानव-मन से सर्वथा अतीत है ।

तब ब्रह्म तक कैसे पहुँचा जाय, किस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त किया जाय ? बिना ईश्वरोपासना से ईश्वर का प्रसाद नहीं मिल सकता है। परन्तु, ईश्वर सगुण है और साकार है। क्या साकार ईश्वर की पूजा से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? पूजा और ब्रह्म-ज्ञान दो भिन्न उपाय हैं। पूजा के आधार पर असाक्षात् रीति से ही ब्रह्म-ज्ञान सम्भव है, परन्तु स्वयं ईश्वर की प्राप्ति से ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि ईश्वर सृष्टि की दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता है और इस रूप में वह मायायुक्त सृष्टिकर्त्ता है। इस स्थिति में वह निर्गुण ब्रह्म से निम्नतर सत्ता हो जाता है। चूँकि स्वयं ईश्वर ही मायापूर्ण सत्ता है, इसलिये ईश्वर-भक्ति को मुक्ति-मार्ग नहीं माना जा सकता है। परन्तु, चूँकि स्वयं ईश्वर अपनी माया से ठगा नहीं जाता है, इसलिये वह अपने भक्तों को अपने अनुग्रह से दिव्यज्योति का दान कर सकता है। इस रूप में देखा जाय, तो किसी भी प्रतीक से निर्गुण ब्रह्म को साक्षात् रीति से नहीं वर्णित किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर भारतीय धर्मदर्शन पाश्चात्य धर्म-दर्शन से सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्य धर्मदर्शन के अनुसार, विश्व एक सोपान-क्रमिक व्यवस्था है और उच्चतर श्रेणिक वस्तुओं के द्वारा निम्नतर श्रेणिक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रकाश पड़ता है। ईसाई मत के अनुसार, ईसा के द्वारा परम सत्ता का हमें विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होता है। फिर, ईसाई विचारकों के अनुसार, शब्दों के द्वारा ईश्वर शब्दशः वर्णित नहीं होता है, तब भी शब्दों के द्वारा ईश्वर का साम्यानुमानिक (Analogical) वर्णन सम्भव और उचित माना जा सकता है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार :

१. ईश्वर तक निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाल सकता है, तो अवतार की क्या बात कही जा सकती है ?
२. यदि साम्यानुमानिक को संज्ञानात्मक कहा जाय, तो साम्यानुमान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान असाक्षात् रीति से सम्भव नहीं कहा जायगा। 'वाचो निवर्त्तन्ते मनसा सह' (शब्द और मन लौट आते हैं, अर्थात् पहुँच नहीं पाते हैं)।

तब क्यों नहीं ब्रह्म को अज्ञात और अज्ञेय समझकर सभी चिन्तन से परे मानकर उसके प्रति उदासीनता अथवा तटस्थता बरती जाय ? ऐसा करना मूढमतिवत् होगा; क्योंकि बिना मोक्ष के दुःखों का अन्त नहीं और बिना ब्रह्म-ज्ञान के मोक्ष सम्भव नहीं है। तब ब्रह्म-ज्ञान सम्भव कैसे होगा ? व्यावहारिक

ज्ञान (जो भ्रमपूर्ण ज्ञान है, अथवा अज्ञान है) को बाधित करने पर ही पारमाथिक दृष्टि सम्भव होगी और तब मोक्ष-ज्ञान अनायास हो जायगा। परन्तु, यह पारमाथिक दृष्टि ईश्वर के प्रसाद के बिना सम्भव नहीं है और जहाँ ईश्वर की उपासना सम्भव होने लगेगी, वहाँ निर्गुण को साकार करना पड़ेगा। परन्तु, ईश्वर भी अति सूक्ष्म है और उसकी उपासना बिना स्थूल साकारीकरण के सम्भव नहीं हो सकती है। परन्तु, ईश्वर के अनेक साकार रूप अथवा देवी-देवता हैं। किस देवता की पूजा की जाय ?

अनेक देवी-देवता अवश्य हैं। परन्तु, सभी के लिये सभी देवी-देवता एकरूप से सत्य नहीं होते हैं। केवल कोई एक विशिष्ट देवता ही इष्टदेवता होते हैं। इष्टदेवता वह है, जो भक्त के अन्दर क्रान्ति मचा दे, उसके जीवन में सार्थकता तथा स्थिरता ला दे। इष्टदेवता का वरण तथा चयन जीव के संस्कार पर निर्भर करता है। जिसका जैसा संस्कार है, उसका उसी के अनुसार, उसका देवता होता है। अतः, इष्टदेवता व्यक्ति की जाति तथा वैयक्तिक संस्कार से उत्पन्न होते हैं। परन्तु, साथ-ही-साथ जीव की आराधना को भी क्रमशः स्थूल रूप से सूक्ष्म देवी-देवता की ओर प्रगति करनी चाहिये, ताकि मुमुक्षु अन्त में ईश्वर की उपासना को भी अपना अन्तिम उद्देश्य न समझकर निर्गुण-प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील हो जाय। इसलिये इष्टदेवता को आध्यात्मिक विकास में जितना अपनाना आवश्यक है, उतना ही उसे छोड़कर उच्चतर देवी-देवता को अपनाना आवश्यक है और अन्त में सभी देवी-देवताओं की पूजा को त्यागकर निर्गुण ब्रह्म को सिद्ध करना होता है।

शंकर के उपर्युक्त आराधना-सिद्धान्त के तीन मुख्य निष्कर्षों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है :

१. बिना साकारीकरण के अथवा प्रतीक के निर्गुण-सिद्धि सम्भव नहीं है।
२. कौन प्रतीक किस व्यक्ति के लिये उपयुक्त होगा, यह बात व्यक्ति के चेतन-अचेतन संस्कार पर निर्भर करती है।
३. बिना प्रतीकों के ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव नहीं और फिर भी किसी भी प्रतीक (अर्थात् देवी-देवता) को अन्तिम रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

लेखक के अनुसार, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग और प्रमुख धर्मदार्शनिक पॉल तीलिख ने शंकर के इन तीनों निष्कर्षों को अक्षरशः स्वीकार किया है। इसलिये इष्टदेवता-विषयक शांकर सिद्धान्त सामयिक माना जायगा। फिर, चूंकि शंकर के अनुसार, अन्त में ईश्वर को भी अतिक्रमित कर निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति को सर्वोच्चतम कहा गया है, इसलिये अन्तिम निचोड़ के रूप में शांकर वेदान्त को निरीश्वरवादी ही कहा जायगा।

भक्ति का स्वरूप :

शंकर ने भक्ति-योग को नकारा नहीं है, वरन् ज्ञान-योग के सम्पन्न करने के लिये भक्ति को सहायक सोपान माना है। भारतीय परम्परा में भक्ति को लोकप्रिय तथा व्यापक धर्ममार्ग माना गया है। गीता, अलवार सन्त, रामानुज, माध्वाचार्य, निम्बार्क, वल्लभाचार्य, तुलसीदास, मीराँ, चतन्य महाप्रभु, तुकाराम आदि प्रमुख भक्ति-योग के पोषक बताये जा सकते हैं। भक्ति 'भज्' धातु से निकला है और 'भज' का अर्थ होता है, ईश्वर की सेवा तथा दासता। भक्ति भाव तथा संवेग-प्रधान मानसिक स्थिति है, जिसमें भक्त अपने को ईश्वर पर सम्पूर्णतया न्योछावर कर देता है और अपना सर्वस्व उसको समर्पित कर देता है। ईश्वर के प्रति विशुद्ध, सम्पूर्ण तथा निहंतुक प्रेम तथा आस्था को 'भक्ति' संज्ञा दी जाती है। यद्यपि भक्ति को निहंतुक होना चाहिये, तथापि चार प्रकार के भक्तों की चर्चा की गयी है, अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ('गीता' ७ : १६)। आर्त्त वे हैं, जो सांसारिक दुःखों से त्रस्त होकर, उनके निवारण-हेतु प्रभु के चरणों में शरणागत होते हैं। अर्थार्थी वे हैं, जो संसारी विषयों की प्राप्ति के लिये स्वार्थवश ईश्वर को भजते हैं। जिज्ञासु वे हैं, जो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये ईश्वर को भजते हैं। परन्तु, गीता में ज्ञानी, अर्थात् निष्काम भाव से प्रेरित होकर ईश्वर को भजनेवाले को श्रेष्ठ कहा गया है। फिर, भागवतपुराण में भक्ति के नौ भेद बताये गये हैं :

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(भाग० पु०, ७।५।२३)

भगवान् की लीला तथा उनके नाम का श्रवण (१), उन्हीं का कीर्त्तन (२), उनके रूप-नाम आदि का स्मरण (३), उनके चरणों की सेवा (४), पूजा-

अर्चना (५), वन्दना (६), दास्य-भाव रखना (७), सखी-भाव, अर्थात् ईश्वर के प्रति उसकी पत्नी होने के भाव को रखना (८) और ईश्वर के प्रति अपना आत्मनिवेदन अथवा समर्पण (९)। ईश्वर के प्रति प्रतिपत्ति अथवा दीपशिखा पर पतंग का अहेतुक (या निष्काम) आत्मोत्सर्ग को भक्ति कहा गया है और इसकी प्राप्ति के तीन चरण बताये गये हैं :

(क) भक्ति के प्रथम चरण में भक्त समझता है कि वह सम्पूर्णतया ईश्वर का ही है और इसलिये वह अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर देता है। परन्तु, भक्ति की इस दशा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि भगवान् के साथ भक्त का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं स्थापित होता है। भक्त को इस बात का भान होता है कि उसकी अपनी स्वतन्त्रता वास्तविकता है और इस रूप में वह सम्पूर्णतया ईश्वर का ही है। परन्तु, अहंत्व अथवा अहंभाव का विलयन इस चरण में नहीं होता है।

(ख) भक्ति के दूसरे चरण में भक्त को प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ईश्वर एकाधिकारिक रीति से भक्त का ही है। भक्त के अहंभाव का विलयन नहीं होता, परन्तु ईश्वर-सायुज्य उसे प्राप्त होता है और भक्त को ईश्वर की वास्तविकता का दृढ़ अन्तर्विश्वास हो जाता है।

(ग) अन्त में भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने से भक्त और भगवान् के बीच अनन्य अथवा तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और भक्त का अपना अहंभाव भी लुप्त हो जाता है। इस अवस्था में भक्त-भगवान् का रहस्यानुभविक मिलन होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति उपासना की चरम अवस्था है और इस गति में भक्त में आह्लाद अथवा आनन्द का संचार होता है। भक्ति को प्रायः कर्मयोग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, निम्नांकित कारणों के आधार पर, माना गया है :

१. कर्मों का औचित्य वर्ण और आश्रम पर निर्भर करता है। परन्तु, भक्ति सभी वर्णों के लिये एकरूप से उचित है। 'जो हरि को भजे, सो हरि का होई।' यही कारण है कि अनेक भक्त नीची जाति में पाये गये हैं।

२. ज्ञान सभी व्यक्तियों के लिये सुलभ नहीं है। केवल मेधावी व्यक्ति ही ज्ञान-मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु, निरक्षर भट्टाचार्य भी भक्ति का आश्रय ले सकते हैं, अर्थात् अपढ़ और निबुद्धि भी भक्ति की शरण लेकर भवसागर पार कर सकते हैं।
३. कर्मयोग में कर्म और कर्तृत्व-भाव के तनाव को हटाया नहीं जा सकता है। परन्तु, भक्ति में भक्त और भगवान् के बीच के भेद को बहुत कुछ कम किया जा सकता है और उनके बीच की दूरी बहुत कम की जा सकती है। इस स्थिति में भक्त और भगवान् के अभेद को भक्ति में बहुत दूर तक प्राप्त किया जा सकता है और कर्तृत्व-भाव को अथवा अहंभाव को दूर किया जा सकता है।

जब 'मैं' था तब गुरु नहीं,
अब गुरु हैं, हम नहीं।

४. कर्मयोग की पराकाष्ठा निष्काम कर्म में प्राप्त होती है और निष्काम कर्म बिना ईश्वर के अनुग्रह से सम्भव नहीं होता। अतः, कर्मयोग को अन्त में भक्तियोग पर निर्भर रहना होता है। इसलिये भक्ति को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है।

यद्यपि शंकर भक्ति को धार्मिक जीवन का अनुपम साधन मानते हैं, तथापि वे भक्ति को मोक्ष-मार्ग नहीं मानते हैं। इसका मुख्य कारण है कि शंकर निर्गुण को सगुण की अपेक्षा एकमात्र परम सत्ता मानते हैं। ईश्वर की सत्ता महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, परन्तु ईश्वर की सत्ता अन्त में व्यावहारिक ही कही जायगी, न कि पारमार्थिक। अन्तिम दृष्टि में ईश्वर को भी तिरोहित हो जाना चाहिये। शंकर के अनुसार, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता के बीच प्राकारिक अन्तर है और व्यावहारिक सत्ता की उच्चतम स्थिति भी पारमार्थिक सत्ता से कोसों दूर रहती है। पाश्चात्य मूर्त अथवा अंगांगिक प्रत्ययवाद के अनुसार सम्पूर्ण वस्तुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था को परम सत्ता कहा जा सकता है। इस रूप में अंगांगिक प्रत्ययवाद के अनुसार सम्पूर्ण और व्यावहारिक सत्ता में अन्तर अवश्य है, परन्तु व्यावहारिक सत्ता के आधार पर परम सत्ता पर यथोचित प्रकाश अवश्य पड़ता है। यह बात शंकर सिद्धान्त के सन्दर्भ में नहीं कही जा सकती है। इसलिये, ईश्वर-प्राप्ति से ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव

नहीं हो सकती है। परन्तु, ईश्वरोपासना से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है और इस अनुग्रह के कारण भक्त के अन्दर बोधि तथा दिव्यज्योति जागरित हो जाती है और तब भक्त ज्ञान-योग का अधिकारी हो जाता है। शंकर ने भक्ति को निम्नांकित रूप में ज्ञान-योग का सहायक अथवा साधन माना है :

(क) सर्वप्रथम, भक्ति द्वारा भक्त इस संसार से विरक्त होना सीख लेता है और सांसारिक सुखभोग को त्याग कर एक ईश्वर पर ही अपनी एकलव्यीय निष्ठा प्रस्थापित कर लेता है। इस कारण संसार-विरक्ति को प्राप्त कर भक्त अपनी विषय-वासना से भी मुक्त होने लगता है। जो भी भक्त कार्य-सम्पादन करता है, वह उस कर्म को निष्काम कर्म समझकर ईश्वर पर अर्पित कर देता है। चूँकि काम-भाव से ही बन्धन करनेवाले कर्मों का होना सम्भव होता है, इसलिये निष्काम कर्म करने से जीव कामना-रहित होकर सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है।

(ख) फिर, भक्त एकाग्रचित्त होकर ईश्वर को भजता है, इसलिये भक्त की बुद्धि अन्य वासनाओं और आकर्षणों से मुक्त होकर विशुद्ध हो जाती है और तब विशुद्ध बुद्धि सभी मोह से मुक्त होकर मोक्ष-ज्ञान की प्राप्ति के लिये पर्याप्त और उपयुक्त हो जाती है।

(ग) अन्त में भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर जीव में दिव्यज्योति को उद्बोधित कर देते हैं और जब जीव में बोधि जागरित होती है, तभी जीव अपने असली स्वरूप ब्रह्म का अनुभव करता है।

यद्यपि भक्ति को ज्ञान-मार्ग के लिये आवश्यक साधन माना जाता है, तथापि शंकर भक्ति-मार्ग को निम्नांकित कारणों से मोक्ष-मार्ग नहीं स्वीकारते हैं:

(अ) भक्त ईश्वर के कितना ही निकट क्यों नहीं पहुँच जाय, कितना ही अधिक उसे ऐसा क्यों नहीं प्रतीत हो कि वह और उसका भगवान् दोनों एक हैं, परन्तु तर्कतः भक्त और भगवान् के बीच भेद का रहना अनिवार्य होता है। भक्त और भगवान् के बीच भेद के न रहने पर कौन सत्ता को भजेगा? यदि पुजारी, पुष्प और देवता एक हो जायें, तो भक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायगी। यही बात

भक्ति-योग में भी कही गयी है कि ईश्वरोपासना से भक्त देवत्व को क्यों नहीं प्राप्त कर जाय, क्यों नहीं भक्त ईश्वरीय ऐश्वर्य को सिद्ध कर ले, क्यों नहीं अष्टसिद्धियों को साध ले, परन्तु वह भक्त ईश्वर नहीं हो सकता है; क्योंकि वह सृष्टिकर्तृत्व को नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः, भक्ति के आधार पर भक्त और भगवान् का द्वैत रह ही जाता है और इसके द्वारा अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

(आ) फिर, शंकर के अनुसार स्वयं ईश्वर ही को परम सत्ता नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि प्रलयकाल में ईश्वर भी निर्गुण ब्रह्म में लय हो जाते हैं। अतः, ईश्वरोपासना से जीव की अन्तिम गति, अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती है। अतः, ज्ञान के ही द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्त हो सकता है और इसलिये ज्ञानयोग की व्याख्या होनी चाहिये।

ज्ञान-योग :

हमने पहले ही वेदान्तीय 'ज्ञान' की व्याख्या कर दी है। इस ज्ञान से सम्यग्दृष्टि तथा व्यापक, गहरी तथा स्थायी अवाधित अभिवृत्ति का बोध होता है। अन्तिम ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सभी स्थलों पर नानात्व के स्थान पर केवल ब्रह्म का ही अनुभव होते रहना चाहिये। इस दृष्टि को बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया जाता है और अनेक आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप ही जीव ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। उसे कर्म-योग और भक्ति-योग को साधना पड़ता है और तब वह मन की शुद्धि, चित्त की विमलता, बुद्धि की तीक्ष्णता आदि को प्राप्त करके ही मुमुक्षु अपने को ज्ञान-मार्ग का अधिकारी समझ सकता है। परन्तु, ज्ञान-मार्ग स्वयं कठिन मार्ग है और बड़ी सावधानीपूर्वक ही इस मार्ग पर चला जा सकता है।

ज्ञान-मार्ग पर चले आने पर साधनचतुष्टय को अपनाया जाता है, जिसके चार चरण हैं। पहले चरण में नित्यानित्य-वस्तुविवेक का स्थान आता है, अर्थात् बौद्धिक स्तर पर साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं के भेद को समझना पड़ता है। अनित्य वस्तुयें व्यावहारिक सत्ता में पायी जाती हैं और विज्ञान की विषयवस्तु को भी अनित्य कहा जायगा। नित्य से यहाँ

अभिप्राय है ब्रह्म का, क्योंकि सभी अन्य वस्तुयें अथवा पदार्थ उच्चतर दिव्य-ज्योति की प्राप्ति हो जाने पर बाधित अथवा तिरोहित हो जाते हैं। केवल ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों अबाधित रह जाता है। जब साधक को वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान हो जाता है, तब वह स्वभावतः व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं के प्रति तटस्थ तथा विमुक्त हो जाता है और फिर उनके क्षणिकत्व से उद्विग्न होकर उनके प्रति साधक की लिप्सा क्षीण पड़ जाती है। ऐसी अनुभूति हो जाने पर दूसरे चरण का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें सभी ऐहिक तथा स्वर्गीय, सुखों की कामना का त्याग होने लगता है। इस स्थिति को इहामुखां भोग-विराग कहा गया है, अर्थात् इस संसार की सभी वस्तुओं के भोग तथा स्वर्गसुख के प्रति विराग-भाव चला आता है। विराग के उत्पन्न होने पर चित्त को शान्त रहना चाहिये और इसलिये, तीसरी अवस्था को शमदमाधि-साधनसम्पत् कहा गया है। इसमें छः सद्गुणों का उल्लेख किया गया है, जिसके आधार पर शारीरिक तथा मानसिक वृत्तियों का नियन्त्रण सम्भव होता है। शम, अर्थात् चित्त की शान्ति, दम (श्वास-नियन्त्रण), उपरति (वैदिक यज्ञों का त्याग तथा वितर्ककारी वृत्तियों का उपशमन), तितिक्षा (स्वाद, गरम-ठण्डा आदि के प्रति उदासीनता), समाधि और (शास्त्रों तथा गुरु के प्रति) श्रद्धा। अन्त में, साधक में मुमुक्षुत्व-भाव को होना चाहिये, अर्थात् उसके अन्दर ऐसी उत्कट पिपासा हो जानी चाहिये, कि ज्ञान-प्राप्ति के कठिन व्रत में साधक उत्तीर्ण हो सके।

परन्तु, पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करना आसान नहीं है। बिना गुरु की सहायता से साधक को ब्रह्म-प्राप्ति का लक्ष्य नहीं उपलब्ध हो सकता है। फिर, गुरु वह है, जिसे स्वयं ब्रह्म प्राप्त हो गया है। इसकी भी व्याख्या करनी चाहिये।

रसेल ने दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की है। एक को उन्होंने वर्णन के द्वारा ज्ञान (Knowledge by description) कहा है और दूसरे को साक्षात्कार के आधार पर (Knowledge by acquaintance) ज्ञान कहा है। उदाहरणार्थ, इस समय जो कुछ हमें बुद्ध भगवान् के विषय में ज्ञान होगा, वह वर्णनात्मक ज्ञान होगा। परन्तु, हमें इन्दिरा गान्धी के विषय में साक्षात् ज्ञान सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार, इस पुस्तक में जो कुछ मोक्ष के स्वरूप में लिखा जायगा, वह लेखक का मोक्ष-विषयक वर्णन-ज्ञान होगा। इसके विपरीत

गुरु वह है, जिसे मोक्ष प्राप्त हो गया है और इसलिये उसे मोक्ष का साक्षात् ज्ञान होता है ।

फिर, वेदान्त के अनुसार जिस वस्तु का हमें साक्षात् ज्ञान हो जाता है, उस वस्तु के रूप में ही हमारी चेतना रूपान्तरित हो जाती है । यदि इस समय हमें लाल पुस्तक का साक्षात् ज्ञान हो रहा है, तो इसका तात्पर्य है कि इस समय हमारी चेतना ने लाल पुस्तक का रूप धारण कर लिया है । बिना वस्तु के रूप में ढले हुए हमारी चेतना उस अमुक वस्तु का साक्षात् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती है । अतः, यदि गुरु को वास्तव में ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान हो जाता है, तो इस कथन का अर्थ हुआ कि गुरु स्वयं ब्रह्म बन जाता है । इसलिये, वेदान्त की प्रसिद्ध उक्ति है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', अर्थात् ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है । इस भाव से ओतप्रोत होकर कहा गया है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय ।

बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ॥ (कबीर)

कहने का अर्थ है कि ब्रह्म कोई विषयवस्तु नहीं है, जो ज्ञान तथा ज्ञाता से भिन्न है । ब्रह्म-ज्ञान के हो जाने पर ज्ञाता-ज्ञेय का भेद दूर हो जाता है और इस स्थिति में ब्रह्मानुभूति स्वानुभूति है और फिर अपनी अन्तःस्थ स्वानुरति ही ब्रह्मानुभूति है । अतः, ब्रह्म-ज्ञान को ब्रह्म-प्राप्ति अथवा ब्रह्मसिद्धि कहा जा सकता है ।

ब्रह्म-ज्ञान किसी विषय का वर्णन-ज्ञान नहीं है । गुरु के लिये ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्म की साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति है । परन्तु, जब गुरु मुमुक्षु को ब्रह्म-ज्ञान देता है, तब शिक्षा-ग्रहण करने की अवस्था में साधक को ब्रह्म का वर्णन-ज्ञान (Knowledge by description) प्राप्त होता है । गुरु और साधक, दोनों का प्रयास यही रहता है कि साधक को ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान हो जाये । इसलिये, गुरु मुमुक्षु को क्रमिक रूप से शिक्षा देता है । पहली स्थिति श्रवण की, तब मनन की और अन्त में निदिध्यासन का पाठ सिखाया जाता है ।

चूँकि साधक मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान का अभिलाषी होता, उसमें ज्ञानपिपासा बनी रहती है, इसलिये वह अपनी शंकाओं को गुरु के समक्ष रखता है :

कोऽहं, कस्त्वम् कुत आयातः ?

(मैं कौन हूँ, तुम कौन हो और कहाँ से हम आये हैं ?) इन प्रश्नों के समाधान के लिये गुरु महावाक्यों के अर्थ को बाँचता है ।

गुरु साधक को बताता है कि नानात्व भ्रममात्र है और केवल अद्वैत ब्रह्म ही सभी वस्तुओं का आलम्बन है । इसलिये गुरु का, साधक का और अन्य सभी जीव का भी आश्रय ब्रह्ममात्र है । अतएव, गुरु साधक को बताता है कि साधक भी वास्तव में ब्रह्म ही है । 'तत्त्वमसि' (वह, अर्थात् ब्रह्म भी तुम ही हो) तथा 'त्वम् ब्रह्म' (अर्थात्, तुम वास्तव में ब्रह्म हो) और तब अन्त में महावाक्य अनुभववाक्य होकर कहा जाता है, मैं भी ब्रह्म ही हूँ (अहं ब्रह्म) । वास्तव में जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

(ईशावास्योपनिषद्, १)

गुरु साधक को बताता है कि सभी वस्तुओं के आधार पर निर्विकार तथा निरूपाधिक ब्रह्म है और इसी एक ब्रह्म के स्थायी साक्षात्कार करने से ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती है । इसे कई उपमाओं से स्पष्ट किया जा सकता है । जब कोई व्यक्ति सुनार के पास गहना बेचने के लिये ले जाता है, तब सुनार उस गहने के रूप, आकार तथा बनावट आदि पर ध्यान न देकर केवल सोने पर ही ध्यान देता है । रूप, आकार, बनावट आदि केवल अनावश्यक उपाधियाँ हैं । सुनार इन उपाधियों को न देखना सीख लेता है और केवल सोने पर ही ध्यान देता है । इसी प्रकार मुमुक्षु को ब्रह्म को ही सभी स्थलों पर देखना चाहिये और वस्तुओं के रूप, आकार, नाम तथा अन्य गुणों पर ध्यान न देना सीख लेना चाहिये । फिर, बढ़ई किसी पेड़ को देखता है, तो उसका ध्यान टहनियों, पत्तों आदि पर न जाकर केवल लकड़ी पर जाता है, जिस लकड़ी से फर्नीचर बन सकता है । पत्ता, टहनी आदि केवल उपाधि-मात्र हैं । ठीक इसी प्रकार, वस्तुओं की उपाधियों पर ध्यान न देकर मुमुक्षु को सब वस्तुओं के आश्रय केवल ब्रह्म को ही देखने का अभ्यास हो जाना चाहिये । फिर, अपने शरीर, मन, चेतना आदि का भी तिरस्कार कर मुमुक्षु को अन्तःस्थ ब्रह्म को अनुभूत करते रहने में अभ्यस्त हो जाना चाहिये, अर्थात् जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक की दृष्टि में मूलभूत परिवर्तन होना चाहिये । परन्तु, यह पारमार्थिक दृष्टि ब्रह्म-विषयक कोरे वर्णन-ज्ञान से सम्भव नहीं हो सकती है । इस ब्रह्म-ज्ञान के सम्बन्ध में

साधक की बुद्धि अथवा मस्तिष्क में ही आमूल परिवर्तन होना चाहिये । इसलिये ब्रह्म का वर्णन-ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, उसपर साधक को मनन करना चाहिये ।

मनन से अर्थ है कि साधक को इस ब्रह्म के सम्बन्ध में सभी पटों और पक्षों से तर्कपूर्ण अन्तर्विश्वास होना चाहिये । उसे तत्त्वमसि और अहं ब्रह्म के विषय में पचीसों बार सन्देह करना चाहिये । इसके विरुद्ध सभी प्रकार की आपत्तियों पर विचार करना चाहिये । जब सभी प्रकार की उठायी गयी आपत्तियों का समाधान हो जाय और ब्रह्मदर्शन की सत्यता से मुमुक्षु विवश हो जाय, तब भी साधक को गुरु से प्राप्त ब्रह्म-सम्बन्धी वर्णन-ज्ञान को हृदयंगम करना चाहिये ।

परन्तु, यदि वेदान्ती दार्शनिक को ब्रह्म-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान हो भी जाय, तो भी उसे ब्रह्म-प्राप्त व्यक्ति नहीं कहा जायगा; क्योंकि उसकी व्यावहारिक दृष्टि में अन्तर नहीं आता है । ब्रह्म-विषयक वर्णन-ज्ञान को साक्षात् ज्ञान में परिणत करना आवश्यक होता है । व्यावहारिक दृष्टि के स्थान पर पारमार्थिक दृष्टि को प्राप्त करना होता है, ताकि साधक को केवल ब्रह्म ही दिखे । कोरे ज्ञान को स्थायी ब्रह्मसिद्ध की दृष्टि में परिणत करने के लिये निदिध्यासन की आवश्यकता पड़ जाती है । चित्त को सभी वस्तुओं से मोड़कर, एकाग्र होकर ब्रह्म पर स्थापित करना होता है और अनवरत ध्यान करते रहने के फल-स्वरूप ब्रह्म-प्राप्ति हो जाती है । नानात्व का विलयन हो जाता है और केवल एक अद्वैत ब्रह्म का साक्षात् होता रहता है । यही कारण है, याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म-रूप परमात्मा के विषय में कहा है, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ।' अन्त में जब ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो जाता है और व्यावहारिक दृष्टि नष्ट हो जाती है, तब कहा जा सकता है कि गुरु द्वारा किये गये उपदेश-वाक्य अन्त में अनुभव-वाक्यों में परिणत हो गये हैं । साधक अन्त में ब्रह्मसिद्ध हो जाता है । इस निदिध्यासन के कुछ चरणों का भी उल्लेख करना चाहिये, ताकि भारतीय ध्यान-योग पर भी प्रकाश पड़ता रहे ।

निदिध्यासन का अर्थ है कि सम्पूर्ण चित्त को किसी एक बिन्दु पर टिकाया जाय । हमलोगों ने देखा है कि बौद्धों की समाधि में अथवा जैनों के ध्यान में भी कोई-न-कोई आलम्बन रहता है । इसी प्रकार, निदिध्यासन में भी ओम् को ब्रह्म-प्राप्ति का आवश्यक आलम्बन माना गया है । ओम् में चार मात्रायें

मानी गयी हैं, अर्थात् अ, उ, म और चौथे को अमात्रा कहा गया है। इसी ओम् की चारों मात्राओं में क्रमशः ध्यान करते-करते अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति हो जाती है। माण्डूकीय तथा प्रश्न उपनिषदों की इस प्रणवोपासना के द्वारा मुमुक्षु अन्त में अमात्रा पर ध्यान करते-करते ब्रह्मसिद्ध हो जाता है। ओम् के प्रथम अक्षर 'अ' को सब अक्षरों के उच्चारण में सामान्य आधार माना गया है और ओंकार के इस 'अ' पर ध्यान करने पर सभी स्थूल वस्तुओं की समष्टि वैश्वानर को साधक प्राप्त कर लेता है, अर्थात् साधक जाग्रत अवस्था की उच्चतम गति को प्राप्त कर लेता है। तब साधक ओम् के 'उ' पर ध्यान लगाकर सभी सूक्ष्म वस्तुओं की समष्टि को, अर्थात् हिरण्यगर्भ को प्राप्त कर लेता है। ध्यान की इस अवस्था पर पहुँचने से साधक सुषुप्तावस्था को प्राप्त कर सूक्ष्म चेतना में समस्त वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का हिरण्यगर्भ के समान आस्वादन करता है। ओंकार के तीसरे अक्षर 'म्' पर ध्यान करने पर साधक उस अवस्था को प्राप्त करता है, जो स्वप्नहीन गहरी निद्रा की अवस्था होती है। इस अवस्था में ध्यानी ईश्वरत्व को प्राप्त करता है। जब ओंकार के अ, उ और म ध्यान की तीनों अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं, तब साधक अमात्रा पर ध्यान लगाने लगता है और वह तुरीय दशा को प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति में ध्यान करते रहने पर साधक अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति कर लेता है। यह ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था निर्वाण-गति के समान अनिर्वचनीय दशा होती है। यह वह स्थिति है, जो पारमार्थिक कही जाती है, अर्थात् जो व्यावहारिक दृष्टि से उच्चतर और सर्वथा इतर होती है। अतः, ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था साधारण अनुभूति के आधार पर नहीं मूल्यांकित की जा सकती है। परन्तु इसके दो मुख्य निष्कर्ष स्थापित किये जा सकते हैं :

१. निदिध्यासन की अन्तिम अवस्था निर्वाण-गति की दशा के समान ही वर्णनातीत तथा अनिर्वचनीय होती है।
२. दूसरी बात है कि निदिध्यासन के अन्तिम चरण में मोक्ष-प्राप्त साधक ईश्वर की गति से भी आगे चला जाता है, अर्थात् ईश्वर-गति को अन्तिम रूप में सत्य नहीं माना जा सकता है। अतः, अद्वैत वेदान्त अन्त में निरीश्वरवादी ही कहा जायगा।

पर, क्या मोक्ष-कथन को अर्थपूर्ण समझा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर बिना मोक्ष के स्वरूप की चर्चा किये नहीं दिया जा सकता है। अतः, मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या होनी चाहिये।

मोक्ष का स्वरूप :

शंकर के अनुसार, मुक्ति को नित्य, अखण्डित, अबाधित, सर्वसमावेशी, निर्गुण, अविभेदित तथा अशरीरी पारमार्थिक स्थिति कहा जा सकता है। केवल अनुभवजन्य स्थिति को मिथ्यापित अथवा बाधित किया जा सकता है। परन्तु, पारमार्थिक स्थिति सत्यापन तथा मिथ्यापन दोनों से परे और स्वतन्त्र रहती है। इस पारमार्थिक स्थिति को इन्द्रियानुभव, शब्द तथा वर्णन के द्वारा नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। मुक्ति जीव की अपनी अन्तःस्थ और स्थायी अवस्था है, जिसे उसका अज्ञान उसे अवगत नहीं होने देता है। अज्ञान के दूर होते ही जीवों को अपनी इस शाश्वत अवस्था का ज्ञान हो जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये अनेक उपमायें और दृष्टान्त को व्यवहृत किया गया है।

यदि किसी राजकुमार को गड़ेरियों के बीच पाला-पोसा जाय, तो उसका राजकुमारत्व विनष्ट नहीं होता है। परन्तु, जबतक उसके राजकुमार होने की घोषणा नहीं कर दी जाती, तबतक वह अपने को गड़ेरिया ही समझता है। यह राजकुमारत्व राजकुमार पर बाहर से आरोपित नहीं किया जाता है। यह उसकी अपनी निजी अवस्था है, जिसे वह अन्त में पुनः प्राप्त कर लेता है। फिर, प्रायः आत्मविस्मृति में हम अपने हार को इधर-उधर पूरे घर में ढूँढ़कर हार जाते हैं। तब एकाएक गले में पड़े हार पर दृष्टि डालकर उसे प्राप्त कर लेते हैं। यह हार कहीं अन्य स्थल पर नहीं था और न कहीं से प्राप्त किया गया है। यह हार गले में सभी समय पड़ा था। केवल हम इस बात से अनभिज्ञ थे कि हार गले में पड़ा है। पुनः, इसे दसवें आदमी की उपमा से स्पष्ट किया जाता है। जब दस आदमियों का नेता सन्ध्या समय सब आदमियों को गिनने लगता है, तब वह अपने को छोड़कर नौ ही आदमी को पाता है। जब बार-बार वह गिनती करके दसवें आदमी को नहीं पाता है, तब उसे कहा जाता है कि तू गिनती करनेवाला नेता ही दसवाँ आदमी है और इस ज्ञान से विडम्बना दूर हो जाती है। इन उपमाओं के आधार पर अद्वैत वेदान्त में बताया जाता है कि ब्रह्म कोई विषय नहीं है, कोई वस्तु और पदार्थ नहीं है, जिसे दिव्यज्योति की प्राप्ति से जाना जाता है। यह जीवों की अपनी ही निजी अवस्था है, जिससे अज्ञानवश वह खोया-खोया भटकता है। दिव्यज्ञान इसी अपनी निजी स्थिति की पुनःप्राप्ति है।

सर्वप्रथम, मुक्ति दो प्रकार की होती है, अर्थात् सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। सद्योमुक्ति वह है, जिसमें मुक्तिज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जगत्, जीव और ईश्वर तीनों का अस्तित्व लुप्त हो जाता है। सद्योमुक्ति को ज्ञानसम-कालमुक्ति भी कहा गया है, अर्थात् जिस क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी क्षण में मिथ्या जगत् और नानात्व का लय हो जाता और अद्वैत ब्रह्म सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत, क्रममुक्ति वह है, जिसमें ब्रह्मप्राप्ति आनुक्रमिक रूप से होती है। इस अनुक्रम की चर्चा सगुणोपासना के प्रसंग में कर दी गयी है, और फिर प्रणवोपासना के सन्दर्भ में भी बतायी गयी है। पुनः, विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति को मुक्ति के दो प्रकार बताये गये हैं। ज्ञानप्राप्ति के बाद मरणोत्तर गति को विदेहमुक्ति कहा जाता है। परन्तु, इस जीवन में भी शरीरी जीव को मुक्ति प्राप्त हो सकती है और इसे जीवन्मुक्ति कहा जाता है। चूँकि जीवन्मुक्ति आनुभविक दर्शन के लिए सत्यापनीय कही जा सकती है, इसलिए इसकी भी व्याख्या होनी चाहिये।

शंकर के अनुसार, मुक्तिज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी जीव इसी शरीर में रह सकता है और जबतक शरीर रहेगा, तबतक कर्म भी होते रहेंगे। इसका कारण है कि ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है। परन्तु, तीन प्रकार के कर्मों में से एक प्रकार का कर्म ज्ञानप्राप्ति के बाद भी जारी रहता है और जबतक यह कर्म जारी रहेगा, तबतक शरीर भी जारी रहेगा। दूसरे शब्दों में तीन प्रकार के कर्म होते हैं, अर्थात् संचित, संचयीमान और प्रारब्ध। पूर्व-संस्कारों के फलस्वरूप संचित कर्मों का विनाश ज्ञानप्राप्ति के बाद हो जाता है और फिर वे कर्म, जो इस जीवन में प्राप्त होते हैं, वे भी ज्ञानप्राप्ति के साथ विनष्ट होते रहते हैं। जिस प्रकार भूने हुए बीज से पौधा अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान-प्रकाश से संचित और संचयीमान कर्म भी भस होकर भविष्य में शरीर को जन्म नहीं दे सकते हैं। परन्तु, प्रारब्ध कर्म वे हैं, जो अभी प्रारम्भ होकर पूरे नहीं हुए हैं। जबतक इन प्रारब्ध कर्मों की गति समाप्त नहीं हो जाती है, तबतक शरीर जारी रहता है। इसकी उपाय कुम्हार के चाक से दी गयी है। चाक के चलाये जाने पर इसमें गति जारी रहती है। परन्तु, नहीं चलाये जाने पर भी चलते चाक में गति थोड़ी देर तक पहले से उत्पन्न गति के कारण जारी रहती है। इसे मोमेण्टम (अनुगति) कहा जाता है। इसी प्रकार, जब पूर्व-प्रारब्ध कर्मों का फल समाप्त हो जाता है

तभी शरीर का भी विनाश हो जाता है। शरीर के नाश हो जाने पर जीवन्मुक्त को विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में किये गये कर्मों से किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता। जली हुई रस्सी से कोई बाँधा नहीं जा सकता, जले हुए धागे से कोई वस्त्र नहीं बन सकता है। इसी प्रकार, जीवन्मुक्त के कर्मों से कोई बन्धन सम्भव नहीं हो सकता है। क्या जीवन्मुक्त के कर्मों को अच्छा-बुरा कहा जा सकता है ?

नैतिक कर्मों को ही अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित कहा जा सकता है और व्यावहारिक जगत् के कर्मों को ही 'नैतिक' संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु, जीवन्मुक्त पारमार्थिक लोक का जीव होता है। इसलिये, जीवन्मुक्त के कर्म को अच्छा-बुरा नहीं कहा जा सकता है, फिर जीवन्मुक्त के सभी कर्म निष्काम होते हैं; क्योंकि उसमें कोई कामना नहीं रहती है। वह पूर्ण हो जाता और ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। अन्तिम रूप में जहाँ व्यष्टि होगी, वहीं कामना होगी और कामनायुक्त कर्मों को ही अच्छा-बुरा कहा जा सकता है। परन्तु, ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर अहम्भाव तथा व्यष्टि का विनाश हो जाता और फिर कर्तृत्वभाव ही नहीं रहता है। जीवन्मुक्त केवल इतना ही भर जानता है, 'न किञ्चित् करोम्यहं' (मैं कुछ नहीं करता हूँ; क्योंकि मैं और ममत्व ही नहीं रहता है)। जहाँ कर्तृत्वभाव नहीं, ममत्व नहीं, वहाँ कर्म का भोगी कौन होगा ? अतः, जीवन्मुक्त सभी कर्मभेद से ऊपर उठ जाता है।

जीवन्मुक्त को भी तीन अवस्थाओं से पार होना पड़ता है, अर्थात् पाण्डित्य, बाल्य और मौन अवस्थायें। पहली अवस्था को पाण्डित्य की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि इस अवस्था में वह सभी महावाक्यों का अर्थ समझता है और उनके साक्षात्कार से उसमें आत्मवल चला आता है, परन्तु इस अवस्था में विद्याबल के कारण विनम्रता की कमी होती है। दूसरी अवस्था में विनम्रता चली आती है और जीवन्मुक्त व्यक्ति बालकों के समान शुद्ध और सन्त हो जाता है। अन्तिम अवस्था में जीवन्मुक्त मौन अथवा मुनि हो जाता है। इसका कारण है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय होता है और इसलिये ब्रह्मसिद्ध का मुनि होना, तर्कसंगत होता है। इसी बात को निदिध्यासन की क्रमिक गहनता के अनुसार, स्पष्ट किया जा सकता है।

निदिध्यासन में निहित समाधि की गहनता के अनुसार, जीवन्मुक्त को ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जा सकता है।

ब्रह्मविद् वह है, जो जगत्, जीव और ईश्वर को मिथ्या समझता है, जिसके अहम्भाव का विलयन हो गया है। अन्य तीन प्रकार के जीवन्मुक्त वे हैं, जिन्हें निर्विकल्पक समाधि प्राप्त होती है। ब्रह्मविद्वर वह है, जो अपनी समाधि से अपने-आप ही जग जाता है। ब्रह्मविद्वरीयान् वह है, जो गहरी समाधि में प्रवेश करता है और जिसकी समाधि को दूसरे लोगों के द्वारा भंग करने की आवश्यकता होती है। ब्रह्मविद्वरिष्ठ वह है, जिसकी गहरी समाधि को अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी भंग नहीं किया जा सकता है। समाधिन् अपने ध्यान से उठकर इस जगत् से अवगत हो सकता है, परन्तु वह जगत् के मिथ्यापन को जानता है और जीवों के सीमितपन से अवगत रहता है। उसे न इस मिथ्या-जगत् और न मलवाहक शरीर की ही कोई कामना रहती है। प्रारब्ध कर्मों के विलीन हो जाने पर जीवन्मुक्त मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यहाँ एक आपत्ति उठायी जा सकती है। यदि प्रारब्ध कर्म ऐसा हो कि इसी जीवन में ही नहीं, वरन् उसे पूरा होने के लिये दूसरे जन्म की भी आवश्यकता हो, तो क्या सूक्ष्म शरीर के साथ जीवन्मुक्त का भी पुनर्जन्म हो सकता है? ज्ञान द्वारा अज्ञान, शरीर-वासना तथा शरीर धारण करने की इच्छा (भव) आदि का विनाश हो जाता है। परन्तु, शरीर कर्मों के द्वारा उत्पन्न होता है और जबतक प्रारब्ध कर्म पूरा न हो जाय, तबतक शरीर रहता है। इसलिये सम्भव है कि यदि इस जन्म में प्रारब्ध कर्म पूरा नहीं हो जाता है, तो जीवन्मुक्त को दूसरा भी सूक्ष्म शरीर के साथ जन्म लेना पड़े। परन्तु, अन्त में मुक्ति अशरीरी अवस्था होती है। वास्तव में, जीवन्मुक्ति विदेह-मुक्ति का पूर्वाभास है और इसलिये जीवन्मुक्ति का पाठ सीखकर विदेह-मुक्ति को समझा जा सकता है।

मोक्ष-कथन की अर्थपूर्णता :

वे मोक्ष-कथन, जिनका विषय अशरीरी विदेह-मुक्ति से रहता है, उन्हें अनानुभविक कहना चाहिये; क्योंकि अशरीरी मोक्ष-गति को पारलौकिक कहा जायगा। अशरीरी मोक्ष-विषयक कथन सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटियों से परे और स्वतन्त्र कहे जायेंगे। इसलिये, इस प्रकार के मोक्ष-कथनों की अर्थपूर्णता का प्रश्न नहीं उठता है। फिर, स्वयं ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है और इसमें ज्ञाता-ज्ञेय, उद्देश्य-विधेय आदि का कोई भेद नहीं पाया जाता है। इसलिये ब्रह्म-सम्बन्धी कथन को भी संज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता है। मृत्यु

मोक्ष-गति भी सभी व्यावहारिक अनुभवों से अतीत कही जायगी और इसके विषय में भी वैज्ञानिक अर्थपूर्णता सम्भव नहीं हो सकती है। केवल जीवन्मुक्ति की ही ऐसी दशा है, जिसका व्यवहारात्मक अध्ययन किया जा सकता है। स्वयं जीवन्मुक्त किसी सत्ता को अपने से परे नहीं पाता है, जिसका वह वर्णन कर सके। वह अद्वैत ब्रह्म हो जाता है, जिसमें न विजातीय और न स्वजातीय भेद पाया जाता है और बिना भेद के किसी भी प्रकार का संज्ञानात्मक कथन सम्भव नहीं हो सकता है। मोक्ष-गति वास्तव में निर्वाण के तुल्य शान्ति की स्थिति है। तो भी, जो कुछ जीवन्मुक्ति के विषय में वर्णन-कथन होता है, उसका वर्णन-ज्ञान के स्तर पर सत्यापन-मिथ्यापन व्यवहार के आधार पर किया जा सकता है।

जीवन्मुक्ति अनूठी अनुभूति है, पर इसकी प्रतिध्वनि शारीरिक व्यवहार में देखने में आती है। चूँकि जीवन्मुक्त में अहंभाव का अभाव हो जाता, उसमें प्रमत्त भाव नहीं रहता और न कर्तृत्वभाव ही रहता है, इसलिये उसके सभी कर्म निष्काम होते हैं। उसको यह भी चिन्ता नहीं होती कि उसके कर्म का कोई प्रभाव हुआ है, या नहीं। इसलिये, जीवन्मुक्त सभी कर्मों के प्रति तटस्थ रहता है। किसी भी कर्म के करने से न उसमें हर्ष होता और न विषाद। इस हर्ष-विषाद की अवस्था को जीवन्मुक्त के व्यवहार से मूल्यांकित किया जा सकता है। फिर, चूँकि जीवन्मुक्त भाव-विहीन रहता है, इसलिये उसमें न दुश्चिन्ता और न भय ही रहता है। जीवन्मुक्त न भूख, न प्यास; न गरमी, न सर्दी, न प्रेम और न घृणा से त्रस्त होता है। इस प्रकार का व्यवहार भगवान् महावीर में देखा जाता था। इसलिये, इस प्रकार के व्यवहार के आधार पर जीवन्मुक्ति की अर्थपूर्णता को स्पष्ट किया जा सकता है। पुनः, जीवन्मुक्त किसी भी विशिष्ट विचार से मुक्त हो जाते, सभी घटनाओं को उनके शाश्वत स्तर पर देखते हैं, इसलिये उनके व्यवहार में शुचित्व और और पवित्रता का भान होता है।

विदुर, सुलभ, धर्मव्याध तथा राजा जनक को जीवन्मुक्त बताया गया है। पर, क्या जीवन्मुक्तों के द्वारा सर्वहिताय-सर्वसुखाय सामाजिक कर्म सम्पादित किये जा सकते हैं? राधाकृष्णन् के अनुसार, जीवन्मुक्तों के द्वारा लोकसंग्रह के लिये कर्म सम्पादित होना चाहिये। यह राधाकृष्णन् का विचार है, पर यह शांकर मत से मेल नहीं खाता है। जीवन्मुक्त के लिए जगत् और जीव

मिथ्या हैं। उनके लिये किये गये, सभी सामाजिक कार्य भी मिथ्या हैं। शंकर के अनुसार, जीवन्मुक्त बधिर और गूंगे के समान इस भूतल पर निवास करते हैं। परन्तु, अरविन्द के अनुसार, विकास-क्रम में अतिमेधावी (Super-mind) का विकास होता है और समाधिस्थ अवस्था में इन अतिमेधावियों के द्वारा चेतन-लहरियों से विश्व-कल्याण अनायास ही सम्पादित होता है। यह अद्वैत वेदान्त के मत से संगत विचार हो सकता है; क्योंकि ब्रह्म ही अन्त में विश्व का आलम्बन रहता है और वही अन्त में, सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है। अतः, ब्रह्मसिद्ध जीवन्मुक्तों के द्वारा अनायास, निष्काम भाव से ही सम्पादित समाधि में विचार-ऊर्मियों (Thought-waves) के आधार पर विश्व-कल्याण सम्भव है।

टिप्पणी :

मेरी समझ में जीवन्मुक्ति सम्भव है और इस ब्रह्म-प्राप्ति को निर्वाण-गति के समतुल्य माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर मोक्षावस्था को स्थिरता एवं प्रशान्ति की स्थिति कहा जा सकता है। इस रूप में सामान्यतः जीवन्मुक्ति का व्यापारात्मक अर्थ-निरूपण किया जा सकता है। परन्तु, इस मोक्ष-ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्म और भक्ति को साधन कहा गया है। यदि कर्म पर भी ध्यान दिया जाय, तो अन्त में 'कर्म' से अभिप्राय है 'निष्काम कर्म', और हमलोगों ने पाया है कि निष्काम कर्म बिना ईश्वर के प्रसाद के सम्भव नहीं होता है। अतः, कर्म और भक्ति, दोनों में, अन्त में, ईश्वर की उपासना ही मूल मन्त्र है, जिसके साधन से मोक्ष-ज्ञान सम्भव हो सकता है। पर, क्या भक्ति को ज्ञान का साधन माना जा सकता है ?

१. शंकर ने देवी-देवता तथा ईश्वर को भी व्यावहारिक रूप से सत्य माना है। परन्तु, ईश्वर की व्यावहारिक सत्ता को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है ? यह स्पष्ट है कि साधारण वस्तुओं की वास्तविकता इन्द्रिय-अनुभव, स्मृति-प्रत्यय आदि के आधार पर प्राप्त की जाती है। पर, क्या देवी-देवता को भी इन्द्रिय-अनुभव से जाना जा सकता है ? स्वयं शंकर ने बताया है कि देवी-देवताओं तथा पारलौकिक शक्तियों की वास्तविकता को उपासना की दशा में प्राप्त किया जाता है। अतः, देवी-देवता आदि को साधारण वस्तुओं के समक्ष व्यावहारिक रीति से वास्तविक नहीं मानना चाहिये।

वास्तव में, वे प्रतीक-मात्र हैं और यह बात स्वयं शंकर-सिद्धान्त से ही स्पष्ट होती है; क्योंकि शंकर के अनुसार इष्ट देवता का अस्तित्व उपासक के संस्कार पर निर्भर करता है और इस संस्कार को युग ने सामूहिक या जातीय अचेतन (Collective or racial unconscious) की संज्ञा दी है। अतः, देवी-देवताओं को भक्त अपने अचेतन मानस के द्वारा प्राप्त करते और इस प्रकार अपनी मनो-वैज्ञानिक दुश्चिन्ता से मुक्त होकर अपने को समाकलित (Integrated) पाते हैं। युग के इस सिद्धान्त को धर्मदर्शन में पॉल तीलिख ने स्पष्ट किया है। अतः, शंकर सिद्धान्त को वर्तमान युग में भी काम में लाया जा सकता है। केवल इसे इस युग की भाषा में व्यक्त करना चाहिये।

२. शंकर स्वयं उपासक और भक्त थे और शंकर द्वारा स्थापित मठों में अब भी उपासना को साधन तथा ब्रह्मलीला के रूप में अपनाया जाता है। यहाँ पर शंकर के केवल एक स्तोत्र का उद्धरण दिया जा रहा है, जिसके पद-लालित्य तथा भाव-मृदुता से शंकर की सहज भक्ति की अटकल लगायी जा सकती है।

चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम् :

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।

कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥१॥

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते ।

प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।

करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥२॥

यावद्वित्तोपाज्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।

पश्चाद्धावति जर्जरदेहे वार्त्ता पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥३॥

×

×

×

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता ।

सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥५॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥६॥

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।

वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥७॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।

इह संसारे खले दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ॥८॥

×

×

×

(हिन्दी-भाव : दिन और रात, साँझ-बिहान और शिशिर-वसन्त बार-बार आते हैं। इस प्रकार, काल की क्रीडा होती रहती, आयु बीतती जाती, किन्तु आशारूपी वायु छोड़ती नहीं है (१)। दिन में आगे अग्नि और पीछे सूर्यताप, रात्रि में घुटनों के बीच ठोड़ी दबाये रहते हैं; हाथ पसारकर भिक्षा और पैर तले वास, तो भी आशा-पाश नहीं छोड़ता। हे मूढ़ ! गोविन्द को भज। व्याकरण की क्रिया आदि को रटने से मरणकाल के आने पर लाभ नहीं होगा (२)। जबतक तू धन कमाकर लाता है, तभी तक तेरा परिवार तेरी परवाह करता है। जर्जर देह हो जाने पर कोई भी नहीं पूछेगा^१ (३)। जिसने भगवद्गीता को थोड़ा भी पढ़ा है, गंगाजल की बूंद भी पी है, जिसने भगवान् कृष्णचन्द्र की अर्चना की है, उसकी यमराज क्या चर्चा कर सकता है ? (४)। अंग गल गये, बाल पक गये, दाँत गिर गये, बुढ़ापा आ गया, लाठी टेककर बूढ़ा चलता है। तोभी आशा पिण्ड नहीं छोड़ती है (५)। बालपन खेल-कूद में बीता, जवानी स्त्री-प्रेम में, बुढ़ापा चिन्ता में; लेकिन परब्रह्म में कोई नहीं लगता है (६)। इस संसार में पुनः पुनः जन्म, पुनः पुनः मरण, बार-बार माता के गर्भ में रहना। अतः, हे मुरारे ! इस दुस्तर अपार संसार से कृपा पार कर दो (८)।

परन्तु, यदि किसी को एक देवता में भक्ति हो जाय, तो क्या इस जीवन में वह भक्त किसी दूसरे देवता को अपना सकता है ? शंकर ने भक्ति में निहित आत्मसमर्पण तथा आत्मनिवेदन और आत्मबन्धन पर ध्यान नहीं दिया है। यदि भक्ति के स्वरूप पर ध्यान देते, तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि ईश्वर-भक्ति इतनी प्रबल, इतनी सुखद और आह्लादिनी होती है कि कोई भी अपने देवता को छोड़कर न किसी अन्य देवता को और न सम्पूर्ण भक्तिमार्ग को छोड़कर ज्ञान-मार्ग को अपना सकता है। यही कारण है कि बंगाल के वैष्णववाद में भक्ति को

१. कहावत है, 'छुछी तेरे के पूछी।'।

ही एकमात्र पर्याप्त सन्तोषजनक मार्ग माना जाता है। यह स्पष्ट है कि भक्ति भाव-प्रधान मार्ग है और ज्ञान बुद्धि-प्रधान। इन दोनों में विरोध होना अनिवार्य है। जो भक्त भगवान् से यही प्रार्थना करता है, हे भगवन् ! मुझे तुम अपने चरण में शरण दो, हृदय में तुम अपना अनन्य अनुराग दो और मुझे एक भी पल के लिये अपने से अलग न करो। भला ! वह ईश्वर कैसे अपने भक्त को ऐसा वरदान दे सकता है, जिसके फलस्वरूप वह ईश्वर को छोड़ निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर ले ? इस स्थल पर अनेक विकल्प सम्भव हैं :

- (क) भक्तिमार्गियों के अनुसार ईश्वर ही सर्वोच्च सत्ता है और निर्गुण-सगुण की तुलना में खोखला और शून्यवत् है। ऐसे भक्तिमार्गी शांकर सिद्धान्त में संशोधन नहीं, वरन् उसका त्याग करते हैं।
- (ख) विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार चित्त और अचित्त दोनों ब्रह्म में पाये जाते हैं और ईश्वर भी उसी प्रकार नित्य और शाश्वत रहता है, जिस प्रकार निर्गुण। इसलिये ईश्वरभक्ति को छोड़ने की बात ही नहीं उठती है।
- (ग) ईश्वर-भक्ति जीव की सर्वोच्च साधना है और ईश्वर भी इस व्यावहारिक सत्ता का उच्चतम अस्तित्व है। अतः, ईश्वर भी अपने भक्तों को सर्वश्रेष्ठ दान दे सकता है। अतः, ईश्वर अपने अनुग्रह से अपने भक्त में दिव्यज्योति जगा सकता है। अन्त में, ब्रह्मप्राप्ति भी ईश्वर का ही चरम उद्देश्य है। इसलिये भक्तिमार्ग के आधार पर बोध अथवा दिव्यज्योति प्राप्त की जा सकती है।

शांकर के अनुसार, धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए जीव निर्गुण ब्रह्मसिद्ध हो सकता है : 'सन्मार्गस्थाः तावद् भवन्तु ततः शनैः शनैः परमार्थसद् अपि ग्राह्यिष्यामीति मन्यते श्रुतिः ।' फिर, अप्पय्यदीक्षित ने शुद्ध शांकर सिद्धान्त को अनुपम रीति से कहा है :

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत् कल्पितं
स्तुत्यानिर्वचनीयताखिलगुरो दूरीकृता यन्मया ।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतः यत् तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश तद् विकलतादोषत्रयम् मत्कृतम् ॥

(हे जगदीश ! मैं अपनी दुर्बलताओं के कारण तीन प्रकार से दोषी हूँ और जिनके लिए क्षमा माँगता हूँ। ध्यान करने के हेतु आलम्बन के रूप में मैंने अरूपी सत्ता को रूप दे दिया, अनिर्वचनीय सत्ता को स्तुति द्वारा वर्णित किया और सर्वव्यापी भगवान् को कुछ स्थानों में सीमित कर उन स्थानों की तीर्थ-यात्रा की)।

अब (क) और (ख) के स्थान पर (ग) युक्तिसंगत है, या नहीं, इसे स्वयं पाठक निश्चित कर सकते हैं। परन्तु, आश्चर्य की बात है कि सन् १९४४ ई० में बॉनहोयफर नामक प्रसिद्ध जर्मन-धर्मविचारक ने नात्सियों द्वारा मारे जाने के कुछ ही समय पूर्व लिखा है कि ईश्वर जो हमारे साथ है, वह चाहता है कि मानव अब बिना ईश्वर के रहे।^१ यदि ईसाई पास्टर ऐसा सोच सकता है, तो मुमुक्षु भी ईश्वर-भक्ति के आधार पर ईश्वर से अतीत निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में देखा जाय, तो युंग ने आध्यात्मिक के चार चरणों को बताया है, अर्थात् शैडो (छाया), एनिमा-एनिमस (आदर्श नर-नारी आद्यप्रतिमा), माना-व्यक्तित्व और मण्डलानुभूति।^२ युंग के अनुसार भी सभी देवी-देवताओं की पूजा अन्त में लय हो जाती है और अन्त आत्मपूर्णता की ही स्वानुभूति रह जाता है। हाँ, युंग के अनुसार यह विकास विरले ही किसी व्यक्ति में देखा जाता है।

अतः, शांकर सिद्धान्त अब भी समीचीन माना जा सकता है। पर, क्या शांकर मोक्ष बौद्ध निर्वाण से भिन्न है? मेरी समझ में मोक्ष और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं। दोनों ही पारमार्थिक स्थितियाँ हैं, जो शब्द और मन से परे और अतीत हैं। दोनों में अहम्भाव का विलयन, भव का उन्मूलन और दोनों में, अन्त में शून्यता की स्थिति आ जाती है। अन्तर है दो मूल बातों में।

१. शांकर तत्त्व-विचार बौद्ध तत्त्व-विचार से सर्वथा भिन्न है। शांकर सिद्धान्त में ब्रह्म की परम सत्ता स्वीकार की जाती है और बौद्ध-दर्शन में तत्त्व को अव्याकृत अथवा 'अव्याकृतानि' कहा है, अर्थात्

१. Letters and papers from Prison, Fontana Books, p. 122.

२. या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, ग्रन्थ-अकादमी, अध्याय ७, पृ० २३२-२३९

तत्त्व के विषय में किसी भी प्रकार का निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है और व्यावहारिक दृष्टि से तत्त्व-सम्बन्धा गवेषणा वृथा ही है ।

२. बौद्ध धर्मदर्शन अन्ततः निरीश्वरवादी रहा है । इसके विपरीत शांकर मत में भक्ति का स्थान रहा है । शांकर ने देवी-देवताओं की पूजा को लाभप्रद बताया है ।

३. बौद्ध मत वेद-विरुद्ध रहा है । परन्तु, शंकर ने अपने दर्शन को शास्त्रों की ही शिक्षा को बुद्धिगम्य और संगत करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किया है ।

२. और ३. के कारण बौद्ध मत अधिकांश भारतीयों को सर्वग्राह्य नहीं हो पाया । समय उपयुक्त नहीं था कि लोग देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर निर्वाणगति के प्रति उत्साह दिखाते । शंकर ने देवी-देवताओं को समुचित स्थान प्रदान कर मोक्ष-मार्ग को सर्वस्वीकृत और लोकप्रिय कर दिया है । यही कारण है कि शांकर सिद्धान्त की लोकप्रियता के कारण बौद्ध मत को इस भारत में प्राश्रय नहीं मिल पाया । परन्तु, कुछ सैद्धान्तिक आधार पर ही बौद्ध-धर्म का प्रचार कम नहीं हो गया है । बौद्धधर्म के अन्दर अपनी भी कमियाँ आ गयी थीं, जिसके कारण बौद्धधर्म से लोगों को आध्यात्मिक आलम्बन नहीं प्राप्त हो पाया । उदाहरणार्थ, मठों में वास करते रहने पर बौद्ध भिक्षुओं में आलस्य और विलास छा गया था और वे अपने कठिन व्रत से स्खलित हो गये थे । फिर, तन्त्रों के प्रचार से उनमें वाम-मार्ग का भी बहुत प्रसार हो गया था । इन सब कारणों से बौद्ध मत आध्यात्मिक क्रान्ति तथा आन्दोलन खो बैठा था । परन्तु, दार्शनिक दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन किसी भी प्रकार अद्वैत तथा अन्य दर्शनों की अपेक्षा हीन था या है । समकालीन दर्शन की दृष्टि से शंकर के तत्त्वविचार को बहुत अधिक मान्यता नहीं मिल सकती है । इसकी अपेक्षा बौद्ध दर्शन का कारण-सिद्धान्त तथा अव्याकृत-विचार अब भी समादृत होगा । फिर, वेदान्त में ईश्वर के अस्तित्व को शास्त्र-विहित समझकर स्वीकार किया गया है, न कि तर्क तथा युक्तियों के आधार पर । वस्तुतः, समकालीन दृष्टि से बौद्ध निरीश्वरवाद भी कम उपयुक्त नहीं माना जायगा । परन्तु, इन सब विषयों की चर्चा बाद में की जायगी ।

ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद दोनों ही आध्यात्मिक धारा के दो छोर हैं और मानव-जीवन इनके बीच दोलायमान होता रहता है। शांकर मत ने इन दोनों पक्षों के बीच समन्वय किया है, जो आज भी समीचीन माना जायगा। परन्तु, भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण भी दिये गये हैं और फिर, इन प्रमाणों का खण्डन भी किया गया है। अतः, बिना इन युक्तियों पर ध्यान दिये हुए न तो भारतीय ईश्वरवाद और न निरीश्वरवाद पर ही पूर्ण प्रकाश पड़ सकेगा। इसलिये, अब ईश्वर-विषयक युक्तियों की व्याख्या की जायगी।



अध्याय ७

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी खण्डन

विषय-प्रवेश : सामान्य रूप से अध्याय ३ में हमने दिखाया है कि अधिकांश भारतीय दर्शन निरीश्वरवादी हैं और उग्ररूप में ईश्वरवाद की परम्परा ने बाद में चलकर जड़ पकड़ ली है। अध्याय ४ और ५ में हमने देखा है कि जैन और हीनयान बौद्ध धर्म के अनुसार, बिना ईश्वर के प्रति आस्था के व्यक्ति अपना निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। जैन और बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी रहते हुए भी अध्यात्मवादी हैं। शांकर वेदान्त की कथा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें ईश्वर में आस्था के साथ निर्गुण-प्राप्ति को जीवन का निःश्रेयस् स्वीकारा गया है। इसी प्रकार, रामानुज भी भक्तदार्शनिक माने जायेंगे। अब शंकर और रामानुज दोनों की तर्कशक्ति बेजोड़ मालूम देती है। परन्तु, इन दोनों ने तर्क द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयास को व्यर्थ माना है। शंकर ने वेदान्तसूत्रभाष्य (२।१।११) में दिखाया है कि युक्तियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। कोई अपनी युक्ति के द्वारा ईश्वर को प्रमाणित करता है, तो कोई इस युक्ति का खण्डन करता है। कपिल और कणाद भी अपनी-अपनी युक्तियों में विभिन्न मतों का पोषण करते हैं। शंकर, ईश्वर के सन्दर्भ में युक्तियों को इसलिये प्रामाणिक नहीं मानते हैं कि उनके अनुसार निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है और इस ब्रह्मप्राप्ति में अज्ञान नहीं होता और इस मोक्षज्ञान के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व को कूटस्थ-नित्य पाया जाता है। जहाँतक ईश्वर का सन्दर्भ है, शंकर के अनुसार, इसे असन्दिग्ध रूप में शास्त्रों में दिखाया गया है। शास्त्रों में, शंकर के अनुसार, जिसे रामानुज ने भी निश्चित रूप से अपनाया है, ईश्वर सगुण परम सत्ता है, जिसमें सभी उदात्त गुणों की परिपूर्णता पायी जाती है और जिसे यज्ञ, दान, पूजा और उपासना से प्रसन्न किया जा सकता है। शंकर और रामानुज दोनों मानते हैं कि युक्तियों के आधार शास्त्रविहित ईश्वर के स्वरूप को और शास्त्र-कथन को स्पष्ट करने के लिये काम में लाये जा सकते हैं।

शंकर की अपेक्षा ईश्वर-विषयक युक्तियों को रामानुज ने निराधार सिद्ध किया है, अर्थात् इन युक्तियों का क्रमबद्ध खण्डन किया है। रामानुज ने अपने

श्रीभाष्य (१।१।३) में तर्क द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व को न तो किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष और न अनुमान के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है और रामानुज ने नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत अनुमान का भी खण्डन किया है। रामानुज के अनुसार (श्रीभाष्य २।१।१२) ईश्वर को पारलौकिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये शास्त्र को एकमात्र प्रमाण मानना चाहिये और युक्तियों का केवल एक ही उद्देश्य होना चाहिये कि शास्त्रविहित उक्तियों का वे स्पष्टीकरण-मात्र करें।

परन्तु, शंकर और रामानुज दोनों इस बात से अवगत थे कि शास्त्रवचनों का अर्थ-निरूपण कभी निर्विवाद नहीं हो सकता है। क्या शंकर और रामानुज, दोनों ने अपने दर्शनों को शास्त्रों के अनुकूल नहीं बताया है? तो दोनों में क्यों मत-मतान्तर हैं? बिना युक्तियों को आश्रय बनाये हुए किसी भी विषय में प्रगति नहीं हो सकती है। मतैक्य न तो सम्भव है और न अभिवांछित। मतैक्य इसलिये सम्भव नहीं है कि मानव के विभिन्न संस्कार होते हैं, अर्थात् मानव के विभिन्न व्यक्तित्व होते हैं और व्यक्तित्व के विभिन्न स्वरूप और प्रकार के अनुसार कोई भी सत्ता सभी को एकरूप नहीं प्रतीत हो सकती है। यह ठीक है कि शंकर और बुद्ध भगवान् दोनों ने अन्तिम स्थिति को अनिर्वचनीय कहकर मतभेद की सम्भावना को ही हटाने का प्रयास किया है। पर, क्या मतभेद हट गया? क्या शंकर मत को परमात्मवादी और निर्वाण को निरात्मवादी नहीं बताया जाता है? क्या यह भेद अभी तक मिट पाया है? अतः, मतैक्य का प्रयास करना वृथा है। यह प्रयास इसलिये अवांछनीय है कि चेतना और ज्ञान बिना भेदीकरण के सम्भव नहीं हो सकते हैं (जैसा, स्वयं शंकर और बहुत बाद में चलकर ब्रैडले ने स्वीकार किया है)। अतः, जड-दशा में ही ज्ञानाभाव होता और उसी स्थिति में सभी नानात्व का महत्त्व दूर हो जाता है। इसके विपरीत, विविधता को ही निरपेक्ष रूप से सत्य मानकर प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये उपयुक्त मोती तथा महावाक्य प्राप्त कर अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

ईश्वरवादी वेदान्तियों के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिकों की अन्तरकालीन परम्परा में ईश्वरवादी पक्ष को अपनाया गया है। नैयायिकों ने न्यायपक्ष को भारतीय दर्शन में विशेष रूप से पुष्ट किया है और इसलिये ईश्वर-विषयक

युक्तियों में इन्हें पूर्ण विश्वास रहा है। ईश्वरवादी युक्तियों में प्रवीण उदयनाचार्य की प्रसिद्ध दर्पपूर्ण उक्ति है :

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वत्तसे ।

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

(भावार्थ : हे ईश्वर ! अपने ऐश्वर्य के मद से मस्त होकर तुम मेरी अवज्ञा करते हो। परन्तु, बौद्ध के उपस्थित हो जाने पर, अर्थात् तुम्हारे अस्तित्व का तर्क द्वारा खण्डन करने पर, हे भगवन्, तुम्हारा अस्तित्व मेरे ही अधीन हो जाता है, अर्थात् बौद्धों के निरीश्वरवादी तर्कों का मैं ही खण्डन कर तुम्हारे अस्तित्व को प्रतिष्ठापित करता हूँ।)

अतः, न्यायवैशेषिक-दर्शन में युक्तियों को ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का मुख्य साधन माना गया है। इसलिये, भारतीय ईश्वरवादी भी ईसाई ईश्वरवादियों की भाँति दो दलों में बँटे हुए हैं। वेदान्तियों के समान प्रोटेस्टेण्ट ईसाई (जिनकी परम्परा सन् १५१७ ई० से प्रारम्भ हुई) भी धार्मिक अनुभूति पर युक्तियों की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। परन्तु, न्यायवैशेषिकों के समान टॉमस-वादी रोमन कैथोलिक भी युक्तियों पर अधिक बल देते हैं।

प्रायः साधारणतया माना जाता है कि न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों को केवल बौद्धों के विरुद्ध ईश्वरवादी युक्तियों को प्रस्तुत करना पड़ता था। बात ऐसी नहीं है। जैन, मीमांसक तथा रामानुजी विचारक तक ईश्वर-विषयक युक्तियों का खण्डन करते हैं और उनके तर्कों में कम बल नहीं है। तोभी बौद्धों और न्यायवैशेषिकों में सदियों की चखचुख होती रही है और इसका एक ऐतिहासिक अध्ययन किया जा सकता है।

न्यायवैशेषिक की ईश्वरवादी परम्परा

पदार्थधर्मसंग्रह, जिसे 'प्रशस्त-पादभाष्य' भी कहा जाता है। इसे पाँचवीं ईसवी में प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र की व्याख्या के रूप में लिखा।

१. न्यायसूत्र पर वात्स्यायन ने वात्स्यायनभाष्य में चौथी ईसवी

बौद्धों की निरीश्वरवादी परम्परा

१. प्रशस्तपाद तथा वात्स्यायन की ईश्वर-समर्थक युक्तियों का

न्यायवैशेषिक की ईश्वरवादी परम्परा

में ईश्वर-विषयक युक्तियों को प्रस्तुत किया।

२. दिङ्नाग की आपत्तियों के निराकरण के लिये उद्योतकर ने सातवीं ईसवी में न्यायवार्त्तिक की रचना की।

३. धर्मकीर्त्ति की आपत्तियों का निराकरण करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने लगभग ई० ६७६ में 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' लिखी।

४. श्रीउदयनाचार्य ने १०वीं ईसवी में प्रसिद्ध 'न्यायकुसुमाञ्जलि' लिखी, जिसमें उन्होंने न्याय-

बौद्धों की निरीश्वरवादी परम्परा

दिङ्नाग ने पाँचवीं ईसवी में खण्डन किया। इस पुस्तक का नाम है, प्रमाणसमुच्चय।

२. इसी काल में बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति ने 'वादनय' तथा 'न्यायबिन्दु' में न्यायवैशेषिक युक्तियों का खण्डन है और 'न्यायबिन्दु' में उद्योतकराचार्य का उल्लेख किया है। फिर, धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणसमुच्चय की परम्परा को अपनाकर 'प्रमाणवार्त्तिक' की रचना की है। इसी प्रकार, 'सातवीं' ईसवी में शान्तिदेव ने 'बोधिचर्यावितार' में तथा शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' में ईश्वरवादी युक्तियों का खण्डन किया है।

३. बौद्धों के अतिरिक्त प्रभाकर, कुमारिल आदि ने भी ईश्वरवादी युक्तियों का खण्डन किया। कुमारिल का समय ७वीं ईसवी माना जाता है। फिर, प्रभाकर के दर्शन को 'प्रकरणपञ्चिका' में शालिकनाथ ने लगभग ६वीं ईसवी में लिखकर ईश्वरवादी युक्तियों का खण्डन किया है।

४. जैनों ने भी न्यायवैशेषिक ईश्वर-विषयक युक्तियों का खण्डन किया है। आठवीं ईसवी में

न्यायवैशेषिक की ईश्वरवादी परम्परा

वैशेषिक युक्तियों को अन्तिम रूप में लिख छोड़ा है।

बौद्धों की निरीश्वरवादी परम्परा

‘षड्दर्शनसमुच्चय’ को हरिभद्र ने लिखकर निरीश्वरवाद की स्थापना की थी। परन्तु, १५वीं ईसवी में गुणरत्न ने ‘तर्करहस्य-दीपिका’ में उदयनाचार्य द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का आमूल खण्डन किया है।

इस अध्याय में ‘न्यायकुसुमांजलि’ में ईश्वर-विषयक युक्तियों को प्रस्तुत किया जायगा और तब गुणरत्न द्वारा इनका खण्डन दिया जायगा। इन दो धुरन्धर धर्मदार्शनिकों की युक्तियों से स्पष्ट हो जायगा कि ईश्वर-विषयक चिन्तन भारत में उच्च कोटि को प्राप्त हो चुका था। परन्तु, पक्षपातरहित रीति से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि निरीश्वरवाद का ही पक्ष सबल रहा है और जिसे भक्ति-परम्परा कहा गया है, वहाँ तर्क के स्थान पर श्रद्धा एवं आस्था को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्त में, इस पुस्तक में दिखाया जायगा कि यथार्थ में ईश्वरवाद भक्ति पर ही स्थिर किया जा सकता है और ईश्वर-विषयक युक्तियों को भी अधिक-से-अधिक अनुनयात्मक (Persuasive) ही स्वीकार किया जा सकता है। इन युक्तियों को संज्ञानात्मक न मानकर वास्तव में इन्हें ईश्वर को भक्ति-भेंट ही समझना चाहिये।

न्यायकुसुमांजलि की ईश्वर-समर्थक युक्तियाँ :

न्यायवैशेषिक धर्मदर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, पालक तथा संहारक माना गया है; क्योंकि न्यायवैशेषिक विचार के अनुसार, चेतनहीन वस्तुओं के द्वारा उद्देश्यपूर्ण व्यापार सम्पादित नहीं हो सकता है और विश्व को उद्देश्य-मूलक सिद्ध करने के लिये इसके उत्स, पालन तथा प्रलय को उद्देश्यपूर्ण माना गया है। परन्तु, ‘सृष्टि’ शब्द को समसामयिक धर्मदर्शन में, उस रचना के लिये काम में लाया जाता है, जिसमें सामग्री (उपादान) के साथ अभिकल्पमय बनाकर रचना की जाय। इस अर्थ में न्यायवैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा गया है। ईश्वर इस विश्व का शिल्पकार तथा निर्माता है; क्योंकि न्यायवैशेषिक-दर्शन के अनुसार, ईश्वर पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि) और

वायु के नित्य परमाणुओं तथा दिक्, काल, धर्माधर्म (अदृष्ट) तथा शाश्वत आत्माओं का सृष्टिकर्ता नहीं है। ईश्वर को इस विश्व का चैतन्यपूर्ण निमित्त-कारण (Efficient Cause) माना गया है। ईश्वर को निमित्तकारण मानने में कुम्हार की उपमा का चित्रीकरण किया गया है। जिस प्रकार, पूर्वस्थित मिट्टी, रस्सी, चाक, धुरी आदि के आधार पर कुम्हार मानव-प्रयोजन को ध्यान में रखकर मिट्टी का बरतन तैयार करता है, उसी प्रकार ईश्वर चारों प्रकार के परमाणुओं, दिक्, काल तथा अदृष्ट के द्वारा इस विश्व की रचना करता है। भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कहा गया है, पर ईश्वर की अपरिमितता पर बल नहीं दिया गया है। अतः आपत्ति अवश्य की गयी है कि शिल्पकार ईश्वर परमाणुओं, अदृष्ट आदि से सीमित हो जाता है, परन्तु न्यायवैशेषिक-दर्शन ने इसपर विशेष ध्यान न देकर, इतना ही भर सिद्ध करना पर्याप्त समझा है कि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और इसके अनुसार, इन्हीं उदात्त गुणों के कारण ईश्वर को उपास समझा जा सकता है।

न्यायवैशेषिक-दर्शन में दो मुख्य बातों को स्पष्ट करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता अनुभूत की गयी थी। सर्वप्रथम, न्यायवैशेषिक-दर्शन में परमाणुओं को नित्य और निरवयव माना गया है। परन्तु, यदि परमाणु निरवयव हों, तो उन्हें जोड़ा कैसे जायगा? यदि निरवयव परमाणु नहीं जुटें, तो विश्व-रचना कैसे होगी? इस स्थिति में दो बातें हैं, जिनका ज्ञान न्यायवैशेषिक काल में नहीं प्राप्त हो सका था।

(क) २०वीं शताब्दी में ही वैज्ञानिकों ने परमाणुओं को विस्फोटित करना जाना है और तब इस विस्फोट के अनुसार उन्हें काम में लाना सीखा है। चूँकि अणु-विषयक ज्ञान न्यायवैशेषिक-काल में नहीं प्राप्त हुआ था, इसलिये न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों को परमाणुओं को व्यवस्थित करने की प्रक्रिया असाधारण मालूम पड़ी। चूँकि, ईश्वर को मानव-समस्याओं का समाधायक (Solver) माना गया है, इसलिये न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों ने ईश्वर की कल्पना की कि ईश्वरमात्र ही निरवयव परमाणुओं को जोड़कर विश्व की रचना कर सकता है।

(ख) दूसरी बात है कि यदि परमाणुओं को निरवयव स्वीकार कर लिया जाय, तो तार्किकतः ईश्वर भी निरवयवत्व की नित्यता को नहीं दूर कर सकता है। दो और दो मिलकर चार होते हैं। ईश्वर भी इस गणितीय रचना को अन्यथा नहीं कर सकता है। इसी प्रकार,

लाल गुलाब लाल है,

या

लाल गुलाब फूल है।

इसे ईश्वर भी अन्यथा नहीं कर सकता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता सम्भावनाओं-मात्र में ही सम्भव स्वीकारी जा सकती है। तर्कनिष्ठ असम्भव को सम्भव बनाना तर्कसंगत रीति से नहीं स्वीकारा जा सकता है। न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों ने तर्कनिष्ठ और तथ्यात्मक असम्भावनाओं के बीच कोई अन्तर नहीं किया था। यही कारण है कि उन्होंने सोचा था, चूँकि तथ्यात्मक असम्भावनाओं को ईश्वर सम्भव कर सकता है, इसलिये वह तर्कनिष्ठ निरवयवत्व को भी द्रव्यणुक, त्र्यणुक आदि रूप में सृष्ट कर सकता है। अब तर्कनिष्ठ और तथ्यात्मक असम्भवनाओं का भी भेद वर्तमान युग में ही स्पष्ट किया गया है। इसलिये, इस भेद को स्पष्ट नहीं होने के कारण न्यायवैशेषिक-दर्शन में 'बन्ध्या माता का पुत्र' और 'गधे का सींग' होना दोनों को एक बराबर समझा गया था। चूँकि ईश्वर गधे को सींग दे सकता है (अर्थात् कम-से-कम हम सींगवाले गधे की कल्पना कर सकते हैं), इसलिये न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों ने समझा था कि ईश्वर नित्य निरवयव परमाणुओं को सावयव कर सकता है। यहाँ उभयतःपाश है। यदि परमाणु परिभाषया निरवयव हैं, तो ईश्वर भी उन्हें सावयव नहीं कर सकता है और यदि परमाणु तथ्यात्मक रूप से (अर्थात्, जिन्हें अभी तक खण्डित नहीं किया गया है) निरवयव हैं, तो किसी भी युग में उनके निरवयवत्व को खण्डित किया जा सकता है और इसके लिये ईश्वर की दुहाई देना आवश्यक नहीं है।

अतः, न्यायवैशेषिक-दर्शन में परमाणु-सिद्धान्त तत्त्वमीमांसात्मक था और इसमें तर्कनिष्ठता तथा तथ्यात्मकता का भेद न होने के कारण परमाणु-सिद्धान्त

भ्रमपूर्ण हो गया था। भ्रमपूर्ण समस्या का समाधान नहीं होता, परन्तु, सही-सही विश्लेषण के फलस्वरूप उनका अन्तर्धान ही हो सकता है। इसलिये, समकालीन दृष्टिकोण से ईश्वर को परमाणु-विषयक समस्या के समाधायक (समाधानकर्ता) के रूप में ईश्वर-चिन्तन को दोषपूर्ण समझा जायगा। परन्तु, क्या यह बात न्यायवैशेषिक-दर्शन की दूसरी समस्या के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है ?

न्यायवैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को कर्म-फलदाता कहा गया है और यह बात गौतम के न्यायसूत्र में ही निहित है। न्यायवैशेषिक-दर्शन में आत्मा को नित्य माना गया है। फिर, जीवों के अज्ञान का उत्पादक ईश्वर को नहीं माना गया है। मानव अपने कर्म का स्वयं ही उत्तरदायी है। ईश्वर मानव के कर्म-संस्कार का नियन्त्रण-मात्र करता है, अर्थात् पूर्व कर्म-संस्कार के अनुसार फल अवश्य मिलता है, परन्तु पुरुषकार के अनुरूप इसे विभिन्न हो जाना पड़ता है। इसलिये, अदृष्ट चूँकि अचेतन है, इसलिये जीवों के पुरुषकार के अनुसार, कर्म के फल को नियन्त्रित करने के लिये चैतन्यपूर्ण सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान् ईश्वर की आवश्यकता पड़ जाती है।

पूर्वमीमांसकों ने कर्म-संस्कार को 'अदृष्ट' के सिद्धान्त में परिणत कर दिया था और इन दार्शनिकों के अनुसार, अदृष्ट यन्त्रवत् कम्प्यूटर (परिकलक) के समान जीवों को उनके पूर्वकर्मों के अनुरूप फल देता है। अदृष्ट-भावना में किसी चैतन्यपूर्ण ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यही कारण है कि मीमांसक सिद्धान्ततः निरीश्वरवादी रहे हैं। न्यायवैशेषिक-दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धान्त में कोई संशोधन नहीं किया है। उन्होंने जीवों को ही अपने कर्मों का उत्तरदायी ठहराया है। तब यहाँ ईश्वर का क्या और कैसे स्थान चला आता है ? ईश्वर कर्मों को हटा नहीं सकता है, परन्तु अपनी असीम करुणा से द्रवित होकर जीवों को सत्कर्म करने तथा सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। इसलिये, ईश्वर को मानव के साथ सह-दुःखभोगी (Co-sufferer) कहा जा सकता है; क्योंकि ईश्वर जीवों के दुःख से द्रवित होता है। परन्तु, सह-दुःखभोगी ईश्वर को भक्ति और आस्था का विषय माना जायगा, न कि संज्ञान का। यदि शंकर और रामानुज के समान हम ईश्वर को भक्ति का विषय नहीं मानें, तो ईश्वर को संज्ञान का विषय मान लेने पर ईश्वर के अस्तित्व को कर्मफलदाता के रूप में पुष्ट करने में बड़ी-बड़ी

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विखण्डन १८१

दार्शनिक आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा और इस बात को हम गुणरत्न तथा बौद्ध-मीमांसकों की निरीश्वरवादी युक्तियों में देखेंगे।

स्वयं श्रीउदयनाचार्य ने ईश्वर-समर्थक आठ युक्तियों को केवल एक ही सूत्र में व्यक्त कर दिया है :

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषान्च साध्यो विश्वविद्वध्य ॥

(न्यायकु०, ५।१)

१. कार्यात्—विश्व कार्य है। इसलिये इसका ईश्वर-रूप कारण (अथवा रचयिता) अवश्य होगा।
२. आयोजनात्—अणुओं के संयोजक के रूप में ईश्वर को मानना आवश्यक है, ताकि इस विश्व की व्याख्या की जा सके।
३. धृत्यादेः—यदि ईश्वर ब्रह्माण्ड को धारण (धृति—स्थिर) नहीं करे, तो नक्षत्र आदि आकाश से गिरकर विनष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार की धारणा न्यूटन ने भी की थी। न्यूटन के अनुसार भी यदि ईश्वर बीच-बीच में ग्रहों के परिक्रमा-पथ को नहीं सुधारते रहे, तो इस सूर्यमण्डल का ही सर्वनाश हो जायगा। बाद में चलकर लैपलेस ने दिखला दिया कि परिक्रमा-पथ का विचलन अपने-आप हो जाता है। चूँकि न्यायवैशेषिक-दार्शनिक विश्व के संचालन तथा इसके प्रलय को उद्देश्यपूर्ण मानते हैं, इसलिये इनके अनुसार धृति को ईश्वर के समर्थन के लिये आवश्यक समझा जा सकता है। परन्तु, इसकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती है। अतः, दार्शनिक दृष्टि से इसे ईश्वर-समर्थक युक्तियों में विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता है।
४. पदात्—घट-पटादि के निर्माण करने में कौशल पाया जाता है। यह कौशल अपने-आप नहीं उत्पन्न हो सकता है। अतः, सभी प्रकार के कौशल का मूलस्रोत ईश्वर को स्वीकार करना चाहिये।
५. प्रत्ययतः—वेदों को प्रामाणिक समझा जाता है। परन्तु, वेदों की प्रामाणिकता तभी सिद्ध हो सकती है। जब इसका कारण (अर्थात्, कार्य उत्पन्न करने में जो सबसे आर्थिक महत्त्वपूर्ण घटक समझा जाय) भी प्रामाणिक हो, अतः ईश्वर को वेद का वक्ता तथा प्रणेता मानना चाहिये।

यहाँ बताया जाता है कि वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर के द्वारा सिद्ध की जाती है और फिर, ईश्वर की प्रामाणिकता वेदों को प्रमाण मानकर की जाती है। अतः, आपत्ति की जाती है कि इसमें अन्योन्याश्रयी (Arguing in a circle) दोष चला आता है। परन्तु, न्यायवैशेषिकों का कहना है कि यहाँ कोई दोष नहीं उत्पन्न होता। ईश्वर वेदों से पूर्व विद्यमान होता है। वेदों के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व नहीं, वरन् ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः, अस्तित्व की दृष्टि से ईश्वर सर्वोपरि है और जीवों को ईश्वर-विषयक ज्ञान देने की दृष्टि से वेद सर्वप्रथम आता है। यहाँ वेदों का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर करता है, परन्तु ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर करता है, परन्तु ईश्वर का अस्तित्व वेदों पर निर्भर नहीं करता है। अतः, यहाँ कोई अन्योन्याश्रयी दोष नहीं उत्पन्न होता है।

६. श्रुतेः—श्रुतियों, अर्थात् वेदों में ईश्वर के अस्तित्व को बताया गया है, अर्थात् वेद में ईश्वर-प्रतिपादक वचन हैं। चूँकि आयुर्वेद के समान वेद पौरुषेय है, अर्थात् वेद अपौरुषेय तथा नित्य नहीं है। इसलिये, इसके रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकारना चाहिये, (५वीं युक्ति) और श्रुति को प्रामाणिक स्वीकार कर ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकारना चाहिये; क्योंकि वेदों में बताया जाता है कि ईश्वर है।

७. वाक्यत्वात्—पौरुषेय वेद-वाक्यों और मानवों के वाक्यों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है, अर्थात् अपने-आप शब्द या भाषा उत्पन्न नहीं हो सकती है। भाषा का भी उत्पादक मानना चाहिये, जो ईश्वर ही हो सकता है।

८. संख्याविशेषात्—संख्या और परिमाण द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि से उत्पन्न हुए हैं और द्व्यणुक आदि केवल ईश्वर से ही रचित हो सकते हैं। अतः, संख्या और परिमाण का भी केवल ईश्वर ही रचयिता हो सकता है।

इन आठों युक्तियों को समान सम्मान नहीं दिया गया है। प्रथम दो युक्तियों को अन्य युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है। परन्तु, इस पुस्तक में पहली युक्ति को ही विशेष स्थान दिया जायगा और इसकी ही विशेष व्याख्या की जायगी; क्योंकि इस युक्ति को ही धर्मदर्शन की दृष्टि में

महत्त्वपूर्ण माना गया है। फिर, नैयायिकों के ईश्वर-विषयक तर्कों को सामान्य रीति से समझने पर इसे पंचावयव के रूप में समझने में आसानी हो जायगी।

ईश्वर-विषयक युक्ति की सामान्य व्याख्या :

हमलोगों ने पहले ही देखा है कि न्यायवैशेषिक ईश्वर-विषयक युक्तियाँ सदियों से आलोचनाओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत होती आयी हैं। इन आलोचनाओं को भक्ति-सम्प्रदायवालों ने भी उसी प्रकार मान्यता दी है, जिस प्रकार निरीश्वरवादियों ने इन आपत्तियों को बल प्रदान किया है। ईश्वर-विषयक प्रमाणों को नहीं स्वीकार करने के अनेक कारण बताये गये हैं। आपत्ति का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि सिद्ध कर दिया जाय कि ईश्वर साधारण अथवा आनुभविक ज्ञान का विषय नहीं है। साधारण ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से प्राप्त किये जाते हैं। ईश्वर प्रत्यक्ष से नहीं प्राप्त किया जा सकता; क्योंकि ईश्वर अतीन्द्रिय (अर्थात्, अदृश्य, अगोचर आदि) माना जाता है। ईश्वर को अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता है; क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर निर्भर करता है और व्याप्ति अन्त में प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है और ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। फिर, यदि मान भी लिया जाय कि विश्व कार्य है, तो इसका कारण भी अवश्य होगा। परन्तु, साधारणतया घट-पट आदि कार्य के उत्पन्न करने में शरीरधारी ही कर्त्ता (कुम्हार घट के लिये और तन्तुवाय पट के लिये) होता है। परन्तु, ईश्वर अशरीरी है, तो अशरीरी ईश्वर किस प्रकार स्थूल जगत् का निर्माता हो सकता है? पुनः, यदि मान भी लिया जाय कि अशरीरी ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है, तो पूर्ण ईश्वर को विश्व-निर्माण का क्या प्रयोजन हो सकता है? यदि ईश्वर प्रयोजन-हीन हो, तो उद्देश्य-रहित कारण से उद्देश्यहीन जगत् (कार्य) उत्पन्न होगा और इस निरुद्देश्य जगत् से कल्पनामय ईश्वर का निष्कर्ष कैसे स्थापित किया जा सकता है? और फिर, इस प्रयोजनहीन, निरुद्देश्यपूर्ण ईश्वर को कैसे उपास्य समझा जायगा? परन्तु, यदि ईश्वर ने अपने किसी विशिष्ट प्रयोजन से इस विश्व की रचना की है, तब तो स्वीकारना होगा कि ईश्वर में किसी बात का अभाव है, जिसकी पूर्ति के लिये उसने इस विश्व की रचना की है और अभाव के रहते हुए ईश्वर को पूर्ण नहीं कहा जायगा। इस प्रकार की उपर्युक्त आपत्तियों को ध्यान में रखकर न्यायवैशेषिकों ने ईश्वर-विषयक युक्तियों को प्रस्तुत किया है, जिनकी सामान्य व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :

क्षित्यादिकं सकर्तृकम् । कार्यत्वात्, घटवत् ।

प्रतिज्ञा : क्षित्यादि, अर्थात् पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि को समष्टि इस विश्व का कर्त्ता है (अर्थात्, विश्व सकर्त्तृक है) ।

हेतु : क्योंकि, यह विश्व कार्य है ।

उदाहरण : क्योंकि, जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ-वहाँ कारण भी होता है, जैसे घट-पटादि कार्य के कुम्हार-तन्तुवाय आदि कारण हैं ।

उपनय : यह विश्व सावयव होने से कार्य है ।

निगमन : अतः, यह विश्व सकर्त्तृक है (अर्थात्, इस विश्व का रचयिता ईश्वर है) ।

न्यायवैशेषिक ईश्वर-समर्थक युक्तियों की कुछ पूर्वमान्यतायें हैं । प्रथम, चेतन-हीन कारण से अभिकल्पात्मक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है । इसके विपरीत स्वभाववादी, जडवादी तथा निरीश्वरवादी सांख्य में बताया गया है कि अचेतन प्रक्रिया के रहते हुए भी गाय के स्तन से बछड़े के लिए दूध उत्पन्न होता है, अर्थात् अचेतन जड से भी उद्देश्यपूर्ण तथा अभिकल्पात्मक (योजनापूर्ण) कार्य उत्पन्न होता है । परन्तु, सांख्य के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पुरुष-संयोग से उत्पन्न सृष्टि को सम्पूर्णतया अन्धाधुन्ध तथा निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता है । स्वयं 'सांख्यकारिका' में ही कहा गया है कि जीवों के विमोक्ष के लिये अव्यक्त (साम्यावस्था में अवस्थित प्रकृति) इस विश्व में परिणत होता है (का० ५८, ५९, ६०, ६३) । जबतक प्रकृति साम्यावस्था में अव्यक्त रहती है, तबतक जीव मुक्त नहीं होते । अतः, पुरुष-प्रकृति-संयोग से उत्पन्न विश्व सोद्देश्य हो जाता है । कम-से-कम सांख्य के अनुसार भी यह विश्व बद्ध जीवों के विमोक्ष के लिये अभिकल्पात्मक मानी जायगी और जहाँ अभिकल्प अथवा उद्देश्य होगा, वहाँ चेतना भी होगी । कम-से-कम बिना चेतना के उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकती, इसे उचित पूर्व-मान्यता माना जा सकता है ।

द्वितीय, न्यायवैशेषिक युक्ति में सिद्ध किया जाता है कि यह विश्व कार्य है । कम-से-कम इस विश्व को दो अर्थों में 'कार्य' कहा गया है : (क) अर्थात्, यह सावयव है, और (ख) यह विश्व पट-घट के समान अभिकल्पात्मक है, अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से पात्र इसी उद्देश्य से बनाता है कि इन पात्रों से गृहस्थों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, उसी प्रकार यह विश्व भी सामंजस्यपूर्ण अथवा व्यवस्थित है । इस बात को स्पष्ट करने के लिये न्यायवैशेषिकों ने बताया है कि यह विश्व अवयवी, अर्थात् इसके सम्पूर्णत्व को

इसके अवयवों में रूपान्तरित करके इस विश्व की व्याख्या यान्त्रिक रीति से नहीं की जा सकता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि यह विश्व घट-पट आदि के समान उद्देश्यपूर्ण कारण से उत्पन्न हुआ है, न्यायवैशेषिकों ने ईश्वर को 'ब्रह्माण्डकुलाल' कहा है, अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार के दो कुलालों (मिट्टी के पात्र के दो पृथक् अंगों) को व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार ईश्वर इस विश्व के सभी अवयवों को व्यवस्थित कर इस अभिकल्पात्मक विश्व की रचना करता है। न्यायवैशेषिकों ने ईश्वर-समर्थक युक्तियों में विश्व को दोनों अर्थों में, कार्य के रूप में प्रयुक्त किया है।

वस्तुओं के सम्बन्ध में चार प्रकार के वर्गों की चर्चा की गयी है :

१. वे वस्तुयें, जो मानव-बुद्धि के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। उदाहरणार्थ : टेबुल, कुर्सी, घट, पट आदि।
२. वे सत्तायें, जिन्हें नित्य तथा शाश्वत समझा जाता है और जिन्हें कार्य नहीं कहा जा सकता है; जैसे परमाणु और आकाश। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में दिक्-काल तथा आत्मा को भी नित्य माना जाता है।
३. कुछ ऐसी सत्तायें भी हैं, जिनके विषय में यह सन्दिग्ध है कि वे बुद्धि द्वारा रचित हुई हैं या नहीं। पर्वत, समुद्र, वृक्ष आदि इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। इसमें बबूल, झाड़ी आदि को कुछ भारतीय दार्शनिक निरुद्देश्य स्वीकार करते हैं।

विश्व के विषय में ये तीनों मत ग्रहण किये गये हैं। न्यायवैशेषिक के अनुसार विश्व घट-पट आदि के समान उद्देश्यपूर्ण अथवा अभिकल्पात्मक है। कुछ निरीश्वरवादियों के अनुसार (उदा० कुछ मीमांसक) विश्व आकाश के समान नित्य और आत्मसंचालित व्यवस्था है। कुछ सांख्य विचारकों के अनुसार विश्व मानव-मुक्ति के लिये हेतुक अवश्य है, परन्तु इसमें चेतन कारण की आवश्यकता नहीं है। कुछ निरीश्वरवादी इस विश्व को झाड़ी-बबूल के समान निरुद्देश्यपूर्ण मानते हैं। अतः, न्यायवैशेषिकों को सिद्ध करना है कि विश्व घट-पट आदि के समान अभिकल्पनात्मक है, अर्थात् इस विश्व में ऐसी व्यवस्था पायी जाती है, जिसमें इच्छा, संकल्प आदि का हाथ है। न्यायवैशेषिकों के अनुसार विश्व शाश्वत नहीं है; क्योंकि यह

सावयव है, अर्थात् यह परमाणुओं के योग से उत्पन्न किया हुआ है। फिर, यह परमाणुओं का योग अपने-आप नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रत्येक परमाणु निरवयव है और निरवयवों का योग सम्भव नहीं है। इस योग को केवल असाधारण बुद्धि के ही द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। इसलिये, ईश्वर ही द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि का रचयिता है।

इसी द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि की रचना से यह भी सिद्ध होता है कि इन परमाणुओं के योग में प्रयत्न, चिकीर्षा, प्रयोजन आदि भी निहित हैं। इसलिये, इस विश्व को घट-पट आदि वस्तुओं के समान अभिकल्पात्मक समझना चाहिये, न कि झाड़ी-बबूल आदि के समान निष्प्रयोजन स्वीकारना चाहिये।^१

यदि इस विश्व को उद्देश्यपूर्ण माना जाय, तो यह भी स्वीकारना होगा कि अचेतन परमाणुओं, आकाश तथा अदृष्ट की अन्धाधुन्ध कार्यवाही से उद्देश्यपूर्ण, सप्रयोजन इस विश्व की रचना नहीं हो सकती है।

फिर, यह ठीक है कि, जहाँतक इस व्यावहारिक जगत् की बात है, वहाँ सभी चिकीर्षा-युक्त प्राणी शरीरी हैं, जैसे कुम्भकार, तन्तुवाय आदि। परन्तु, कार्य-उत्पादन करने के लिये शरीरी होना आवश्यक नहीं है; क्योंकि न्याय-वैशेषिकों के अनुसार कर्तृत्व के लिये १. ज्ञान, २. चिकीर्षा (संकल्प) और ३. प्रयत्न, ये ही तीन संघटक पर्याप्त हैं और अशरीरी ईश्वर में ये तीनों पाये जाते हैं। अतः, न्यायवैशेषिकों के अनुसार अशरीरी ईश्वर ने सप्रयोजन इस विश्व को अभिकल्पात्मक रूप से उत्पन्न किया है।

यदि ईश्वर ने जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी के परमाणुओं से तथा अदृष्ट (पूर्व कर्म-संस्कार) को ध्यान में रखकर नित्य दिक्, काल और आकाश में जीवों के कल्याण-हेतु इस जगत् की सृष्टि की है, तो ईश्वर को अधिक-से-अधिक निमित्तकारण (Efficient Cause) माना जायगा। ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नहीं कहा जायगा; क्योंकि न्यायवैशेषिक के अनुसार ईश्वर इस जगत् को शून्य से नहीं उत्पन्न करता है। यदि ईश्वर को निमित्तकारण माना जायगा, तो ईश्वर मानव के नैतिक पतन का उत्तरदायी नहीं होगा; क्योंकि जीवों के पूर्वजन्मों के संस्कार (अदृष्ट) के लिये स्वयं जीव उत्तरदायी कहे जायेंगे, न

१. Tatparya-tika, pp. 602-3, Naya-kandali, pp. 54-54 in Indian thought.

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विश्लेषण

१८७

कि ईश्वर। फिर, चूँकि ईश्वर अदृष्ट को ध्यान में रखकर जगत् की रचना करता है, इसलिये वह जीवों को अनेक अशुभ कर्म-संस्कारों को दूर करने में, अर्थात् उनके मोक्ष-प्रयत्न में उनकी सहायता कर सकता है। परन्तु, चूँकि अदृष्ट के लिये जीव स्वयं उत्तरदायी होते हैं, इसलिये ईश्वर न तो जगत् को और न सभी जीवों को अशुभ से सम्पूर्णतया रिक्त कर सकता है। ईश्वर जीवों को उनकी परम गति प्राप्त करने में मात्र सहायक हो सकता है।

परन्तु, यदि ईश्वर पूर्वस्थित परमाणुओं, अदृष्ट आदि से बाहर नहीं जा सकता है और केवल उन्हीं से सीमित होकर ही जगत् की रचना करता है, तो क्या ईश्वर सीमित नहीं हो जाता है? फिर, यदि ईश्वर किसी प्रयोजन से प्रभावित होकर जगत् की सृष्टि करता है, तो क्या इस प्रयोजन अथवा उद्देश्य की आपूर्ति के कारण ईश्वर को अपूर्ण नहीं कहा जा सकता है? यह ठीक है कि निमित्तकारण-रूप ईश्वर उपादान से सीमित अवश्य हो जाता है। हम जानते हैं कि मिट्टी से मोटर नहीं बन सकती है और लोहे से उस प्रकार की मूर्ति नहीं बन सकती है, जिस प्रकार की कलापूर्ण मूर्ति संगमरमर से बन सकती है। फिर, उद्देश्यपूर्ति से ध्वनित होता है कि ईश्वर में कुछ अभाव है, जिसे पूरा करने के लिये वह जगत् की रचना करता है। परन्तु, ये आपत्तियाँ निराधार हैं। यदि 'सर्वशक्तिमत्ता' से तात्पर्य हो कि ईश्वर तार्किक नियमों को भी तोड़ सकता है, कुकर्म भी कर सकता है तथा आत्महत्या कर सकता है, तो इस अर्थ में 'सर्वशक्तिमत्ता' का कोई भी तर्कसंगत व्यवहार नहीं किया जा सकता है। परन्तु, यदि 'सर्वशक्तिमत्ता' से तात्पर्य होता है कि ईश्वर वही कर सकता है, जो तार्किक, वैज्ञानिक तथा नैतिक नियमों के अनुकूल हो, तो इस रूप में निमित्तकारणरूपी ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना जा सकता है। जीवों के दुःखों से आर्त्त अथवा दया-द्रवित होकर, यदि ईश्वर जगत् की रचना करता है, तो इससे ईश्वर की नैतिक पूर्णता का बोध होता है, न कि उसकी अपूर्णता का। अपितु, ईश्वर शुद्ध, बुद्ध तथा नित्य मुक्त होता है और किसी भी सृष्टि से अथवा सृष्टि के विनाश से ईश्वर उसी प्रकार, ज्यों-का-त्यों बना रहता है, जिस प्रकार असंख्य ऊर्मियों की ह्रास-वृद्धि के बावजूद समुद्र ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसी का दूसरा नाम है—ईश्वर की पूर्णता। जीवों का प्रेम ठुकराये जाने पर, निन्दित किये जाने पर तथा अस्वीकृत किये जाने पर क्षीण पड़ सकता है। परन्तु, पूर्ण प्रेम कितना ही अधिक ठुकराया

क्यों न जाय, कितनी ही बार अस्वीकृत क्यों न किया जाय, परन्तु उस ईश्वरीय प्रेम में थोड़ी भी आँच नहीं आती है और न इसमें कुछ भी कमी होती है। अतः, जागतिक घटनाओं से, उसकी ह्रास-वृद्धि से तथा जीवों की गति से ईश्वर में कोई भी विकार नहीं उत्पन्न होता है।

यही नहीं। चूँकि निरवयव परमाणुओं के योग में तथा असंख्य बद्ध जीवों के असंख्य कर्म-संस्कारों को पूर्ण रूप से जानकर जगत् की रचना सम्भव हो सकती है, इसलिये इस जगत् के रचयिता को सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् समझा जा सकता है।

पुनः, इस विश्व का रचयिता एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता है; क्योंकि इस विश्व के सामंजस्य को देखते हुए, कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जगत् में एक ही प्रकार के नियम हैं और सभी क्षेत्रों में पारस्परिक आधारी व्यवस्था है। परन्तु, चूँकि ईश्वर एक ही है और वह नित्य और शाश्वत है, इसलिए यह आपत्ति करना कि ईश्वर के नित्यकर्तृत्व से विश्व भी नित्य तथा एकरूप कार्य होगा, निराधार है। ईश्वर केवल निमित्तकारण है। चूँकि, उपादान (असंख्य परमाणु), असंख्य जीवों के विविध तथा असंख्य संस्कार तथा आकाश आदि के कारण-कारणरूप जगत् भी एकरूप और नित्य नहीं हो सकता है। अतः, जगत् की विविधता तथा परिवर्तनशीलता अथवा नश्वरता ने ईश्वर का अस्तित्व खण्डित नहीं होता है।

फिर, चूँकि ईश्वर प्रत्यक्ष द्वारा नहीं उपलब्ध हो सकता है, तो इस अनुपलब्धि से ईश्वर को असिद्ध और अवास्तविक नहीं समझना चाहिये। केवल प्रेक्षणीय वस्तुओं की अनुपलब्धि से उनकी अवास्तविकता सिद्ध मानी जा सकती है। परन्तु, ईश्वर का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे इन्द्रियातीत माना जायगा। अगोचर और अव्यक्त ईश्वर को अनुपलब्धि के आधार पर अवास्तविक नहीं माना जायगा।

न्यायप्रयोग-रूप में उदयनाचार्य द्वारा ईश्वर-प्रमाण :

उदयनाचार्य प्रसिद्ध नैयायिक थे और किसी भी विषय को तभी वे 'ज्ञान' की संज्ञा देते थे, जिसे वे तर्कसिद्ध कर दें। ईश्वर-ज्ञान भी उन्हें तर्कसिद्ध दिखाना था और इसलिये उन्होंने ईश्वर-प्रमाण को 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के पंचम अध्याय में न्यायप्रयोग के रूप में प्रस्तुत किया है। न्यायप्रयोग अथवा

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विखण्डन १८९.

पंचावयव वाक्य साधारणतया सभी विद्यार्थियों को ज्ञात है, परन्तु इसके सूक्ष्म विश्लेषण का पण्डित होना कठिन बात है। न्यायप्रयोग के रूप में ईश्वर-समर्थक युक्ति की व्याख्या और बाद में इसका खण्डन स्पष्ट करना आसान नहीं है। परन्तु यहाँ इस पंचावयवी रूप में, ईश्वर-प्रमाण को सरल रूप में, प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि इस प्रकार के प्रणीत प्रमाण के स्वरूप पर प्रकाश पड़ सके।

सर्वप्रथम, पंचावयव महावाक्य का प्रचलित उदाहरण इस प्रकार दिया जाता है :

१. इस पर्वत पर आग है (प्रतिज्ञा)।
२. क्योंकि, इसपर धुआँ है (हेतु)।
३. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है, जैसे रसोईघर में (उदाहरण)।
४. यह पर्वत भी इसी प्रकार धुआँयुक्त है (उपनय)।
५. इसलिये, इस पर्वत पर आग है (निगमन)।

प्रायः पहले ही, तीन अवयवों से ही युक्ति पूर्ण हो जाती है। इसलिये ईश्वर-प्रमाण को भी हम इन तीन अवयवों में ही सीमित रखेंगे। साधारणतया इस पंचावयव के सभी अंग आवश्यक हैं, परन्तु व्याप्ति को इस प्रकार के अनुमान का मुख्य अंग समझा जाता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता, वहाँ-वहाँ आग होती है। व्याप्ति-सम्बन्ध दो प्रकार की घटनाओं अथवा वस्तुओं में पाया जाता है, जैसे यहाँ धूम-वह्नि-सम्बन्ध में दिखाया गया है। परन्तु, इस प्रकार के सम्बन्ध में कुछ लक्षणों के रहने से ही उस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं, अन्यथा नहीं। पहली बात है कि व्याप्ति में एक वस्तु को दूसरी वस्तु का साथ सर्वदा रहना चाहिये, अर्थात् इन दोनों का नियत साहचर्य होना चाहिये। दूसरी बात है कि दो वस्तुओं के बीच अव्यभिचारित सम्बन्ध होना चाहिये। धूम-अग्नि में अपवाद-रहित अव्यभिचार-सम्बन्ध है और इसके बीच की व्याप्ति सिद्ध है। परन्तु मीन-जल का सम्बन्ध कभी रहता है और कभी नहीं भी रहता है। इसलिये मीन-जल के सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता है। फिर, व्याप्ति को ऐकान्तिक होना चाहिये, न कि अनैकान्तिक, अर्थात् हेतु को, साध्य को छोड़कर किसी अन्य वस्तु अथवा घटना पर आश्रित नहीं होना चाहिये।

जैसे, धुआँ आग को छोड़कर किसी अन्य वस्तु पर आश्रित नहीं होता है। अन्त में, व्याप्ति-सम्बन्ध को अविनाभाव-सम्बन्ध कहा जाता है, अर्थात् धुएँ को आग से अलग नहीं किया जा सकता है। इन दोनों के बीच अपार्थक्य-सम्बन्ध है। अतः, नियत, अव्यभिचरित ऐकान्तिक और अविनाभाव-सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

इसी पंचावयव के रूप में उदयनाचार्य ने ईश्वर-समर्थक युक्ति को प्रस्तुत किया है।

प्रतिज्ञा : पर्वत, पृथ्वी आदि जागतिक कार्य का कर्तृक ईश्वर है;

हेतु : क्योंकि जगत् कार्य है,

उदाहरण : जहाँ-जहाँ कार्य होता है, वहाँ-वहाँ कारण भी होता है, जैसे, घट-पट आदि का कारण कुम्भकार-तन्तुवाय क्रमशः होता है।

उपनय : जगत् सावयव होने के कारण कार्य है,

निगमन : इसलिये इस जगत् का बुद्धिमान् तथा सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण ईश्वर है।

इस तर्क में 'जगत् कार्य है' और 'कारण-रूप ईश्वर' दोनों ही रूप अनेक रूप से विशिष्ट किये जा सकते हैं : 'जगत् कार्य है' के प्रसंग में कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं।

१. यदि जगत् कार्य न होकर स्वयं आकाश के समान नित्य और शाश्वत हो, तो इसके सम्बन्ध में ईश्वर-रूपी कारण को स्थापित करना व्यर्थ होगा।
२. फिर, यदि जगत् कार्य भी हो, तो प्रश्न उठता है, क्या यह कार्य बबूल, कटौले के समान निरुद्देश्य है ?
३. मान भी लिया जाय कि यह जगत् घट-पट आदि के समान उद्देश्यपूर्ण है, तोभी क्या इसका कारण असीमित ईश्वर होगा ?
४. मान भी लिया जाय कि ईश्वर इसका कारण है, तो क्या अशरीरी ईश्वर इस स्थूल जगत् का कारण हो सकता है ?
५. मान भी लिया जाय कि अशरीरी ईश्वर अपने ज्ञान, इच्छा (चिकीषी), और प्रयत्न के द्वारा इस जगत् को सृष्टि करता है, तो भी प्रश्न

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विखण्डन १९१

उठता है, पूर्ण ईश्वर को क्या पड़ी थी कि उसने इस जगत् की रचना की ? यदि उसने किसी अभाव-पूर्ति के लिये जगत् की रचना की, तो ईश्वर को कैसे पूर्ण कहा जाय ? यदि ईश्वर ने निष्प्रयोजन इस जगत् की रचना लीलावश की है, तो ईश्वर-रचना को अन्धाधुन्ध तथा वचपना कहा जायगा । ऐसे लीलामय ईश्वर को कैसे उपास्य समझा जाय ?

उपयुक्त प्रकार के प्रश्न इस न्यायिक तर्क के प्रसंग में उठाये गये हैं । स्वयं नैयायिकों को इन आपत्तियों का ज्ञान था और इसलिये उदयनाचार्य ने अपनी युक्ति को सभी दोषों के निराकरण के उपरान्त ही स्पष्ट किया है । उदयनाचार्य के अनुसार यह जगत् घट-पट आदि के समान अभिकल्पात्मक कार्य है; क्योंकि यह सावयव है । सावयवत्व दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है, अर्थात् इसे अवयवों का संयोग समझा जा सकता है या इस जगत् को अवयव-समवेतत्व माना जा सकता है । अवयव-समवेतत्व वह है, जिसमें अवयवों के योग से अवयवी उत्पन्न होता है जिस अवयवित्व (सम्पूर्ण) की अपनी विलक्षणता होती है, जिसे उसके अवयवों द्वारा नहीं स्पष्ट किया जा सकता है । जैसे, शरीर जड़ तत्त्वों के अंशों से बना है, परन्तु इसके प्राणित्व को इन जड़ घटकों के द्वारा नहीं स्पष्ट किया जा सकता है । क्लोयड मॉर्गन तथा शामुएल अलेक्जेंडर ने इस अवयवी गुण को उन्मज्जित (Emergent) कहा है । क्लोयड मॉर्गन के अनुसार यह अवयवित्व ईश्वर की सर्जनशक्ति द्वारा उत्पन्न होता है । इसके विपरीत शामुएल अलेक्जेंडर उन्मज्जन को स्वभाववादी प्रक्रिया मानते हैं । परन्तु, कुछ जर्मन मनोवैज्ञानिक अवयवी को गेस्टाल्ट कहते हैं और बताते हैं कि सम्पूर्णत्व (अवयवित्व) की व्याख्या उसके संघटकों (Constituent) के द्वारा नहीं हो सकती, बल्कि स्वयं संघटकों की ही व्याख्या उस अवयवी (Whole) के आधार पर होती है, जिसके वे अंग हैं । कम-से-कम गेस्टाल्टवादियों का दावा प्रत्यक्षीकरण के स्पष्टीकरण में संगत और लोकप्रिय माना गया है । यदि अवयवित्व को अवयवी का अनूठा गुण मान लिया जाय, तो कहना पड़ेगा कि अवयवीपन जगत् में समवाय रूप से पाया जाता है, अर्थात् इसे जगत् का सारतत्त्व तथा अवियोज्य गुण माना जायगा । फिर, चूँकि अवयवित्व की व्याख्या परमाणुओं में आकृत्यन्तरित नहीं की जा सकती है, इसलिये इस नूतन, नवीन तथा उन्मज्जित गुण की व्याख्या केवल ईश्वर को आश्रय मानकर की जा सकती है ।

नैयायिक, जगत् को अवयवी मानते हैं और अवयवी की व्याख्या वे अवयव-संयोगित्व के आधार पर नहीं करते हैं; क्योंकि यदि संयोग^१ से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है, तो घट-पटादि का संयोग आकाश के साथ होता है। इस रूप में आकाश भी कार्य होगा। परन्तु आकाश कार्य नहीं, वरन् यह नित्य है। इसलिये, जगत् अवयवों के संयोग-मात्र से नहीं उत्पन्न होता है। जगत् अवयवों के योग से अवयवी होता है और इस अवयवी-रूप जगत्कार्य ईश्वर द्वारा रचित है। परन्तु, यद्यपि ईश्वर ने जगत् को उत्पन्न किया है, तथापि वह इस जगत् में व्याप्त नहीं है। वह जगत् का केवल आश्रय-मात्र है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में ईश्वर जगत् को घट-पट आदि उद्देश्यपूर्ण कृति के समान रचकर इस जगत् से अतीत तथा पृथक् रहता है। अतः, जिस प्रकार घट की व्याख्या बिना कुम्हार के सम्भव नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस जगत् की व्याख्या बिना ईश्वर को इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता माने हुए नहीं हो सकती है। उदयनाचार्य के अनुसार, इस पंचावयवी निष्कर्ष में किसी प्रकार का हेत्वाभास नहीं है।

सर्वप्रथम, इस पंचावयव-प्रयोग में असिद्ध (साध्यसम) हेत्वाभास नहीं है। असिद्ध वहाँ उत्पन्न होता है, जहाँ हेतु है नहीं और तब हम उसी असिद्ध के आधार पर साध्य को प्रमाणित करते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी पंचावयव में कहा जाता है :

जगत् सकर्त्तृक है; क्योंकि जगत् कार्य है।

परन्तु, यदि जगत् कार्य न हो, तो जगत् का कर्त्ता (अथवा कारण) कैसे सिद्ध होगा ? परन्तु, ईश्वर-सम्बन्धी पंचावयव में यह दोष नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि वास्तव में जागतिक पदार्थ पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान सावयव हैं और इसलिये सावयव होने के कारण कार्य हैं, अर्थात् पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान कार्य हैं, क्योंकि ये सावयव हैं।

द्वितीय, इस ईश्वर-समर्थक पंचावयव में विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है। विरुद्ध दोष तब उत्पन्न होता है, जब साध्य को प्रमाणित करने के लिये उपयुक्त हेतु न प्रस्तुत करके एकदम इसका विरोधी हेतु बताया जाता है; जैसे शब्द नित्य है; क्योंकि शब्द कृत अथवा उत्पादित द्रव्य है। यहाँ 'नित्य' को सिद्ध करने

-
१. दो वस्तुओं के बीच बाह्य सम्बन्ध को संयोग कहा जाता है, जैसे टेबुल और पुस्तक के बीच संयोग-सम्बन्ध हो सकता है।

के लिये इसे रचित अथवा उत्पादित बताया गया है। परन्तु, जो कुछ भी उत्पादित होता है, वह अनित्य होता है। इसलिये यहाँ 'उत्पादित' हेतु बताकर नित्यता सिद्ध करने के बजाय इसके विरोध में प्रमाण बताया गया है, इसलिये इसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। परन्तु, ईश्वर-साध्यक पंचावयव में विरुद्ध हेत्वाभास नहीं देखने में आता है। यहाँ साध्य है (अर्थात्, सिद्ध करना है) कि जगत् का रचयिता ईश्वर है। इसके लिये हेतु कहा जाता है कि वास्तव में पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान कार्य हैं। यहाँ पंचावयव का उल्लेखनीय भाग होगा, पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान सप्रयोजन कार्य हैं; क्योंकि ये अभिकल्पात्मक हैं।

यहाँ हेतु न्यायसंगत है; क्योंकि अभिकल्प के रहने पर बुद्धियुक्त कारण को अनिवार्यतः सत्य माना जाता है। यह ठीक है कि उदयनाचार्य ने विश्व में व्यवस्था तथा अभिकल्प को विशेष रूप से प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु नैयायिक द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के उत्पादन में ही बुद्धि का खेल समझते हैं। फिर, उद्योतकराचार्य ने स्पष्ट रीति से 'न्यायवार्त्तिक' में कहा है कि ईश्वर ने मानव के कल्याण-हेतु तथा नैतिक अर्घ्यों को ध्यान में रखकर इस जगत् की रचना की है। अतः, नैयायिक विश्व को सकर्तृक मानने के लिये बंध (न्यायसंगत) रीति से बताते हैं कि जगत् घटवत् अभिकल्पात्मक कार्य है। इसलिये, इस ईश्वर-समर्थक न्यायप्रयोग में विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है।

इस न्यायप्रयोग में अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार हेत्वाभास भी नहीं है। पहले ही बताया जा चुका है, कि अनैकान्तिक दोष तब उत्पन्न होता है, जब अमुक हेतु साध्य के साथ भी हो और साध्य से अलग भी भिन्न घटना के साथ हो। जैसे, वह गाय है; क्योंकि इसको सींग है।

यहाँ सींग गाय (साध्य) के साथ भी पायी जाती है, और अन्य पशुओं में भी (जैसे बकरी, भैंस आदि में)। इसलिये, हेतु को अनेक आश्रयी होने के कारण इसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा गया है। अब ईश्वर-समर्थक न्यायप्रयोग में अनैकान्तिक दोष नहीं पाया जाता है। क्योंकि, अभिकल्पात्मक कार्य (हेतु) बुद्धिमान् कर्त्ता में पाया जाता है, अर्थात् बुद्धिमान् कर्त्ता (साध्य) को छोड़कर अन्यत्र अभिकल्पात्मक अथवा उद्देश्यमूलक कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये यहाँ अनैकान्तिक दोष नहीं पाया जाता है।

इस उक्त न्यायप्रयोग में बाधित (अथवा कालातीत) हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है। जब जिस हेतु को, साध्य को प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है और जब प्रस्तुत हेतु की अपेक्षा अन्य अधिक प्रबल प्रमाण इस अमुक हेतु को बाधित (खण्डित) कर देता है, तब बाधित हेत्वाभास उत्पन्न होता है। जसे, आग शीतल होती है; क्योंकि यह जल के समान है।

यहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर हम जानते हैं कि आग उष्ण है, न कि शीतल और प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण कहा जाता है, अर्थात् अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष को अधिक बलवान् समझा जाता है। अतः, आग की शीतलता प्रस्तुत हेतु के प्रत्यक्ष द्वारा खण्डित हो जाने पर यहाँ बाधित हेत्वाभास हो जाता है। परन्तु, ईश्वर-समर्थक पंचावयव में बाधित नहीं पाया जाता है; क्योंकि इसमें प्रस्तुत कार्यत्व-हेतु को प्रत्यक्ष तथा सर्वसाधारण एवं आवृत्तीय अनुभव द्वारा नहीं खण्डित किया जा सकता है।

अन्त में, इस ईश्वर-समर्थक पंचावयव में सत्प्रतिपक्ष (अथवा प्रकरणसम) हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है। जब दो पारस्परिक विरोधी हेतु वारंवार रूप में ऐसा बली होते कि एक हेतु साध्य को सिद्ध करता है और दूसरा इसे अप्रमाणित करता है, तब यहाँ प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जाता है। जैसे, शब्द नित्य है; क्योंकि यह निरवयव है (निरवयवत्व हेतु है)। फिर, शब्द अनित्य है; क्योंकि यह संयोग से उत्पादित होता है (जैसे ढण्डे-ढोल का संयोग)। यहाँ निरवयवत्व और उत्पादन होना दो विरोधी हेतु हैं। यदि 'निरवयवत्व' शब्द को नित्य सिद्ध करता है, तो 'उत्पादितत्व' शब्द को अनित्य प्रमाणित करता है। ईश्वर-समर्थक पंचावयव में जगत् को सावयव होने के कारण कार्य माना गया है। परन्तु, किसी भी हेतु के द्वारा इस जगत् को अवयव (अर्थात् अनुत्पादित) नहीं सिद्ध किया गया है। इसलिये, इसमें सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है।

अतः, उदयनाचार्य के अनुसार ईश्वर-समर्थक पंचावयव सभी प्रकार से निर्दोष तथा न्यायसंगत अनुमान है। परन्तु, बौद्ध, जैन तथा मीमांसक तर्कशास्त्री इस ईश्वर-समर्थक युक्ति का प्रारम्भ से ही विरोध करते चले आ रहे हैं। ईश्वरवादी शंकर, रामानुज, कान्त तथा अन्य धर्मदार्शनिक भी जानते हैं कि ईश्वर युक्तियों के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ईश्वर-सम्बन्धी युक्तियाँ वास्तव में प्रमाण नहीं, वरन् मानव-मन को ईश्वर के प्रति

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी खण्डन १९५

प्रवृत्त करने के लिये अनुनय-मात्र (Persuasion pleas) हैं। इस बात पर जॉन विस्डम ने बहुत बल दिया है।^१ इसी बात को ध्यान में रखकर उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रथम अध्याय में ही बताया है, कि सभी लोग किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं।^२ वेदान्तिक ईश्वर को शुद्ध, बुद्ध तथा स्वप्रकाश सत् कहकर, कपिल के अनुयायी ईश्वर को सिद्ध, ऐश्वर्ययुक्त, आदिविद्वान् मानकर, क्लेश-कर्म-विपाक आदि से मुक्त, वेद को प्रकाशित करनेवाले तथा घट-पट आदि की प्रथम शिक्षा देनेवाले को ईश्वर समझकर, शैव शिव को, वैष्णव पुरुषोत्तम रूप में ईश्वर को मानते, बौद्ध क्षणिकत्व आदि परम ज्ञान के सर्वज्ञाता के रूप में, जैन दिग्म्बर के रूप में, मीमांसक मन्त्र-देवता के रूप में तथा चार्वाक लोकव्यवहारसिद्ध को ईश्वर के रूप में उपासते हैं। अतः, उदयनाचार्य के अनुसार मानव बिना ईश्वर की उपासना के नहीं रह सकता है। इसे पाश्चात्य धर्मविचारक Religion a priori संज्ञा देते हैं, अर्थात् मानव की यह पूर्वमान्यता है कि वह बिना धर्म के नहीं हो सकता है। इस पूर्वमान्यता को युगप्रवर्तक विचारक वॉनहोयफर ने चुनौती दी है। फिर, यदि मान लिया जाय कि मानव बिना धर्म के नहीं रह सकता है, तो समाजवाद, साम्यवाद, मानवतावाद आदि को भी 'धर्म' संज्ञा दी जायगी और असाक्षात् रीति से उदयनाचार्य ने इसे स्वीकार किया है; क्योंकि उन्होंने लोकव्यवहार सिद्ध को चार्वाक के लिये भी उपास्य ईश्वर माना है, अर्थात् धार्मिक विषय कहा है।^३ जो भी मत जैन, बौद्ध तथा जडवादियों के विषय में अपनाया जाय, कम-से-कम इन लोगों ने व्यक्तित्वपूर्ण, सृष्टिकर्ता-पालक-संहारक तथा कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया है और उदयनाचार्य की ईश्वर-समर्थक युक्तियों का खण्डन किया है। यहाँ नमूने के तौर पर गुणारत्न के द्वारा उदयनाचार्य के पंचावयवी अनुमान का खण्डन प्रस्तुत किया जायगा।

१. देखें, John Wisdom, *Gods*, Proceedings of Aristotelian Society, 1944-1945. इस लेख को अनेक संकलनों में स्थान दिया गया है। एक संकलन जॉन हिक का है। देखें, Classical and Contemporary Readings in the Philosophy of Religion.
२. प्रथम स्तवक, १।१।
३. या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ०, ६-१०, १२; Y. Masih, Introduction to Religious Philosophy, pp. 4-7 (Motilal Banarsidass, 1971)

गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य-कृत ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन :

यह ठीक है कि अनेक स्थलों पर गुणरत्न ने अपनी आपत्तियों में केवल बाल की खाल निकाली है। परन्तु, इन आपत्तियों से दो बातें निकलती हैं। एक यह कि जैन शुद्ध रूप से निरीश्वरवादी हैं, और वे कोई भी ऐसा अवसर नहीं चूकते, जिसमें उन्हें ईश्वरवाद को खण्डित करने का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरी बात है कि इन कोरी आपत्तियों में समकालीन निरीश्वरवादी तर्कों का पूर्वाभास स्पष्ट दिखता है, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर अब गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य के ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन प्रस्तुत किया जायगा।

(अ) कार्य-विषयक आपत्तियाँ : गुणरत्न के अनुसार 'कार्य' के चार सम्भव अर्थ हो सकते हैं :

१. वह, जो संघटकों से निर्मित होता है।
 २. वह, जो कार्य के पूर्व अपने संघटकों में समवेत रहता है।
 ३. वह, जो ज्ञान का इस प्रकार का ज्ञेय होता है, 'यह उत्पादित है'।
 ४. वह, जिसमें विकार अथवा परिवर्तन पाया जाता है।
- संघटकों से निर्मित होने के भी चार सम्भव अर्थ हो सकते हैं :

१. (क) संघटकों में कार्य का विद्यमान रहना।
१. (ख) संघटकों द्वारा कार्य का उत्पादित होना।
१. (ग) वह, जिसमें विभिन्न अंग या प्रदेश हैं।
१. (घ) वह, जिसके विषय में ज्ञान हो कि 'यह संघटकों से निर्मित है'।
१. (क) परन्तु, कार्य परिवर्तनशील होता है, अर्थात् इसका आदि-अन्त होता है। परन्तु, यदि कार्य अवयवों से निर्मित हो, तो प्रत्येक अवयव में अवयवित्व अथवा संघटकत्व होगा। अवयवों का जाति-गुण अथवा सामान्य है और नैयायिकों के अनुसार सामान्य नित्य होता है। तो इस नित्य निरवयवित्व का कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये, नित्य निरवयवित्व से परिवर्तनशील कार्य नहीं हो सकता।

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विखण्डन

१९७

१. (ख) इसी प्रकार, ईश्वर भी नित्य परमाणुओं तथा निरवयवित्व के सामान्य गुण से विभूषित खण्डों से इस कार्य-रूप जगत् को नहीं उत्पादित कर सकता है।
१. (क) और (ख) दोनों आपत्तियों में कोई बल नहीं है; क्योंकि नैयायिकों के अनुसार साधारणतया निरवयव, विस्तारविहीन परमाणुओं से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि का निर्माण नहीं हो सकता है। परन्तु, पर्वत, समुद्र आदि सावयव हैं, परमाणुओं से निर्मित हैं और इसलिये इसे असाधारण शक्ति का परिचायक मानकर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। चूँकि, गुणरत्न और उदयनाचार्य की पूर्वमान्यतायें विभिन्न हैं, इसलिये इस विभिन्नता के दृष्टिकोण के रहने पर, अर्थात्, दोनों के बीच सामान्य आधार के अभाव में गुणरत्न की १. (क) और (ख) आपत्तियों को प्रसंगहीन मानना चाहिये।
१. (ग) यदि 'कार्य' का अर्थ हो कि वह जो खण्डों अथवा प्रदेशों से बना हो, तो इस अर्थ में नित्य आकाश भी कार्य हो जायगा; क्योंकि आकाश में भी घटाकाश, मठाकाश आदि खण्ड पाये जाते हैं।
१. (घ) इसी प्रकार कहा जा सकता है कि हम जानते हैं कि आकाश के मठाकाश, घटाकाश आदि खण्ड हैं। परन्तु, आकाश नित्य है और खण्डों के योग रहने पर भी आकाश को कार्य नहीं माना जा सकता है।
१. (ग) और (घ) को भी नैयायिक सही आपत्ति नहीं मानेंगे; क्योंकि आकाश के विषय में न्याय और जैनदर्शन में सामान्य पूर्वमान्यतायें नहीं हैं।
२. नैयायिकों के अनुसार जगत् अवयवी है, जो अपने परमाणु-अवयवों से संघटित होता है। यह अवयवित्व जगत् का समवायी गुण है। परन्तु, समवाय-सम्बन्ध को नैयायिक नित्य मानता है। तो क्या जगत्-रूपी कार्य को अवयवित्व के कारण नित्य समझा जाय? परन्तु, ऐसा मान लेने पर जगत् को नित्य कार्य माना जायगा और 'नित्य कार्य' आत्मविरोधी प्रत्यय है। फिर, यदि जगत् को नित्य मान लिया जाय, तो ईश्वर इसका किस प्रकार कारण माना जा सकता है?

४. क्या कार्य के लक्षण को उसकी परिवर्तनशीलता मानी जाय ? परिवर्तन का अर्थ है कि किसी वस्तु की एक स्थिति दूसरी स्थिति का रूप धारण करे। परन्तु, इस अर्थ में तो ईश्वर में भी परिवर्तन होता है; क्योंकि उसकी एक स्थिति वह होती है, जिसमें सृष्टि नहीं होती और उसकी दूसरी स्थिति वह होती है, जिसमें वह जगत् की सृष्टि करता है। इस रूप में ईश्वर में परिवर्तन होने से वह भी कार्य हुआ और इस ईश्वर को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर (१) की आवश्यकता होगी और ईश्वर (१) को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर (२) की आवश्यकता होगी और इस रीति से इस प्रकार की व्याख्या में अनवस्था (Regressus ad Infinitum) का दोष चला आयेगा।

(आ) पर क्या जगत् को 'कार्य' कहा जा सकता है ? कार्य वह है, जो कभी विद्यमान हो और फिर किसी अन्य काल में विद्यमान न रहे। इस अर्थ में सम्पूर्ण जगत् के प्रलय तथा इसकी आरम्भिक रचना को किसी ने नहीं देखा है। तो, गुणरत्न का कहना है कि क्यों नहीं जगत् को अनादि और नित्य समझा जाय। परन्तु, इस आपत्ति के प्रति नैयायिकों का कहना है कि जगत् का प्रलय और सृष्टि जगत् के कार्यत्व में निहित है। फिर 'धृति' को भी ईश्वर-साधक प्रमाण माना गया है। इस रूप में जगत् का प्रारम्भ, धृति और विनाश, तीनों पाये जाते हैं। इसलिये, उदयनाचार्य के लिये जगत् कार्य है। यहाँ उदयनाचार्य के तर्क में दो आधार बातें हैं, अर्थात् (क) यह पूर्वानुभविक (A Priori) युक्ति छिपी है कि सभी सावयव वस्तुयें कार्य हैं और पृथ्वी, समुद्र आदि को सावयव मान लिया गया है (ख) दूसरी बात है कि शास्त्रों में लिखा है कि जगत् की सृष्टि और इसका विनाश होता है। इसलिये किसी भी रूप में नैयायिकों के लिये जगत् का कार्यत्व अनुभव-सिद्ध निष्कर्ष नहीं है। परन्तु, गुणरत्न इस निष्कर्ष को अनुभव-सिद्ध मान रहे हैं। यह पूर्वानुभविक सिद्धान्त है कि मानव, जिनकी सृष्टि देवताओं के बाद हुई है, सृष्टि-प्रक्रिया नहीं देख सकते हैं। फिर, प्रलय के समय भी पूर्ण प्रलय के पूर्व जीवों का अन्त हो जाता है, तो जगत् के विनाश का कौन साक्षी होगा ? इसलिये नैयायिकों का आधार पूर्वानुभविक सिद्धान्त है, जिसकी आलोचना आनुभविक तर्कों के आधार पर नहीं की जा सकती है। अतः, गुणरत्न की आपत्ति निराधार है। परन्तु, गुणरत्न की दूसरी आपत्ति उतनी निराधार नहीं है। नैयायिक यदि अनुभव के आधार पर जगत् को इसलिये कार्य मानते हैं कि

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी विखण्डन १९९

जगत् में घटनाओं का प्रारम्भ और अन्त होता रहता है, जैसे, वृष्टि और सुखाद, पेड़-पौधों की वृद्धि और उनका विनाश आदि। इस प्रसंग में गुणरत्न का कहना है कि यदि जगत् के अन्तर्गत परिवर्तन को जगत् के कार्यत्व का साधक माना जाय, तो परमाणु और ईश्वर को भी इस तर्क के आधार पर कार्य स्वीकारना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, परमाणु विना किसी योग और लगाव के होते हैं, परन्तु ईश्वर उन्हें जोड़कर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की रचना करता है, क्या यह मिश्रितत्व अथवा संयोजनपन परमाणुओं में अन्तर नहीं लाता है? यदि परमाणुओं के रूपान्तरण को परिवर्तन माना जाय (जो नैयायिकों के अनुसार अणुओं पर की गयी अद्भुत क्रिया है), तो नित्य परमाणु भी अनित्य कार्य हो जाते हैं।

फिर, इसी आपत्ति के अनुसार ईश्वर भी कार्य हो जाता है। नैयायिकों अनुसार ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न ईश्वर में पाया जाता है। नैयायिकों के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न नित्य और शाश्वत हैं। परन्तु, गुणरत्न इस बात को नहीं स्वीकार करते हैं। गुणरत्न के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का विषय जगत् है और जगत् स्वयं कभी है और कभी नहीं है (जैसे प्रलयकाल में)। तब ईश्वर के प्रयत्न तथा चिकीर्षा भी अपने विषय-क्षेत्र जगत् के समान परिवर्तनशील अथवा विकारयुक्त होगा। चूँकि स्वयं ईश्वर में ही, अर्थात् उसके ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न में विकार पाया जाता है, इसलिये ईश्वर भी कार्य हो जायगा। ईश्वर के कार्य हो जाने पर ईश्वर को नित्य नहीं माना जायगा और यदि ईश्वर को वास्तव में कार्य माना जाय, तो ईश्वर-कार्य का कारण होगा ईश्वर (१) और ईश्वर (१) का कारण होगा ईश्वर (२) और अन्त में इस व्याख्या में अनवस्था दोष चला आयगा।

हमलोगों ने देखा है कि गुणरत्न के अनुसार विश्व को नित्य और शाश्वत मानना चाहिये; क्योंकि न तो किसी ने विश्व की सृष्टि देखी है और सिद्धान्ततः न कोई इसके प्रलय का साक्षी हो सकता है। इस प्रसंग में दो उल्लेखनीय विचार वर्तमानकालीन धर्मदर्शन में पाये जाते हैं। प्रथम, बताया जाता है कि विश्व स्वतः संचालित व्यवस्था है। यह ठीक है कि इस विश्व में जटिल से जटिल सोपानक्रमिक व्यवस्था देखी जाती है, जैसे पशु, मानव तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नियमित व्यवस्था। परन्तु, लगभग २०० वर्ष पूर्व ह्यूम ने कहा था कि यदि विश्व-वस्तुयें व्यवस्थित नहीं होतीं, तो वे आज हमारे सामने

संरक्षित कैसे दिखतीं। यदि सूर्यमण्डल के ग्रहों में व्यवस्था नहीं होती, तो वे आपस में टकराकर चूर-चूर हो जाते और आज हम उन्हें नहीं विद्यमान पाते। इसी प्रकार, यदि कुत्ते की दो टांगें ऊपर और आँखें पीछे होतीं, तो वे किस प्रकार जीवन-संग्राम में संजीवित रहते। इसलिये, ह्यूम के अनुसार जगत् को घट-पटवत् व्यवस्थित कार्य भी मान लिया जाय, तो भी जगत् को किसी संचालक की ओर बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। साथ-ही-साथ ह्यूम ने यह भी बताया है कि यदि जगत् को कार्य भी मान लिया जाय, तो यह मानना कि यह घटवत् है या बबूल के समान निरुद्देश्य है, केवल मनमाने ढंग से ही निर्णीत हो सकता है। जो ईश्वरवादी बताना चाहते हैं कि विश्व घटवत् निमित्तकारण से उत्पन्न है, वे विश्व में घटनाओं के बीच व्यवस्था, क्रम तथा योजनापूर्णता की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट करते हैं। इसके विपरीत वे निरीश्वरवादी या स्वभाववादी, जो विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण दिखाना चाहते हैं, विश्व की घटनाओं की अस्तव्यस्तता, गर्त तथा अव्यवस्था की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट करते हैं। यही बात जॉन विस्डम ने अपने 'गॉड्स' नामक लेख में बताया है। अतः, उदयनाचार्य और गुणरत्न दोनों ही अपनी-अपनी अभिवृत्ति के अनुसार विश्व की घटनाओं को अपने पक्ष के अनुरूप प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु, इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का निश्चित तथा असन्दिग्ध निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है।

एक तीसरी बात भी उल्लेखनीय है। पादरी कोपुल्स्टन के साथ रसेल और ऐयर का दो बार मुठभिड़न्त हुआ था। कोपुल्स्टन ईश्वरवादी हैं और रसेल तथा ऐयर दोनों विश्लेषणवादी दार्शनिक हैं। पादरी कोपुल्स्टन का कहना है कि विश्व अपने सम्पूर्णत्व में आत्मव्याख्येय (Self-explanatory) विषय नहीं है और इसलिये यह दार्शनिक व्याख्या का समुचित विषय है। ऐयर और रसेल, कान्त की परम्परा को स्वीकार करते हुए बताते हैं कि अपने सम्पूर्णत्व में विश्व दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं है। रसेल का कहना है

-
१. B. Russell/F. C. Copleston, *A debate on the existence of God*, in *The existence of God*, Ed. John Hick. A. J. Ayer/F. C. Copleston, *Logical Positivism*, Ed. A. J. Ayer. इनके संक्षिप्त स्पष्टीकरण के लिये देखें. Y. Masih, *Religious Philosophy*, pp. 133—141.

कि विशिष्ट घटनाओं की व्याख्या करना तर्कसंगत माना जायगा। परन्तु, घटनाओं की सम्पूर्ण शृंखला स्वयं कोई घटना नहीं है, जिसकी व्याख्या की जाय। इसी प्रकार, राइखेनवाख का कहना है कि राम का पिता हो सकता है। यदु का पिता हो सकता है और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति का पिता हो सकता है। परन्तु, मानवता का कोई पिता नहीं हो सकता है। अतः, कार्य रूप में न विश्व को समझा जा सकता है और न इसका कोई निमित्तकारण ही स्थापित किया जा सकता है। विश्व है और इसी रूप में इसे तथ्य रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये। इस विश्व को कार्य मानकर इसके कारण को स्थापित करना व्यर्थ का प्रयास है। यह कोई समुचित दार्शनिक समस्या नहीं, बरन् समस्याभास (Pseudo-Problem) है। अब उपर्युक्त समकालीन निरीश्वरवादी युक्तियों को गुणरत्न ने अपनी प्रचलित भाषा में निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया है।

मान लिया जाय कि विश्व कार्य है, परन्तु गुणरत्न के अनुसार इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इस विश्व का कोई बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता अथवा निमित्त-कारण है। विश्व को कार्य या तो सामान्य रूप में माना जा सकता है, या विशिष्ट रूप में। मान लिया जाय कि यह विश्व सामान्य रूप में कार्य है, तो इससे इतना ही भर निष्कर्ष स्थापित किया जा सकता है कि इस कार्यरूपी विश्व का कोई-न-कोई कारण है। परन्तु, इससे यह कहाँ ध्वनित होता है कि विश्व का बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता है। यदि कार्य को हम सामान्य रूप में व्यवहृत करते हैं, तो हमें 'कारण' शब्द को भी सामान्य रूप में स्थापित करना चाहिये। दूसरे शब्दों में या तो विश्व को और इसके कारण को, दोनों को ही सामान्य रूप में व्यवहृत करना चाहिये, या दिखाना चाहिये कि यह विश्व एक विशिष्ट रूप में घट-पटवत् कार्य है। यदि कहा जाय कि विश्व में और घट में सादृश्य है, तो केवल सादृश्य के आधार पर सही निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है। वाष्प और धुएँ में सादृश्य है, पर वाष्प के रहने से आग का सही निगमन स्थापित किया जा सकता है? परन्तु, नैयायिकों का कहना है कि घट-पट आदि कार्य को देखकर सामान्यीकरण किया जा सकता है और बताया जा सकता है कि विश्व घट के समान अभिकल्पात्मक कार्य है, जिसका रचयिता बुद्धिमान् तथा सर्वज्ञ ईश्वर है। यहाँ गुणरत्न का कहना है कि सामान्यीकरण के आधार पर विरुद्ध हेतुभास

हो जायगा। यदि विश्व को घटवत् कार्य मान लिया जाय, तो ईश्वर भी कुम्हार के समान सीमित जीव समझा जायगा। क्या ईश्वर को दुःख-सुख-भोगी तथा मोक्षार्थी माना जाय? उदयनाचार्य बताना चाहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, बुद्ध, शुद्ध तथा नित्य मुक्त है, परन्तु यदि ईश्वर को कुम्भकार के समान इस विश्व का रचयिता मान लिया जाय, तो ईश्वर मुक्त न होकर बद्ध जीव बन जायगा। साथ ही, दूसरी भी आपत्ति चली आयगी।

जहाँतक घट और पट आदि कार्यों का प्रश्न है, वहाँ केवल शरीरी ही जीव कारण पाये जाते हैं। तो यदि विश्व को घट-पट आदि के समान कार्य मान लिया जाय, तो क्या ईश्वर को भी शरीरी मान लिया जाय? परन्तु, ईश्वर को उदयनाचार्य प्रभृति सभी ईश्वरवादी नैयायिक अशरीरी मानते हैं। अतः, यदि सादृश्य के आधार पर सामान्यीकरण द्वारा मान लिया जाय कि विश्व घटवत् कार्य है, तो ईश्वर सीमित तथा शरीरी जीव हो जाता है, जो नैयायिक के अभिप्राय से एकदम विद्ध बात है।

फिर, यदि विश्व कार्य हो, तो क्यों हम इस कार्य को घटवत् उद्देश्यपूर्ण रूप में मानें? क्यों नहीं हम विश्व को कटैले तथा बबूल के समान निरुद्देश्यपूर्ण कार्य मानें? इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि यहाँ पुरा मनमानापन है, जैसा ह्यूम और विस्डम ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट कहा है। ठीक इसी प्रकार गुणरत्न का कहना है कि नैयायिक मनमानी रीति से विश्व को घटवत् मानते हैं, न कि कटैले और बबूल के समान यान्त्रिक एवं स्वभाववादी विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण मानते हैं। परन्तु, नैयायिकों का कहना है कि विश्व का सामंजस्य कटैल-बबूल से बढ़ता है, न कि घटता है। ईश्वरवादी नैयायिक को निरुद्देश्यपूर्ण दिखनेवाले कटैलों से भी सम्पूर्ण विश्व घटवत् अभिकल्पात्मक ही दिखायी देगा। इस पक्षपोषण का प्रत्युत्तर करते हुए गुणरत्न का कहना है कि यदि निरुद्देश्यपूर्ण घटनाओं से भी ईश्वर की बुद्धिमत्ता सिद्ध की जाय, तो किसी भी विरोधी घटनाओं को, आपत्ति न स्वीकार कर, ईश्वरवादी अपनी पूर्वमान्यताओं के सामने उड़ा दे सकता है। परन्तु, इस प्रकार आपत्तियों की ओर से आँख मूँद लेने पर आपत्तियों का निराकरण नहीं माना जायगा।

गुणरत्न की आपत्ति में बल है। समकालीन दर्शन में उसी को वास्तविक तथा तर्कसंगत व्याख्या माना जाता है, जिसका मिथ्यापन सम्भव हो। वह

व्याख्या जो सभी प्रकार की घटनाओं से (संगत-विसंगत) मेल खा जाय, उसे छूछी व्याख्या कहा जाता है। यदि विश्व की सभी प्रकार की घटनाओं से (चाहे वे घटवत् अभिकल्पात्मक हों, या कटैले-तुल्य निरुद्देश्य हों) ईश्वर का कर्तृकत्व मेल खा जाय, तो आधुनिक विचारधारा के अनुसार इसे अवास्तविक तथा छूछी व्याख्या कहा जायगा।

फिर, नैयायिक समझते हैं कि जागतिक घटनाओं से ईश्वर अछूता रहता है। परन्तु, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। यदि ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का सम्बन्ध विश्व से रहता है, तो विश्व-घटनाओं से ईश्वर प्रभावित होगा और यदि विश्व-घटनाओं से ईश्वर अप्रभावित रहता है, तो ईश्वर को इन घटनाओं का रचयिता और पालक (धृतिवत्) कैसे कहा जा सकता है? यही कारण है कि शांकर सिद्धान्त में ईश्वर सर्वोच्च, परन्तु केवल व्यावहारिक सत्ता ही माना गया है। बीसवीं शताब्दी के प्रमुख तत्त्वमीमांसक ह्वाइटहेड ने ईश्वर को शाश्वत और प्रकृति-मूलक दोनों माना है। ईश्वर का एक पक्ष शाश्वत रहता है और उसका दूसरा पक्ष विश्व-सन्दर्भ में रहकर सतत परिवर्तनशील रहता है। ह्वाइटहेड से प्रभावित हार्टशोर्ण का भी यही मत है। परन्तु, ईश्वर को नित्य और परिवर्तनशील, दोनों एक साथ मानना कठिन हो जाता है। परन्तु, एक रूप में ईश्वर को विश्व का नित्य कारण माना जा सकता है, यदि ईश्वर को विश्व का समवायी कारण या आधार माना जाय। इस प्रकार का सिद्धान्त स्पिनोजा के दर्शन में पाया जाता है और फिर इस प्रकार की ध्वनि शांकर मत में पायी जाती है। शांकर के अनुसार निर्गुण सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान अथवा आश्रय-मात्र है। परन्तु, नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर विश्व का निमित्त-कारण है और निमित्तकारण को नित्य तथा अपरिमित समझना बहुत कठिन बात है।

ईश्वरवादी, चाहे प्राच्य या पाश्चात्य, समझते हैं कि अशरीरी और शरीरी कर्त्ता में प्राकारिक अन्तर नहीं है। फिर, अपरिमित तथा सीमित सत्ताओं में भी प्राकारिक अन्तर है। यही कारण है कि अनुभववादियों द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों का ईश्वरवादी सन्तोषजनक प्रत्युत्तर नहीं कर सकते हैं। क्या अशरीरी ईश्वर का ज्ञान, प्रयत्न आदि को हम उसी प्रकार समझ सकते हैं, जिस प्रकार शरीरी जीवों के ज्ञान, प्रयत्न आदि क्रियाओं अथवा

लक्षणों को हम जान सकते हैं ? ईश्वरवाद के विषय में इस समसामयिक समस्या को गुणरत्न अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त करते हैं ।

यदि ईश्वर इस विश्व का रचयिता हो और विश्व को घट-पटवत् कार्य माना जाय, तो ईश्वर को शरीरी कहा जायगा; क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा यही जाना जाता है कि घट का निमित्तकारण कुम्भकार है और पट का निमित्तकारण शरीरधारी तन्तुवाय होता है । परन्तु, नैयायिक यहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास प्रस्तुत करते हैं ।

ईश्वर इस विश्व का अशरीरी कर्त्तृक है; जैसे घट-पट आदि का शरीरी कर्त्तृक होता है ।

परन्तु, नैयायिकों के अनुसार ईश्वर इस विश्व का अशरीरी रचयिता है । परन्तु, यदि ईश्वर अशरीरी हो, तो उसमें चिकीर्षा, ज्ञान और प्रयत्न कहाँ से उत्पन्न होगा । गुणरत्न के अनुसार, नैयायिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मुक्त जीव अशरीरी हो जाता है और अशरीरी रहने पर मुक्त आत्माओं में किसी भी प्रकार की न कामना होती और न किसी प्रकार का कर्म । परन्तु, नैयायिक कहते हैं कि अशरीरी ईश्वर अपने ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के ही द्वारा विश्व-रचना कर सकता है । नैयायिकों को कहना है कि यदि कुम्हार को ज्ञान न हो, तो वह मिट्टी से पात्र नहीं बना सकता है । फिर, यदि कुम्हार को ज्ञान भी हो और मिट्टी भी हो, पात्र बनाने की इच्छा न हो, तो भी पात्र नहीं बना सकता है । इसी प्रकार ज्ञान, चिकीर्षा तथा सभी उपादान के रहते हुए भी यदि प्रयत्न न हो, तो भी कुम्हार पात्र नहीं तैयार कर सकेगा । इसलिये, नैयायिकों के अनुसार, शरीर से नहीं, वरन् ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के द्वारा कोई कार्य सम्पादित होता है । परन्तु, नैयायिकों का प्रत्युत्तर बहुत दुर्बल है । गुणरत्न पूछते हैं :

क्या किसी भी कुम्हार में बिना उसके शरीरधारी हुए ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जाता है ?

जब किसी भी जीवों के ज्ञान आदि को बिना शरीरधारी हुए सम्भव नहीं पाया गया है, तब कैसे समझा जाय कि अशरीरी ईश्वर में भी ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जायगा ? वास्तव में, देखा जाय तो शरीरधारी होना और बद्ध होना, शरीरविमुक्त होना और निष्क्रिय होना साथ-साथ पाया

जाता है। इसलिये, यदि ईश्वर में ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जाता है तो ईश्वर शरीरी होगा और साथ-ही-साथ वह बद्ध भी हो जायगा।

अन्त में, योग-साधना के आधार पर योगी अपने को अदृश्य बना सकता है। क्या ईश्वर भी अपने को योगसिद्धि के आधार पर अदृश्य बनाये रखता है? परन्तु, गुणरत्न के अनुसार इस सम्भावना को तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। इसका कारण है कि अदृश्य योगी भी शरीरधारी होता है और केवल बीच-बीच में कुछ ही समय के लिये अपने को अदृश्य बना लेता है। परन्तु, यदि ईश्वर अपने को कभी भी सशरीर होकर दृश्यमान नहीं करता है, तो गुणरत्न के अनुसार, ईश्वर यक्ष और पिशाच के समान केवल कपोलकल्पित सत्ता है।

अन्त में, किस रूप में ईश्वर को इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता माना जाय ?

गुणरत्न के अनुसार, निम्नलिखित रूप में ईश्वर को जगत् का कारण माना जा सकता है :

- (क) अपने अस्तित्व के हेतु ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।
- (ख) अपने ज्ञान के हेतु ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।
- (ग) अपने ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के आधार पर ईश्वर जगत् का रचयिता हो सकता है।
- (घ) व्यापार के कारण ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।
- (ङ) ईश्वरत्व के कारण सृष्टिकर्त्तृत्व समझा जा सकता है।

गुणरत्न का कहना है कि इनमें से किसी भी पक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकता है। गुणरत्न के अनुसार, अस्तित्व सभी वस्तुओं में पाया जाता है। अस्तित्व कुम्हार में उतना ही पाया जाता है जितना ईश्वर में। तो क्यों नहीं कुम्भकार तथा तन्तुवाय को भी जगत् का सृष्टिकर्त्ता स्वीकार कर लिया जाय? अपनी प्रचलित दार्शनिक भाषा में गुणरत्न बताना चाहते हैं कि अस्तित्व कोई गुण अथवा विधेय नहीं है, जिसके कारण ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता समझा जाय। दूसरी बात है कि अस्तित्ववाद में सत् को शक्ति रूप में समझा जाता है। इस रूप में सभी वस्तुओं में सत् नहीं पाया जाता है। वास्तव में, भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वर में विश्वकर्त्तृत्व को

स्वीकार किया जाता है और अन्य किसी भी सत्ता को सृष्टिकर्त्ता नहीं स्वीकार किया गया है। अतः, नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर में कोरा अस्तित्व नहीं, वरन् कार्यशक्ति के रूप में सत् है। गुणरत्न ने ईश्वर के अस्तित्व के इस पक्ष पर विचार नहीं प्रकट किया है। वास्तव में, गुणरत्न ने ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृकत्व पर पूरा ध्यान नहीं दिया है और इसलिये सृष्टिकर्त्तृकत्व-सम्बन्धी गुणरत्न की आलोचना छिछली है। यही कारण है कि गुणरत्न ने ईश्वर की सर्वज्ञता तथा चिकीर्षा आदि का भी सही अर्थ नहीं लगाया है। गुणरत्न का कहना है कि ईश्वर अपने ज्ञान के कारण भी इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि योगी, साधक, तपस्वी को भी ज्ञान होता है, परन्तु उन्हें अपने ज्ञान के आधार पर सृष्टिकर्त्ता नहीं माना जाता है। फिर, गुणरत्न के अनुसार यही आपत्ति ईश्वर के ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के विषय में भी की जा सकती है। अन्त में, गुणरत्न ईश्वर के ईश्वरत्व के विषय में भी प्रश्न करते हैं। क्या ईश्वरत्व से सर्वज्ञता का तात्पर्य अभिलक्षित होता है? यदि सर्वज्ञता के कारण विश्वसृष्टिकर्त्तृकत्व प्राप्त हो सकता है, तो गुणरत्न के अनुसार बुद्ध भगवान् भी तो सर्वज्ञ थे और फिर जैनों के अनुसार गुणस्थान के १३वें चरण में योगी सर्वज्ञ हो जाता है, तो क्यों नहीं बुद्ध भगवान् तथा महावीर को सृष्टिकर्त्ता माना जाय?

अन्त में पूछा जा सकता है, ईश्वर का, इस सृष्टि का रचना करने का क्या अभिप्राय हो सकता है? इस रचना का निम्नलिखित कारण बताया जा सकता है :

१. व्यक्तिगत मनचाहापन ।
२. जीवों का प्रारब्ध ।
३. करुणा ।
४. लीला ।
५. पुरस्कार तथा दण्ड-विधान हेतु ।
६. निरुद्देश्यपूर्ण स्वभाववाद-वश ।

गुणरत्न इनमें से किसी भी निर्धारक को सृष्टि का सही उद्देश्य नहीं मानते हैं। यदि व्यक्तिगत मनचाहापन को सृष्टि का कारण माना जाय, तो इस विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण माना जायगा। इस प्रकार की बात बाइबिल

की अय्यूव-कथा में उठती है। भक्त अय्यूव को एक स्थिति में कहना पड़ा कि ईश्वर अपनी शक्ति से उन्मत्त होकर सृष्टि रचता और विनाश करता है। भला ! इस शक्तिशाली ईश्वर से कौन इस विश्व-सृष्टि का उद्देश्य पूछ सकता है ? परन्तु मनमतंग, मनचाही करनेवाले ईश्वर को पूर्णतया उपास्य नहीं माना जायगा। फिर, यदि जीवों का कर्मसंस्कार अथवा प्रारब्ध से विवश होकर ईश्वर इस विश्व की रचना करता है, तो गुणरत्न के अनुसार, जीवों का कर्मसंस्कार, न कि ईश्वर इस विश्व का कर्तृकत्व कहा जायगा। पुनः, करुणा का क्या स्थान हो सकता है ? सृष्टि के पूर्व जीव नहीं होते और न वे वद्ध होते। इसलिये, जीवों के प्रति करुणा का प्रश्न सृष्टिकाल में नहीं उठता है। फिर, यदि जीवों को इस जगत् में अपने कर्म के अनुसार दुःख मिलता है, तो ईश्वर इस कर्मफल को कैसे रोक सकता है ? यदि ईश्वर अपनी क्षमाशक्ति के आधार पर जीवों को उबार सकता है, तो या तो कर्मवाद सही नहीं होता या ईश्वर सभी अशुभों को दूर नहीं कर सकने पर सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि ईश्वर जीवों का दुःख दूर कर सकता है और नहीं दूर करता है, तो ईश्वर दयालु (करुणामय) नहीं, और यदि वह जीवों का दुःख (उनके कर्म के कारण) नहीं दूर कर सकता है, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। दोनों ही अवस्था में ईश्वर उपास्य नहीं ठहरता है। अपितु, ईश्वर-लीला का क्या अर्थ हो सकता है ? यदि यह रहस्यमय, मानव-बुद्धि से परे ईश्वर की कार्यशक्ति है, तो इसे दर्शन-गोष्ठी का विषय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, यदि 'लीला' का अर्थ क्रीडा हो, तो इसका अभिप्राय है कि ईश्वर ऊबकर मन-वहलाव के लिये इस सृष्टि की रचना करता है। ऐसी अवस्था में नरत्वारोपण का दोष चला आता है और फिर ऐसा मालूम होता है, कि ईश्वर अपने में पूर्ण नहीं है। परन्तु, यदि 'लीला' का अभिप्राय हो कि ईश्वर अपनी कार्यशक्ति से अभिभूत होकर, क्रियाशील होकर सृष्टि करता है, तो इससे ध्वनित होता है, ईश्वरीय सृष्टि अपने-आप विना किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन के संचालित होती है। इस दशा में सृष्टि को घटवत् सप्रयोजन नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, नैयायिक सृष्टि को सप्रयोजन मानते हैं। इसलिये, लीला का अर्थ कार्यशक्ति से अभिभूत क्रिया भी नहीं कहा जा सकता है। जो बातें लीला के सम्बन्ध में कही गयी हैं, उनमें से कुछ पुरस्कार तथा नीति-विधान के विषय में भी लागू होती हैं। क्या ईश्वर को मानव-राजा समझ लिया जाय, जो

आज्ञा-पालन करने पर प्रजा को पुरस्कार और आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर उन्हें दण्ड देता है ? ऐसा समझने पर इसमें मनुष्यत्वारोपण का दोष चला आता है और फिर ईश्वर अपने में पूर्ण न होकर अपनी इच्छा के पालन होने के लिये अपने जीवों पर निर्भर हो जाता है ।

इन सब आपत्तियों के रहने पर गुणरत्न के अनुसार स्वभाववाद को अपनाना कहीं अधिक युक्तिपूर्ण मालूम देता है । अतः, गुणरत्न के अनुसार, उदयनाचार्य तथा अन्य नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत ईश्वर-समर्थक युक्तियाँ निराधार हैं ।

हमने पहले ही कहा है, कि आदिकालीन भारतीय धर्मदर्शन आध्यात्मिक अवश्य है, परन्तु कम-से-कम श्रमण-परम्परा में धर्मदर्शन विशेषतया निरीश्वरवादी कहा जा सकता है । हम आगे देखेंगे कि ईश्वरवाद की तुलना में निरीश्वरवादी आध्यात्मिकवाद अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है । परन्तु, जबतक समकालीन धर्मदर्शन की निरीश्वरवादी धाराओं का अध्ययन न किया जाय, तबतक इस सन्दर्भ में किसी निष्कर्ष को स्थापित नहीं समझा जायगा । अतः, 'अब समकालीन निरीश्वरवाद का अध्ययन किया जायगा ।



अध्याय ८

समकालीन निरीश्वरवाद

विषय-प्रवेश : इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य विज्ञान और तकनीकी का उदय क्रमशः ईसाई धर्म से हुआ है। फिर, पाश्चात्य प्रजातन्त्र तथा ऐहिकतावाद (Secularism) भी तकनीकी तथा औद्योगिक प्रसार से उत्पन्न हुआ है। परन्तु, जिस ईसाई जननी ने ऐहिकतावाद सन्तान का जन्म दिया है, उसी ऐहिकतावाद के कारण ईसाई धर्म का भी उन्मूलन हो रहा है। विज्ञान की विधि तथा उसके विभिन्न निष्कर्षों से अनुभववाद की नींव पक्की हो गयी है, और इस अनुभववाद के आधार पर ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी, अनर्गल तथा निरर्थक समझा जा रहा है। फिर, ऐहिकतावाद अथवा लौकिकवाद के प्रसार के बाद पाश्चात्य जीवन में कोई ऐसा स्थान नहीं बच गया है, जहाँ ईश्वर की आवश्यकता मालूम देती है। अतः, ईश्वर-प्रत्यय पाश्चात्य मानव के लिये सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर लुप्त होता जा रहा है। इसलिये, हमें स्पष्ट करना चाहिये कि किस प्रकार से ईश्वर-विचार दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर समकालीन युगदर्शन नहीं माना जा सकता है। इस निष्कर्ष को स्पष्ट करने के लिये ईसाई धर्म की पूर्वमान्यताओं का दार्शनिक अध्ययन विचार-इतिहास की पृष्ठभूमि में करना चाहिये।

ईसाई धर्म की तीन मुख्य पूर्वमान्यतायें स्वीकार की जाती हैं, अर्थात्,

१. ईश्वर में विश्वास;
२. बाइबिल को ईश्वर-वचन स्वीकारना और
३. ईसाई कलौसिया अथवा संघ को बाइबिल को बाँचने का एकाधिकारी समझना।

कालगति से ये तीनों बातें पाश्चात्य मानव के विचार-क्षितिज से ओझल होती जा रही हैं। ईसाई धर्म में विश्वास की क्षीणता स्वयं ईसाई धर्म की पूर्वमान्यताओं में निहित प्रत्ययों के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न हुई है। सर्वप्रथम, अन्य धर्मों के समान ईश्वर, बाइबिल तथा संघ आस्था के विषय थे। तर्कबुद्धि का स्थान गौण था, जैसा रामानुज और शंकर का कहना है कि तर्कबुद्धि ईश्वर

का अस्तित्व स्थिर नहीं कर सकती है। केवल शास्त्रों में, विशेषकर श्रुति में, आस्था रखने पर ईश्वर-ज्ञान अथवा बोध उत्पन्न होता है। तर्कबुद्धि का इतना ही भर काम है कि वह श्रुतिवचन को स्पष्ट करे। यही बात ईसाई धर्म के आदिकाल में बतायी जाती है। अन्सेल्म ने (सन् १०३३—११०९ ई०) अपने सत्तामूलक प्रमाण को ईश्वर के समक्ष एक प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत किया था :

हे प्रभु ! तू आस्था (फेथ) को तर्कबुद्धि के द्वारा स्पष्ट करता है। मुझे भी समझ दे.....कि मैं तेरे अस्तित्व को स्पष्ट करूँ.....क्योंकि जैसा हमारा विश्वास है, तू वैसा ही है, जैसा हमारा विश्वास है।

सत्तामूलक प्रमाण के लिख लेने पर अन्सेल्म ने लिखा :

हे सत्प्रभु ! तुझे कोटिशः धन्यवाद है; क्योंकि अब मैं तेरी ज्योति के द्वारा उस बात को समझता हूँ, जिसे पहले मैंने तेरे अनुग्रह से प्राप्त किया था।

परन्तु, धर्मदार्शनिकों के आपसी भेद, तर्क-वितर्क आदि के कारण अन्त में तर्कबुद्धि को विशेष स्थान देना पड़ा। तर्कबुद्धि के स्थापित हो जाने पर सत्यता-प्राप्ति को प्राथमिकता प्रदान की गयी। सत्यता-प्राप्ति के आदर्श को स्वीकार करने पर वैज्ञानिक खोज को प्राश्न्य मिला। वैज्ञानिक खोज इन्द्रियानुभव पर आश्रित होती है। इसी वैज्ञानिक मत पर विज्ञान-निष्कर्ष और विधि को प्रधानता प्राप्त हुई। वैज्ञानिक विधि के कारण वाइविल को श्रुति-वचन मानना कठिन हो गया और विज्ञान से निस्सृत अनुभववाद ने ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी सिद्ध कर दिया है। विज्ञान-प्रसार के साथ तकनीकी और औद्योगीकरण का प्रचार हुआ और इनके प्रचार से ऐहिकतावादी युगदर्शन स्थापित हो गया है। इसी ऐहिकतावाद के द्वारा ईश्वर का सांस्कृतिक, एवं मनोवैज्ञानिक निधन माना जाता है। अतः, पाश्चात्य निरीश्वरवाद ईसाई धर्म में निहित अन्तर्द्वन्द्व का तार्किक परिणाम बताया जा सकता है और इस विकास-क्रम को संक्षेप में निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है।

तर्कबुद्धि के आधिपत्य का विकास :

शब्द अनुभूति द्वारा गढ़ा जाता है और अनुभूति परिवर्तनशील हुआ करती है। इसलिये, शब्द का अर्थ भी बदलता रहता है। सर्वप्रथम, शब्दों के

अर्थ का विश्लेषण होता है और अर्थ का विश्लेषण के आधार पर परिशोधन (Precise) किया जाता है। परन्तु, शब्द को परिभाषा में बाँधकर इसे अचल और स्थायी नहीं बनाया जा सकता है। परिभाषा के आधार पर बनावटी भाषा में केवल पारिभाषिक शब्दों की ही रचना होती है और गणित तथा विभिन्न विज्ञानों में पारिभाषिक शब्दों का आदर्श रूप पाया जाता है। परन्तु, चलती भाषा में शब्दों को परिशुद्ध रखना कठिन है। कम-से-कम यह बात 'ईश्वर'-प्रत्यय में पायी जाती है।

प्रारम्भ में, ईसाई धर्म में, 'ईश्वर' को दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। एक ओर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता स्वीकार किया गया है और इस रूप में ईश्वर को सृष्टिकर्ता, जगन्नियन्ता तथा वाद में प्रेमी, क्षमाशील तथा दुःखभोगी पिता भी माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई विश्वासियों के लिये ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना अनिवार्य मालूम देता है। परन्तु, ईश्वर को निर्वैयक्तिक रूप में शब्द-ब्रह्म (Logos) भी माना गया है और कहा गया है :

आदि में शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था, और ईश्वर शब्द था।
यही आदि में परमेश्वर के साथ था। सब कुछ उसी के द्वारा उत्पन्न हुआ..... !
(यूहन्ना, १ : १-१)

परन्तु, 'शब्द' का जो भी अर्थ लगाया जाय, इसमें दार्शनिक तथा अमूर्त भावना विशेष रूप से तथा उपास्य ईश्वर की मूर्त भावना क्षीण रूप से अभिव्यक्त होती है। वाद में चलकर लोगोस (शब्द-ब्रह्म) का प्रत्यय रहस्य-वादी रूप से उपयुक्त होने लगा। इससे त्रित्व परमेश्वर (Trinity) के प्रत्यय की स्थापना हुई। पिता-पुत्र-पवित्रात्मा को त्रित्व परमेश्वर कहा जाता और एक ही ईश्वर को इसके तीन रूप में व्यवहृत किया जाता है, अर्थात् ईश्वर-पिता, ईश्वर-पुत्र और ईश्वर-पवित्रात्मा। परन्तु, कितनी ही अधिक माथा-पच्ची क्यों न की जाय, त्रित्व परमेश्वर को ईश्वरत्व (Godhood) कहा जायगा, न कि उपास्य एवं व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर। अतः, त्रित्व परमेश्वर का प्रत्यय निर्वैयक्तिक कहा जायगा।

अब ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाय या निर्वैयक्तिक त्रित्व परमेश्वर, दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को प्रकाशनापरक (Revelatory) समझा गया है। ईश्वर ने अपने को अपनी सृष्टि में प्रकट किया है।

इसलिये कि परमेश्वर के विषय का ज्ञान उनके मनों में प्रकट है; क्योंकि परमेश्वर ने उनपर प्रकट किया है; क्योंकि उसके अनदेखे गुण, अर्थात् उसका सनातन सामर्थ्य और परमेश्वरत्व जगत् की सृष्टि के समय से उसके कामों के द्वारा देखने में आते हैं..... । (रोमियों की पत्र, १ : १६-२०)

(अर्थात्, ईश्वर ने अपने को मानव-मन में तथा प्रकृति में प्रकट किया है ।)

परन्तु, ईश्वर ने अपने ईशदूतों (नबियों), वाइविल और अन्त में अपने पुत्र ईसा के द्वारा प्रकट किया है । प्रसंग में ईसा की प्रसिद्ध उक्ति है :

मैं और पिता एक हैं । (यूहन्ना, १०:३०)

और जो मुझे देखता है, वह मेरे भोजनेवाले (ईश्वर) को देखता है । मैं जगत् में ज्योति होकर आया हूँ, ताकि जो कोई मुझपर विश्वास करे, वह अन्धकार में न रहे । (यूहन्ना, १२ : ४५-४६)

तो क्या वास्तव में ईश्वर और ईसा एक हैं ?

परन्तु, ईसा मनुष्य था, वह देहधारी था, उसे भूख-प्यास लगती थी इत्यादि । तो क्या ईश्वर भी मानव की भाँति सीमित व्यक्ति है ? परन्तु, उपास्य ईश्वर वह है, जिसे भक्त अपने सम्पूर्ण धन, मन और वचन से पूजता है, अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर देता है । क्या भक्त सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ऐसे ईश्वर को कर देगा, जो आज है और सम्भव है कि कल न हो, आज दयालु हो और सम्भव है कि बाद में न हो ? ऐसी सत्ता, जो आज हो और जिसके नहीं होने की कल्पना की जा सकती है, आपातिक (Contingent) कही जाती है । ईसाई धर्मविचारकों के अनुसार, उपास्य ईश्वर को आपातिक नहीं स्वीकार किया जा सकता है । उन्होंने उपास्य ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता (Necessary being) कहा है, अर्थात् जिसके नहीं होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । यदि ईश्वर अनिवार्य सत्ता हो, तो ईसा को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है । तो क्या ईसा मानव था ? यदि ईसा मानव था, तो ईसाई को मूर्तिपूजक (Idolator) कहा जायगा; क्योंकि वह एक सीमित सत्ता को अपरिमित मानकर उसकी पूजा करता है । परन्तु, कोई ईसाई अपने को इतना अज्ञानी कहना स्वीकार नहीं करेगा । उसे कहना पड़ेगा कि वह मूर्तिपूजक नहीं है । तब क्या ईसा ईश्वर है ? यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि ईसा एक ऐतिहासिक यहूदी व्यक्ति था और ऐसे

समकालीन निरीश्वरवाद

२१३

सीमित व्यक्ति को पूर्ण ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। ईसाइयों के लिये ईसा की सत्ता एक बड़ी चुनौती थी और ईसा के तत्त्व के प्रसंग में ईसाइयों ने बाल की खाल निकाली है। उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किया है :

१. ईसा ईश्वर है।

(क) इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि ईसा मानव था और ईश्वर की आज्ञा का पालन करके उसने ईश्वरत्व को प्राप्त किया था।

(ख) परन्तु, यदि ईसा पूर्ण ईश्वर है, तो उसकी मृत्यु और उसका दुःख-भोग बनावटी था; क्योंकि ईश्वर न मर सकता है, और पूर्ण तथा अशरीरी होने के कारण वह दुःख-भोग भी नहीं कर सकता है। तो क्या ईसा की मृत्यु और उसका पुनरुत्थान छद्म व्यापार है? यदि ईसा की मृत्यु और उसका अनुजीवन छद्म हो, तो मानव को इससे कैसे पाठ मिल सकता है कि वह ईसा की मृत्यु और क्रूश-वहन से अमरता को प्राप्त कर सकता है? मानव ईश्वर न होने से उसके पुनरुत्थान की आशा टूट जायगी। मानव ईसा की मृत्यु में सहभागी नहीं हो पायगा। इसलिये, ईसाई को ईसा को मानना पड़ता है, ताकि वह ईसा को अपने जीवन का अनुकरणीय आदर्श समझे। परन्तु, हम देख चुके हैं कि ईसा मानव भी नहीं हो सकता है, ताकि मूर्तिपूजा का दोष न उत्पन्न हो। अतः, ईसाई विचारकों को मानना पड़ा कि,

(ग) ईसा पूर्ण ईश्वर भी है और पूर्ण मानव भी है। परन्तु, ये दोनों आत्मविरोधी बातें हैं। जबतक ईसाई ईसा के तत्त्व को आस्था का विषय कहकर रहस्यपूर्ण मानते रहे, तबतक इस आत्मविरोधिता का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाया। परन्तु, तर्कबुद्धि इस रहस्य को नहीं स्वीकार कर सकती और वर्तमान युग में अनेक अनुभववादी तथा ऐहिकतावादी ईसाई ईसा को ईश्वर मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इनके अनुसार,

२. ईसा सम्पूर्णतया शुद्ध मानव था। परन्तु, यदि कोई अपने को स्थिर करना चाहता है, अथवा जीवन को अर्थपूर्ण बनाना चाहता है, तो उसे ईसा को अपने जीवन का अनुकरणीय आदर्श स्वीकारना चाहिये। ऐसी दशा में ईसा ईश्वर नहीं रहता और न ईश्वर को

स्वीकारने की ही गुंजाइश रह जाती है; क्योंकि ईसाइयों के लिये ईश्वर और ईसा एक हैं। जिसने ईसा को देखा-सुना और जाना है, उसने ईश्वर को भी जाना है। ईश्वर ईसा से भिन्न तथा इतर सत्ता नहीं है। अतः, सम्प्रति ईसाई विचारक ईसा के ईश्वरत्व को त्यागकर, ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकारते हैं। यह है ईसाई निरीश्वरवाद।

अन्त में देखा आय, तो ईसाई निरीश्वरवाद तर्कबुद्धि में आस्था रखने से उत्पन्न हुआ है। परन्तु, ईश्वर को आस्था का विषय न मानकर मानव-तर्कबुद्धि का विषय मानना क्रमशः उत्पन्न हुआ है। कहा जाता है कि सन्त अगस्टाइन ईसाई धर्म के प्रथम प्रमुख दार्शनिक हुए हैं। अगस्टाइन प्लेटो और प्लोटिनस से बहुत प्रभावित हुए थे। अगस्टाइन (सन् ३५४—४३० ई०) के अनुसार, ईश्वर परम सत्ता है, और ईश्वर की तुलना में मानव उसकी चरणरज अथवा तुच्छ जीव है। मानव के जीवन का एकमात्र यही निःश्रेयस् है कि वह ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे। ईश्वर ने मानव को नाशवान् शरीर दिया है, परन्तु उसकी आत्मा को उसने अमर बनाया है।^१ पहला सृष्ट मानव आदम था। परन्तु, उसने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया और इससे पापवृत्ति उसमें और उसके कारण अन्य सभी मानवों में आ गयी है। विना ईश्वर के अनुग्रह (Grace) के कोई भी व्यक्ति ईश्वर के प्रति आज्ञाकारी नहीं हो सकता है।

ईश्वर असीम, पूर्ण तथा परम सत्ता है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है, परन्तु ईश्वर के अपार तथा असंख्य गुणों को मानव नहीं जान सकते हैं। मानव की बुद्धि क्षीण, उसकी नैतिक शक्ति दुर्बल तथा पाशविक शक्ति प्रबल होती है। केवल ईश्वर के अनुग्रह से मानव का उद्धार हो सकता है। प्रकाशना तथा ईसाई-संघ के प्रति अटूट आस्था से ही मानव का उद्धार हो सकता है। अगस्टाइन के अनुसार तर्कबुद्धि का स्थान मानव-उद्धार के लिये प्रमुख नहीं है। आस्था का प्रमुख स्थान अगस्टाइन के बाद ६०० वर्ष तक बना रहा। परन्तु, उसके बाद धीरे-धीरे आस्था का स्थान क्षीण पड़ता गया और तर्कबुद्धि की प्रमुखता बढ़ती गयी।

-
१. ईसाई धर्मदर्शन में मानव और स्वर्गदूतों को 'सृष्ट अमर' जीव माना गया है। परन्तु, अनेक विचारक किसी भी 'सृष्ट' वस्तु को अमर नहीं मानते हैं।

अन्सेल्म का पहले ही उल्लेख कर दिया गया है। अन्सेल्म (सन् १०३३—११०९ ई०) ने आस्था (फैथ) को विशेष स्थान प्रदान किया है, परन्तु अपने तत्तामूलक प्रमाण के प्रसंग में उन्होंने ईश्वरीय ज्योति या समझ अथवा तर्क-बुद्धि को भी स्थान दिया है। आस्था-प्राप्ति के लिये ईश्वर के अनुग्रह को बहुमूल्य माना गया है। परन्तु, अन्सेल्म के अनुसार, आस्था के साथ तर्कबुद्धि अथवा समझ के दान को अधिक बहुमूल्य समझना चाहिये। लेकिन, अन्सेल्म के अनुसार, तर्कबुद्धि को आस्था से परे तथा स्वतन्त्र नहीं मानना चाहिये। किन्तु, तर्कबुद्धि को स्थान देने के बाद तर्कबुद्धि गौण न रहकर क्रमशः कालगति के साथ प्रमुख बनती गयी। 'पिटर अवेलार्ड' (सन् १०७९—११४२ ई०) अन्सेल्म को अपेक्षा एक कदम आगे गढ़ गये। अवेलार्ड ने बताया है कि आस्था आवश्यक है। परन्तु, आस्था का अपना विषय होना चाहिये। अभी तक लोग संघ के नेताओं पर श्रुति के स्पष्टीकरण के लिये भरोसा करते थे। परन्तु, ईसाई-मण्डली के पूर्वजों ने श्रुति का भिन्न-भिन्न अर्थ बताया है। ईसाई विश्वास के सन्दर्भ में अवेलार्ड ने १५८ आत्मविरोधी कथनों का उल्लेख किया है। उन्होंने बताया कि श्रुति अथवा साक्षात् प्रकाशना के दिन बहुत पहले ही बीत चुके हैं। इसलिये, मतमतान्तरों के बीच निर्णय करके विश्वास-वचन को स्थिर करने का भार केवल तर्कबुद्धि को ही दिया जा सकता है। इसलिये अवेलार्ड ने आस्था को स्थान अवश्य दिया है, परन्तु, इसके साथ उन्होंने प्राकृतिक बुद्धि को भी स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया है। इस प्राकृतिक बुद्धि तथा आस्था के भेद को ह्यूगो ने (सन् १०९६—११४१ ई०) और भी अधिक उग्र कर दिया है। ह्यूगो ने धार्मिक अभिकथनों को चार वर्गों में बाँटा है :

१. तर्कबुद्धि द्वारा स्थापित अभिकथन। ये अभिकथन इतने स्पष्ट तथा परिस्पष्ट होते हैं कि इन्हें सुबोध करने के लिये आस्था की कोई आवश्यकता नहीं होती है।
२. वे धार्मिक अभिकथन, जिनकी कथावस्तु आस्था तथा प्रकाशना (Revelation) से प्राप्त होती है, परन्तु, जिन्हें युक्तिसंगत अथवा बुद्धिसंगत कहा जा सकता है।

१. Peter Abailard.

२. Hugo of St. Victor.

३. वे धार्मिक अभिकथन, जिन्हें अतिबौद्धिक कहा जा सकता है। इस प्रकार के अभिकथनों के अन्तर्गत विमोचन, अवतार, पवित्र प्रभुभोज, पाप-प्रायश्चित्त आदि कथायें सम्मिलित समझी जाती हैं। इन अभिकथनों को तर्कबुद्धि से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। परन्तु, इन्हें तर्कविरुद्ध नहीं माना जा सकता है। इन्हें आस्था का विषय माना जा सकता है।

४. अन्त में, ऐसे भी धार्मिक अभिकथन पाये जाते हैं, जिन्हें बुद्धि-विरुद्ध कहा जा सकता है।

ह्यूगो ने बुद्धि-विरुद्ध अभिकथनों को अस्वीकार कर दिया। अब वह धर्म-दर्शन, जिसमें तार्किक और तर्कसंगत (अथवा बुद्धिसंगत) अभिकथन पाये जाते हैं, उसे प्राकृतिक ईश्वर-दर्शन (Natural Theology) कहा गया और जिसमें, अतिबौद्धिक (Above reason) अभिकथन पाये जाते हैं, उसे श्रुत ईश्वर-दर्शन (Revealed Theology) कहा गया है। यह ठीक है, कि प्राकृतिक ईश्वर-दर्शन में भी आस्था का स्थान स्वीकारा गया है, तो भी इसके अन्तर्गत ऐसे भी अभिकथन सम्मिलित किये गये, जिन्हें स्वतन्त्र विश्लेषण और तर्क द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार से ईश्वर-दर्शन में भी तर्कबुद्धि को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हो गया।

वाद में चलकर ईसाइयों को मुसलमानों से होड़ लेनी पड़ी। उन्हें ईसाई धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये ईसाई विचारकों को अधिक-से-अधिक युक्तियों और बौद्धिक सामग्रियों पर भरोसा रखना आवश्यक हो गया; क्योंकि गैर-मसीही न तो बाइबिल को ही प्रामाणिक मानते हैं और न ईसाई सन्तों की दुहाई को प्रमाण समझते हैं। फिर, बार-बार युक्तियों के आधार पर ईसाई विश्वास को स्थिर रखने के लिये ईसाई ईश्वर-दार्शनिकों को प्राकृतिक तथ्यों की दुहाई देनी पड़ी। असाक्षात् रीति से सभी प्रकार के धर्मदार्शनिकों की पूर्वमान्यता थी कि तथ्य ही एक प्रकार के प्रबल प्रमाण हैं, जिन्हें सभी व्यक्तियों को स्वीकार करना चाहिये, परन्तु तथ्यों की स्थापना के लिये ऐसी विधि को स्थापित करना आवश्यक मालूम दिया, जिसे सभी निर्विवाद तथा निभ्रान्त मान लें। इस विधि की खोज से वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना हुई। आपसी मतमतान्तरों के बीच

निर्णय करने तथा ईसाई विश्वास को समर्थित करने के फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कर्ष स्थापित हुए :

- (क) तर्कबुद्धि की मान्यता अन्तिम कसौटी है, जो प्रकाशना तथा श्रुति के विश्वास-वचन को स्थिर कर सकती है।
- (ख) बुद्धि के द्वारा प्राकृतिक तथ्यों का स्थिरीकरण सभी धर्मों के लिये सर्वमान्य तथा व्यापक प्रमाण है।
- (ग) सभी वाद-विवादों के आधार में सर्वस्वीकृत पूर्वमान्यता यह स्थिर हुई कि सत्यता की खोज ही सभी मानवों की पवित्र निधि है, और ईसाई धर्मदार्शनिकों ने श्रुति के इस वचन को हृदयंगम किया कि,
सत्यता की खोज करो। जब तुम सत्यता को जानोगे, तब सत्यता तुम्हें सच्ची स्वतन्त्रता देगी।

(ख) के आधार पर वैज्ञानिक अनुसन्धान को बढ़ावा मिला और (ग) ने वैज्ञानिक खोज को धर्म के समान पवित्र मानकर वैज्ञानिकों को उत्प्रेरणा दी। पन्द्रहवीं शताब्दी से पाश्चात्य देशों में विज्ञान का प्रचार और प्रसार विघ्न-वाधाओं को कुचलता हुआ बढ़ता चला जा रहा है और समकालीन युगदर्शन में विज्ञान को जितनी ख्याति और मान्यता मिली है, उतनी मान्यता कभी किसी भी धर्म को नहीं मिली थी। परन्तु, धर्म और विज्ञान की जो भी साँठ-गाँठ प्रारम्भ में हुई हो, इस युग में दोनों का समन्वय सिद्धान्ततः सम्भव नहीं है। यह कथा अब ऐतिहासिक और दार्शनिक स्तर पर स्पष्ट की जायगी।

विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार :

कोपर्निकस (सन् १४७२-१५४३ ई०), केल्वर (सन् १५७१-१६३० ई०), गैलिलियो (सन् १५६४-१६४१ ई०) तथा तोरीसेली (Torricelli), गिल्बर्ट (Gilbert), हार्वे (Harvey), बॉयल (Boyle) प्रभृति वैज्ञानिकों ने विज्ञान की प्रगति जारी कर दी। इन वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक सत्यता को मानव की सबसे पवित्र निधि स्वीकार की थी, तो भी ये विचारक नहीं चाहते थे कि विज्ञान के साथ धर्म का कहीं भी विरोध हो। परन्तु, ऐसा सम्भव नहीं हुआ। पग-पग पर वैज्ञानिक खोज को धार्मिक मान्यताओं के साथ होड़ लेनी पड़ी थी और अनेक संघर्षों के फलस्वरूप ही विज्ञान का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो

पाया है। कम-से-कम न्यूटन और डार्विन, दोनों धार्मिक व्यक्ति थे और इन दोनों ने धर्म को विज्ञान के आधार पर पुष्ट करना चाहा था। परन्तु, दोनों की खोजें ऐसी थीं कि उनके अनुसार ईसाई धर्म की यूरोपीय मान्यताओं को भारी ठेस पहुँची। अतः, धर्म और विज्ञान का विरोध प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगा, यद्यपि धर्मदार्शनिकों ने विज्ञान में भी अपनी धार्मिक मान्यताओं को पचाने का पूरा प्रयास किया था और यह प्रयास लगभग १९वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहा।

अब विज्ञान में अन्तर्निहित दो बातें हैं, अर्थात् (क) वैज्ञानिक निष्कर्ष और, (ख) वैज्ञानिक विधि। इन दोनों को धर्मदार्शनिकों ने पचाने की कोशिश की, परन्तु वे अपने प्रयास में असफल रहे। मूल पूर्वमान्यताओं के साथ ईसाई धर्म-दर्शन की ये भी धारणायें थी :

(अ) पृथ्वी चिपटी है और यह सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र है। इसलिये, सूर्य तथा अन्य ग्रह भी इसी पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं।

(आ) अन्य पशुओं में विवेक नहीं है। केवल मानव में ही आत्मचेतना तथा विवेक है। ईश्वर ने मानव को अपने हाथों से बनाकर उसने उसमें अमर आत्मा को सृष्ट किया है और सम्पूर्ण विश्व तथा पशुओं को उसके सुख के लिये साधन-रूप सृष्ट किया है।

(इ) मानव, सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट जीव ही नहीं है, अपितु ईश्वर ने मानव को बुद्धि का दान देकर उसे स्वर्गदूतों के बराबर श्रेष्ठ जीव बनाया है।

वैज्ञानिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर ये तीनों प्रमुख धारणायें उन्मूलित हो गयीं। कोपर्निकस तथा गैलिलियो ने और बाद में चलकर न्यूटन के यान्त्रिकवाद (Mechanism) ने पृथ्वी-सम्बन्धी धारणा को विनष्ट कर दिया। बाद में चलकर डार्विन ने सिद्ध कर दिया कि मानव की गणना स्वर्गदूतों में नहीं, परन्तु उसे आकाश के पक्षी तथा भूतल के पशुओं के समान समझना चाहिये। इसी डार्विनीय परम्परा का अनुसरण कर फ्रॉयड ने स्पष्ट कर दिया कि मानव के जीवन का संचालन उसकी बुद्धि से नहीं, प्रत्युत पाशविक वृत्तियों एवं अचेतन प्रेरकों से सम्पादित होता है। मानव का अब गर्व चूर हो गया है और उसकी दृष्टि आकाश की ओर न होकर भूमिष्ठ हो गयी है। स्वर्ग की स्वर्ण-अट्टालिका से गिरकर मानव को अब नरक भी नसीब

नहीं है। आकाश के नीचे धूल-बूसर पगों के साथ निरुद्देश्यपूर्ण जीवन मानव का एकमात्र सम्बल शेष रहा है। इस कहानी को निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है।

यह ठीक है कि वैज्ञानिक निष्कर्षों की अपेक्षा वैज्ञानिक विधि का परिणाम धर्म के लिये अधिक निर्णायक अथवा घातक सिद्ध हुआ है। परन्तु, वैज्ञानिक निष्कर्ष भी पाश्चात्य विचारकों को धर्म से विमुख करने में बहुत दूर तक समर्थ सिद्ध हुए हैं। जब, कोपर्निकस ने देखा कि पृथ्वी-केन्द्रित सूर्यमण्डल के आधार पर ज्योतिष की गति अवरुद्ध हो गयी है और नयी घटनाओं की व्याख्या करने के लिये अस्थायी प्राक्कल्पना आदि अधिचक्रों की रचना करनी पड़ती है, तो कोपर्निकस ने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। उसने एक नयी विचारधारा स्थापित की। कोपर्निकस के अनुसार पृथ्वी को नहीं, वरन् इसके विपरीत सूर्य को ही सम्पूर्ण सूर्यमण्डल का केन्द्र मानना चाहिये। सूर्य-केन्द्रित ज्योतिष में उन सभी घटनाओं की व्याख्या, जो टॉल्मी (Ptolemy) के पृथ्वी-केन्द्रित सिद्धान्त पर होती थी, सूर्य-केन्द्रित सिद्धान्त के आधार पर सरलता, सुगमता तथा अनायास होने लगी। फिर, ज्योतिष में प्रगति भी आने लगी। बाद में चलकर गैलिलियो ने पीसा में झुके टावर से पत्थर गिराकर आनुभविक रूप से स्पष्ट कर दिया कि वास्तव में पृथ्वी चलती है। ये निष्कर्ष वैज्ञानिक थे और तथ्यों से प्रेरित होकर और वैज्ञानिक परम्परा को ध्यान में रखकर ही इन निष्कर्षों को स्थापित किया गया था। परन्तु, इनका प्रभाव धार्मिक मान्यताओं के लिये घातक सिद्ध हुआ। धार्मिक लोगों के हृदय में इस वैज्ञानिक ज्ञान से बड़ी ठोस पहुँची। अभी तक वे सोचते थे कि पृथ्वी मानव का विशेष आवास-स्थान थी और चूँकि, मानव ईश्वर की योजना में सृष्टि का प्रमुख जीव था, इसलिये उसका निवासगृह पृथ्वी को भी सृष्टि का केन्द्र बनाया गया था। परन्तु, पृथ्वी का अवमूल्यन हो जाने पर मानव-मान में बट्टा आने लगा। अन्त में, केवल यही नहीं सिद्ध हुआ कि पृथ्वी केन्द्र नहीं, वरन् यह सूर्य की परिक्रमा करती है, प्रत्युत यह भी कि पृथ्वी एक बहुत छोटा ग्रह है और फिर, सूर्य-ताप के अन्त होने पर इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। पृथ्वी-सम्बन्धी इस ज्ञान से धार्मिक व्यक्तियों को ऐसा आभासित होने लगा, मानों उनके पैरों के नीचे से ठोस धरती पिछल गयी।

टॉलमी, कोपर्निकस तथा गैलेलियो ने केवल सूर्य, पृथ्वी आदि के केन्द्र की ही बात नहीं की थी, परन्तु उन लोगों ने ग्रहों का परिक्रमा-पथ, ऋतु-परिवर्तन, ज्वार-भाटा आदि का भी लेखा रखा था। परन्तु, न्यूटन की महान् देन इसमें थी कि उन्होंने इन सब विभिन्न घटनाओं को केवल एक गुरुत्वाकर्षण के व्यापक नियम के आधार पर सूत्रबद्ध कर दिया। साथ ही, सिद्ध कर दिया कि एक ही नियम विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्र में फैला हुआ है। वे ही नियम जिनके द्वारा घड़ी तथा किसी भी यन्त्र का संचालन होता है, उन्हीं नियमों के द्वारा सम्पूर्ण सूर्यमण्डल के ग्रह, उपग्रह तथा अन्य पदार्थ भी संचालित होते हैं। अतः, सम्पूर्ण विश्व को एक महान् यन्त्र कल्पित करना चाहिये। यह ठीक है कि स्वयं न्यूटन परम भक्त थे और उनके अनुसार बिना ईश्वर की मदद के सूर्यमण्डल स्थिर (धृति) नहीं रह सकता है। परन्तु, जिस पथभ्रंश के आधार पर न्यूटन ने ईश्वर के बीच-बीच में देख-रेख अथवा हस्तक्षेप की प्राक्कल्पना आवश्यक समझी थी, उसे आगे चलकर लैपलेस ने सिद्ध कर दिया कि ग्रह-गति में यह पथभ्रंशता अपने-आप ठीक हो जाती है और इसके लिये किसी भी चेतना अथवा ईश्वर की देख-रेख की आवश्यकता नहीं होती है। अतः, न्यूटनीय यान्त्रिकवाद ने सम्पूर्ण विश्व को यन्त्र के रूप में चित्रित कर दिया, जिसमें चेतना, नीति तथा उद्देश्यमूलकता का कोई स्थान न रहा। यह ठीक है कि न्यूटन तथा धर्मविचारकों ने तटस्थ ईश्वरवाद (Deism) की कल्पना की और विश्व-यन्त्र में यान्त्रिक ईश्वर के परम उद्देश्य को बाह्यारोपित किया है। तटस्थ ईश्वरवादियों के अनुसार, ईश्वर एक चतुर यान्त्रिक है, जो इस विश्व को पूर्ण यन्त्र बनाकर इस विश्व से अलग हो गया और चूँकि, यन्त्र असाधारण कला का रूप है, इसलिये यह विश्व अपने-आप चलता रहेगा। परन्तु, ईश्वर ने इस विश्व-यन्त्र को मानव-कल्याण-हेतु रचा है। पर, क्या भक्तों को इस तटस्थ ईश्वर-वाद से सन्तोष प्राप्त हुआ ?

सर्वप्रथम यदि विश्व-यन्त्र अपने में पूर्ण हो और यदि ईश्वर इस विश्व को रचकर दूर हो गया हो, तो फिर इस विश्व की कार्यवाही में ईश्वर के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। परन्तु, यदि ईश्वर इस विश्व की कार्यवाही में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है, तो आश्चर्यकर्मों (Miracles) का स्थान नहीं रह जाता है। तब एक ओर बाइबिल में

उल्लिखित आश्चर्यकर्मों की कथा मिथ्या सिद्ध हो जाती है और फिर, ईश्वर के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अपने भक्तों के लिये प्राकृतिक घटनाओं में हस्तक्षेप करके आवश्यककर्म करता है। अतः, आश्चर्य-कर्म न करनेवाले ईश्वर की पूजा, उसके प्रति प्रार्थना आदि का क्या अर्थ हो सकता है ? फिर, मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है, परन्तु, इस समय तो वह इस विश्व और मानव से अतीत और दूरस्थ है। दूरस्थ ईश्वर को उपास्य मानना व्यर्थ है; क्योंकि तटस्थ ईश्वर न तो मानव के आर्त्तक्रन्दन को सुनता है और न भक्तों की प्रार्थना के प्रति अनुक्रियाशील होता है। अतः, तटस्थ ईश्वरवाद से धार्मिक हृदय को कोई सन्तोष नहीं मिला। यदि मानव को कोई सन्तोष हुआ, तो इसी वची हुई आशा से कि कम-से-कम ईश्वर ने इस विश्व-यन्त्र की ऐसी रचना की है कि इस पृथ्वी पर मानव का कल्याण बना रहे और उसकी उद्देश्यपूर्ति होती रहें। फिर, अभी तक मानव में यह आशा बनी हुई थी कि कम-से-कम मानव को ईश्वर ने अपने ही हाथों से रचकर उसमें उसने अमर आत्मा को फूँक दिया है। डार्विन के जैविक विकासवाद (Organic evolution) ने मानव की इस रही-सही आशा पर भी पानी फेर दिया।

चार्ल्स डार्विन (सन् १८०९—१८८२ ई०) का क्षेत्र जीव-जगत् से था और जीव तथा यन्त्र में अनेक अन्तर पाये जाते हैं।

- (क) जीव में स्वप्रजनन-प्रक्रिया (Self-reproduction) पायी जाती है। एक जीव कालक्रम में अनेक हो जाते हैं। परन्तु, कोई भी यन्त्र अपने-आप एक से अनेक नहीं होता है। शायद जीव और यन्त्र के बीच यह सबसे प्रमुख भेद है।
- (ख) जीव में क्षति हो जाने पर कालक्रम में वह चोट अपने-आप अच्छी हो जाती है। उदाहरणार्थ, शरीर का घाव भर जाता, टूटी हड्डी जुट जाती, छिपकिली की दुम कम कट जाने पर फिर हो जाती है इत्यादि। परन्तु, कोई भी यन्त्र खराब हो जाने पर अपने-आप ठीक नहीं हो जाता है।
- (ग) यन्त्र की तुलना में जीव स्वतः प्रवर्तित होता है। चिड़िया, पशु आदि स्वतः प्रवर्तित होकर अपने लिये आहार की खोज करते, अपना बचाव करते आदि, परन्तु यन्त्र बाह्यप्रवर्तित होता है।

(घ) जैविक प्रक्रियाओं में समग्रत्व पाया जाता है। पाचन, भोजन, मंथन इत्यादि प्रक्रियाओं में जीव का समस्त शरीर सक्रिय रहता है। परन्तु, यान्त्रिक प्रक्रिया को अंशतः कहा जाता है, अर्थात् अंशों के संचालन से यन्त्र का संचालन होता है। यन्त्र के किसी भाग को जब हम चाहें हटाकर दूसरा भाग जोड़ सकते हैं इत्यादि।

यद्यपि, यन्त्र और जीव में अनेक मौलिक भेद पाये जाते हैं, तथापि जैविक विकासवाद ने यान्त्रिकवाद के प्रसार में अनुपम योगदान दिया है। डार्विन ने जीवों के प्रजनन और परिवर्तन के दो मुख्य लक्षणों को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण जैविक विकास को यान्त्रिक रीति से स्पष्ट किया है।

१. डार्विन के अनुसार जीव की जनन-कोशिका में अन्धाधुन्ध तथा विविध परिवर्तन अपने-आप होते रहते हैं।

२. वे परिवर्तन, जिनके द्वारा भोजन तथा जोड़ (Mate) मिलने में आसानी होती है, वे जीवों में संरक्षित होकर संक्रान्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये, कि घास-प्रधान क्षेत्र में नीची गरदन के साथ बकरियाँ उत्पन्न होने लगे तो घास चरने में नीची गर्दनवाली बकरियों को सुविधा होगी। परन्तु, यदि गरदन लम्बी और ऊँची होने लगे, तो इस प्रकार की बकरियों को घास मिलने में कठिनाई हो जायगी; क्योंकि उनके लिये गर्दन नीची कर घास खाने में कठिनाई होगी। परन्तु, कटौले, बबूल-प्रधान देशों में ऊँची गरदनवाली बकरियों को आसानी होगी। अतः, परिस्थिति के ही द्वारा परिवर्तनों का चयन होता है। जो परिवर्तन वातावरण के अनुकूल होते, वे अभियोजन-कार्य में सहायक सिद्ध होते हैं और जो अनुकूल नहीं होते, वे अभियोजन-कार्य में असहायक होते हैं। केवल सहायक परिवर्तन ही अन्त में संरक्षित होते हैं।

यहाँ दो उल्लेखनीय निष्कर्ष स्थापित होते हैं :

- (क) परिवर्तन अन्धाधुन्ध तथा आकस्मिक रीति से उत्पन्न होते हैं।
- (ख) अब कौन परिवर्तन सहायक होंगे और कौन परिवर्तन सहायक नहीं होंगे, यह परिनिवेश अथवा परिस्थिति के द्वारा यान्त्रिक रीति से ही निर्धारित किये जाते हैं।

समकालीन निरीश्वरवाद

२२३

अतः, जीवों का विकास अन्धाधुन्ध तथा यान्त्रिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप ही सम्भव होता है। कहीं भी चेतना तथा अभिकल्प (Design) का हाथ नहीं देखने में आता है। डार्विन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मानव-जाति का विकास क्रमशः वनमानुष-सरीखे पशुओं से हुआ है। इसलिये, मानव की सृष्टि अन्य पशुजातियों के समान हुई है और यहाँ भी ईश्वर का हाथ नहीं देखने में आता है। इसलिये, डार्विनवाद ने मानव को पृथ्वी का पशु सिद्ध कर दिया और इससे मानव को अपने अभियान में भारी धक्का पहुँचा। इतना ही नहीं, डार्विन के जैविक विकास ने स्पष्ट कर दिया कि इस विकास-प्रक्रिया में कहीं भी नैतिकता का हाथ नहीं है। जीवन-संग्राम में वे ही जातियाँ भोजन और जोड़ प्राप्त करने में समर्थ होती हैं, जिनकी बाहुओं में बल होता है। समस्त जीवन-संग्राम का महान् सिद्धान्त है : 'जीवो जीवस्य भोजनम्, मत्स्यन्याय अथवा जिसकी लाठी, उसकी मैंस।' विजयी जातियों के नख-दन्त रक्त-रंजित पाये गये हैं। ऐसी सृष्टि के रचयिता को कैसे प्रेमी, न्यायी, दयालु ईश्वर माना जाय ?

फिर, प्रायः ईश्वरवादी जीवों के अंगों की ओर दिखाकर बताते थे कि इनकी अनुपम बनावट से सिद्ध होता है कि इनका सिरजनहार कोई अतुल बुद्धि-सम्पन्न सत्ता है। परन्तु, डार्विन के पहले ह्यूम ने और भारत में भी गुणरत्न आदि विचारकों ने बताया था कि विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था अपने-आप हुई है। इस स्वतः परिवर्तन में यदि पशुओं में सहनियोजन, संगठन आदि न होता, तो वे जीवन-संग्राम में भोजन और मैथुनिक जोड़ा न प्राप्त कर सकने के कारण अपने-आप में विलीन हो जाते। इस प्रकार के असंख्य प्राकृतिक प्रयोग के उदाहरण पत्थरों, बालुकाओं आदि स्थलों में अब भी संरक्षित देखे जाते हैं। बड़े-बड़े विशाल जीव सुव्यवस्थित तथा परिस्थिति के प्रति अभियोजित न रहने के कारण लुप्त हो गये हैं। अतः, डार्विन के जैविक विकास ने स्पष्ट कर दिया है कि जो भी जीव संरक्षित अथवा जीवन-संग्राम में अनुजीवित रह पाये हैं, वे अवश्य ही सुव्यवस्थित तथा स्वसंघटित होंगे, नहीं तो वह जीवन-संग्राम में विजयी ही नहीं रहते। इसलिये, पशु-जगत् अथवा समस्त प्राणी-जगत् में जो भी अद्भुत व्यवस्था देखी जाती है, वह अपने-आप होती है और इसकी व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं देखी जाती है। इसलिये, डार्विन ने विश्व-सृष्टि के निमित्त किसी भी सृष्टिकर्ता, पालक आदि की कल्पना करना अनावश्यक सिद्ध कर दिया है।

पाश्चात्य ईसाई जगत् के लिये डार्विन की वैज्ञानिक देन बड़ी कटु अनुभूति सिद्ध हुई है। परन्तु, स्वयं डार्विन पक्के ईसाई थे। उन्होंने स्वयं एक सुझाव रखा है, जिसके आधार पर जैविक विकास को ईसाई धर्मदर्शन में पचाया जा सकता है। उन्होंने बताया है कि लोग भ्रमपूर्ण रीति से समझते थे कि ईश्वर ने कुछ ही दिनों में इस ब्रह्माण्ड की रचना की है। बात ऐसी है कि ईश्वर ने कुछ ही जीवाणुओं में प्राणशक्ति फूँक दी और उन्हें यह महामन्त्र दिया कि तुम अनेक दिशाओं में विभिन्न, विविध तथा असंख्य रूप धारण करते जाओ। देखो, इसी क्षुद्र प्राणियों के उत्स से नाना प्रकार के अद्भुत जीवों का विकास होगा और अन्त में इस प्राणी-जगत् के रंगमंच पर बुद्धि और विवेकयुक्त मानव का पदार्पण होगा। यह मानव सभी प्राणी-जगत् का सिरमौर होगा और अपनी नैतिकता, बुद्धिबल तथा कल्पना-शक्ति के कारण वह देवत्व को प्राप्त करेगा।

अन्तर्वर्ती उद्देश्यपरक विकासवाद (Immanent Teleology) की कथा बड़ी मनोरंजक है। परन्तु, यह कथा प्रत्ययवाद में पूर्णतया शंकृत हुई है। परन्तु, प्रत्ययवाद में वैयक्तिक ईश्वरवाद को संगत रीति से स्थान नहीं दिया जा सकता है। अतः, डार्विन का सुझाव वर्तमान युग के लिये स्वीकार्य नहीं कहा जायगा। अपितु, विकास-क्रम और प्रक्रिया इतनी यान्त्रिक, नृशंस तथा अनैतिक है कि इसे ईश्वरीय समझना मानव-मस्तिष्क के लिये कठिन हो जाता है। जैविक विकास का गहरा घाव बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। परन्तु, जीवन की आशा मरुस्थल को भी हरा-भरा कर देती है। मानव का मान अब भी इस बात में अवशेष रहा कि उसमें बुद्धि, विवेक तथा नीतिज्ञान है। अब भी वह इसे अपने जीवन का सम्बल बना सकता है। परन्तु, विज्ञान बड़ा निष्ठुर है। मानव अपने हाथों से इस पृथ्वी पर थोड़े दिन के लिये घर बनाकर विश्राम करना चाहता है। इस सूनी वसुन्धरा पर अब उसकी बुद्धि और विवेक ही अवशेष बचे हैं। उसकी सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति लुट चुकी है। परन्तु, विज्ञान का कठोर आघात अब भी जारी है। फ्रॉयड ने (सन् १८५६—१९३९ ई०) सिद्ध कर दिया कि मानव झूठा दम्भ भरता है। मानव की समस्त प्रक्रियाओं के आधार में अचेतन प्रेरणायें रहती हैं। मानव समझता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन निश्चित सिद्धान्त से अनुप्रेरित होकर करता है। वास्तव में, वह मानव-जाति तथा अपने शैशवकाल की दमित

वृत्तियों से संचालित होता है। वह समझता है कि उसमें उदात्त प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तविकता तो यह है कि वह सुख-लोलुप होता है और सुख-प्राप्ति की झूठी और निरर्थक आशा करता है। जब सुख-प्राप्ति नहीं हो सकती, तब वह जीवन-संग्राम करना छोड़कर अन्त में मृत्यु-प्रवृत्ति की थपेड़ों में पड़कर काल-कवलित हो जाता है। न मानव में इस समय तक अपनी कोई स्वतन्त्रता है, न जीवन का कोई निःश्रेयस् है और न ही इसका कोई उद्देश्य है। हाँ, यदि कोई अपने को बच्चा बनाये रख सकता है, तो वह ईश्वर की कल्पना करके इस खयाली पुलाव का आस्वादन कर सकता है, काल्पनिक जन्मत में विचरण कर सकता है। परन्तु, जिस व्यक्ति में थोड़ी भी चेतना रह जाती है, वह इस शंशव कल्पना में आत्मविस्मृति को नहीं अपना सकता है। विज्ञान का अनुसरण करता हुआ मानव विसंगति के नाटक के रंगमंच पर इस समय अपना अभिनय कर रहा है।

ईसाई धर्म ने सत्यता को अपनाया और सत्यता की खोज ने विज्ञानों की स्थापना की। इन वैज्ञानिक निष्कर्षों ने धर्म को ही निगल लिया है। पर, क्या यह आकस्मिक प्रगति है? नहीं। विज्ञान की विशेषता इसकी विधि में है और यदि हम इस वैज्ञानिक विधि को अपनायें, तो तर्कसंगत रूप में हमें निरीश्वरवाद को भी अपनाना होगा।

वैज्ञानिक विधि के स्वरूप के प्रसंग में वाद में चर्चा की जायगी। यहाँ इतना ही भर कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों का अध्ययन वैज्ञानिक परिपाटी से करने पर ईसाइयों के लिये चिन्ताजनक विचार स्पष्ट होने लगा। ईसाई विचारक समझते थे कि आदिम जातियों का क्या कहना, अन्य सभ्य जातियों को भी ईश्वर का पूर्ण ज्ञान नहीं है। ईसाई धर्म में ही पूर्ण ईश्वर की अन्तोपजनक चर्चा की गयी है। परन्तु, जब विभिन्न जातियों के विभिन्न धर्मों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ, तब मानव-वैज्ञानिकों ने^१ आनु-विक खोजों के आधार पर स्थापित किया कि सभ्य जातियों की बात कौन सही, अनेक आदिम जातियों में भी सर्वोच्च सत्ता (Most High God) तथा सर्व-पिता (All-Father) की भावना पायी जाती है। फिर, दुःखभोगी

१. Andrew Lang, R. H. Lowie और E. O. James इस परम्परा के प्रमुख मानव-वैज्ञानिक हैं।

तथा प्राणाहुति करनेवाले अवतारों की कथा अनेक जातियों में पायी जाती है। रॉबर्ट्सन स्मिथ ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ईसाइयों का प्रभु-भोज (Lord's Supper) आदिम जातियों की बलि-प्रथा से प्राप्त किया गया है। अतः, न तो ईश्वर-बोध और न ईसाई धर्मकथाओं को ऐकाधिकारिक रीति से अपनाया जा सकता है। यही नहीं, धर्मों के सम्बन्ध में धर्मवैज्ञानिकों को स्पष्ट मालूम देने लगा कि धर्म संस्कृति पर निर्भर करते आये हैं और चूँकि, संस्कृतियाँ विभिन्न रूपों में पायी जाती हैं, इसलिये धर्मों की विविधता, अनेकता तथा विभिन्नता अनिवार्यतः मानव-व्यापार हैं। अब तो यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि शायद परम्परागत धर्मों का अन्त आ गया है और ईश्वरवादी धर्मों को मानव के लिये अनिवार्य भी नहीं कहा जा सकता है। केवल फ्रॉयड ने ही यह नहीं कहा है कि मानव अब वयस्क हो गया है और उसकी शैशव कल्पना के रूप में धर्म का विलयन अनिवार्य है, परन्तु, पादरी बॉनहोफर (Bonhoeffer) ने भी इस बात का अनुभव किया कि ईश्वरवादी धर्म इस युग की वयस्क अथवा प्रौढ सभ्यता के लिये अनावश्यक होता जा रहा है।

जो बात धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होती जा रही है, वही चिन्ताजनक निष्कर्ष बाइबिल के पाठालोचन (Textual Criticism) से भी पक्की होती जा रही है। बाइबिल के पाठालोचक बहुत दिनों से यह धारणा छोड़ चुके हैं कि बाइबिल वास्तव में श्रुत ईश्वर-वचन है। परन्तु, अब भी अनेक ईसाई इस बात को स्वीकार करते हैं, कि बाइबिल सन्तों के द्वारा ईश्वरीय उत्प्रेरणा से लिखा गया है और मानव के लिये इसे निभ्रान्त ईश्वर-वचन समझना चाहिये। बाइबिल के पाठालोचन से बाइबिल की निभ्रान्तता एकदम काफूर हो गयी है। बाइबिल के कथनों में अनेक आत्मविरोधितायें हैं और शायद सभी स्थलों पर आध्यात्मिक पाठ के समझने में भी कठिनाई उठ सकती है। फिर, बाइबिल के पुराने नियम (Old Testament) की बात कौन कहे, नये नियम (New Testament) के सम्बन्ध में भी अनेक शंकायें उठायी गयी हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि बाइबिल के अभिकथन विभिन्न रूपों में पाये जाते हैं, विशेषकर कुछ अभिकथनों को ऐतिहासिक कहा जायगा और अन्य कुछ प्रमुख अभिकथनों को धार्मिक गिना जायगा। उदाहरणतः, ईसा एक ऐतिहासिक

व्यक्ति का नाम है, जो एक यहूदी पुरुष थे और जिन्हें पिलात ने प्राणदण्ड दिया था। परन्तु, ऐतिहासिक ईसा उपास्य नहीं हैं, उनके प्रति भक्त आत्म-समर्पण नहीं करते हैं। इसका कारण है कि ऐतिहासिक ईसा मृत हैं और अब वह हमारे बीच नहीं हैं। परन्तु, उपास्य सत्ता को ईसाई ईश्वर का पुत्र तथा ख्रीष्ट (Christ) कहते हैं, जो मृत्यु पर विजयी हुआ और जो अमर होकर सर्व-कालीन और सर्वोपस्थित है। अब ईसा (जीसस) ऐतिहासिक जीव है। परन्तु, ख्रीष्ट विश्वास तथा आस्था (फैथ) का विषय है। ख्रीष्ट अमर और ईश्वर है।

ईसाई विश्वास में ईसा और ख्रीष्ट का अन्तर अवश्य पाया जाता है, परन्तु, ईसाई विश्वासी ईसा और ख्रीष्ट के बीच के भेद पर ध्यान नहीं देते थे। इसलिये, वे समझते थे कि बाइबिल में, विशेषकर नये नियम में, ख्रीष्ट-सम्बन्धी ऐतिहासिक अभिकथन हैं। वे समझते थे कि ख्रीष्ट ऐतिहासिक सत्ता है और 'सुसमाचार' (Gospel) में ख्रीष्ट-वचन हैं, जिन्हें ख्रीष्ट ने कहा था। इसी प्रकार, ईसाई समझते हैं कि कुंवारी मरियम, ख्रीष्ट की जीवनी, मृत्यु तथा उसका पुनरुत्थान इत्यादि सभी ऐतिहासिक अभिकथन हैं, जिन्हें पुरातन पत्रों में लिखित लेखों से प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु, जब पाठालोचक सुसमाचारों का वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे, तब निर्विवाद रीति से एक भी ख्रीष्ट-वचन ईसा-वचन, अर्थात् ऐतिहासिक अभिकथन नहीं दीख पड़े। यहाँ तक कि योहन-रचित सुसमाचार का ३।१६ पद भी क्षेपक सिद्ध हुआ। यह वही सुनहरा पद है, जिसे सम्पूर्ण ईसाई मत का सार-पद समझा जाता है। अतः, बाइबिल ऐतिहासिक रूप से सत्य वचन नहीं कहा जा सकता है। यह विश्वास-वचन-मात्र है। बाइबिल घोषित (Proclaimed) सुसमाचार है, जिसकी सत्यता व्यक्ति के अस्तित्वपरक (Existential) निर्णय से सिद्ध होती है, न कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है। यदि बाइबिल में वर्णित ख्रीष्ट की कथा इसलिये की गयी है कि ख्रीष्ट से प्रभावित होकर व्यक्ति अपने जीवन में अनुप्रेरणा प्राप्त करे, तो क्रूश की मौत से व्यक्ति को अनुप्रेरणा मिलती है कि वह ख्रीष्ट के समान लोक-कल्याण-हेतु अपनी बलि दे। सच्चा ईसाई वह है, जो ख्रीष्ट के पदचिह्न पर चलता हुआ मानव-कल्याण के हेतु अपने को अर्पित करे। बाइबिल की सत्य ताविश्वासियों के जीवन और उनके आदर्शपूर्ण निधन से सिद्ध होती है।

यदि विश्वासी का जीवन, उसकी दिनचर्या और उसकी मृत्यु ऐसी हो कि अन्य विश्वासियों को अनुप्रेरणा प्राप्त हो, तो वास्तव में अमुक ईसाई का जीवन बाइबिल के अभिकथनों को पृष्ठ करता है। परन्तु, ऐसी अवस्था में खीष्ट विश्वास का विषय है, न कि ऐतिहासिक तथ्य का। ऐसा मान लेने पर बाइबिल^१ सत्य पुस्तक नहीं और न ईश्वर का देहधारी होना तथ्य समझा जा सकता है और न बाइबिल के अभिकथनों को ईश्वर का श्रुत वचन कहा जा सकता है। अतः, बाइबिल का निर्भ्रान्त होना नहीं स्वीकार किया जा सकता है और न बाइबिल के उपदेश-वाक्यों को ईश्वर-आज्ञा माना जा सकता है। शायद, ये निष्कर्ष ऐसे नहीं हैं, जिनसे ईसाई धर्म को बहुत क्षति पहुँच सकती है। परन्तु, निस्सन्देह, अधिकांश साधारण ईसाइयों के लिये, बाइबिल का पाठालोचन उनके विश्वास को शिथिल बनाने में समर्थ सिद्ध हुआ।

विज्ञान-विधि पर आधृत अनुभववाद तथा निरीश्वरवाद :

प्रायः कहा जाता है कि निरीक्षित प्रदत्तों के आधार पर प्राक्कल्पना बनायी जाती है और प्राक्कल्पना सत्यापित होकर वैज्ञानिक नियम का स्थान ग्रहण कर लेती है। इस विधि को सामान्यीकरण (Generalisation) कहा जाता है। परन्तु, आधुनिक काल में सामान्यीकरण को पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं समझा जाता है। वैज्ञानिक विधि को हेत्वाश्रित-निगमनात्मक (Hypothetico-deductive) कहा जाता है। इसके अनुसार :

१. अनुभूत प्रदत्तों को ध्यान में रखकर सिद्धान्त-रचना की जाती है, परन्तु, स्वयं सिद्धान्त अनुभूत अथवा अनुभवाश्रित नहीं होता है। परन्तु, सिद्धान्त की रचना इसीलिये की जाती है कि इसके द्वारा अनुभूत घटनाओं की व्याख्या की जा सके। इसलिये, सिद्धान्त अनुभवजन्य न होने पर भी तथ्यों के प्रति निर्देशित रहता है।
२. सिद्धान्तों से प्रभावित होकर प्राक्कल्पनाओं की रचना की जाती है।
३. सिद्धान्त-प्राक्कल्पना को जोड़कर प्रेक्षणीय प्रदत्तों को निगमित (Derived, Deduced) किया जाता है।

१. अर्थात्, बाइबिल को पवित्र कहा जा सकता है, जो आस्था से उत्पन्न होता है, न कि संज्ञान से।

४. निगमित प्रेक्षणीयों को वास्तविक प्रदत्तों के आधार पर सत्यापित किया जाता है। यदि वास्तव में निगमित प्रेक्षणीय प्राप्त होते हैं, तो प्राक्कल्पना को सत्यापित समझा जाता है। इसी प्रकार, बार-बार सत्यापित होते रहने पर प्राक्कल्पना पुष्ट होकर वैज्ञानिक नियम का स्थान ग्रहण कर लेती है।
५. प्राक्कल्पना, निगमन आदि को विना गणितीय रूप में रखे हुए परिशुद्ध वैज्ञानिक नियम नहीं प्राप्त हो सकते हैं। गणित को विज्ञान की भाषा कहा जाता है। चूँकि, गणित विज्ञान के लिये आवश्यक होता है और चूँकि, गणित में प्रागनुभव तथा निगमनात्मक अंश पाये जाते हैं, इसलिये विज्ञान में इन दोनों प्रकार के अंशों को आवश्यक समझना चाहिये। परन्तु, विना निरीक्षण के विज्ञान-सामग्री नहीं प्राप्त हो सकती है और इसलिये, विज्ञान में प्रेक्षणीयों अथवा निरीक्षणीयों को प्रमुख स्थान दिया जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान का प्रारम्भ और अन्त दोनों, प्रेक्षणीयों में निहित रहता है। वैज्ञानिक विधि जटिल व्यापार है, तो भी कहा जा सकता है कि इसमें निगमन (Deduction) तथा गणित के अंशों के अनिवार्यतः रहते हुए भी इन्द्रियानुभव को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। यहाँ, यह भी चेतावनी दी जा सकती है कि विज्ञान में कोई भी पर्यवेक्षण विना प्राक्कल्पना तथा सिद्धान्त के नहीं प्रतिपादित किया जाता है। परन्तु, गणित तथा प्राक्कल्पना के यथोचित स्थान को अपेक्षया बहुत बाद में, अर्थात् २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही स्थिर किया गया है। इसलिये, वैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित होने पर प्रारम्भ में कुछ दार्शनिकों ने गणित को ही पूर्णतया वैज्ञानिक माना (उदाहरणार्थ : देकार्त, स्पिनोज़ा तथा लाइबनिट्स) और कुछ दार्शनिकों ने इन्द्रियानुभव को ही विज्ञान का सार माना है, (उदाहरणार्थ : ह्यूम और मिल)। सच्ची बात तो यह है कि निरीक्षण तथा गणित के अवियोज्य सम्मिश्रण से ही विज्ञान-विधि सम्भव होती है। परन्तु, इन्द्रियानुभव को भी बड़ी व्यवस्थित तथा नियन्त्रित रीति से काम में लाया जाता है और इस बात को भी अतिसंक्षेप में स्पष्ट करना चाहिये।

प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू को अनुभववादी कहा गया है; क्योंकि अरस्तू के अनुसार ध्यान (Contemplation) करने पर नहीं, परन्तु वस्तुविशिष्टों के निरीक्षण के फलस्वरूप ही प्रत्यय अथवा फॉर्म की स्थापना की जाती है। परन्तु, इस प्रकार के निरीक्षण को अनुभववादी नहीं कहा जायगा; क्योंकि निरीक्षण गौण है और सामान्य प्रत्ययों की स्थापना ही मुख्य विषय है। परन्तु, सच्चे अनुभववाद में इन्द्रियानुभव को ही मुख्य माना जाता है। वास्तव में, दर्शन के क्षेत्र में विज्ञान से प्रभावित अनुभववाद का प्रारम्भ बेकन (सन् १५६१—१६२६ ई०) से हुआ। बेकन ने इस बात पर जोर दिया कि शास्त्रीय तथा पुरानी पद्धति को छोड़कर अनुभव-केन्द्रित आगमन-विधि की मदद लेनी चाहिये। साथ-ही-साथ यह भी बताया कि अनुभव को किस प्रकार काम में लाया जा सकता है। अनुभव को व्यवस्थित रूप से काम में लाने के लिये बेकन ने तीन विधियों का उल्लेख किया है, अर्थात् अन्वय-तालिका (Tabula Presentiae), व्यतिरेक-तालिका और क्रम-तालिका (Tabula Graduum)। परन्तु, बेकन स्वयं वैज्ञानिक नहीं थे और इसलिये उनकी आगमन-विधि को निम्नलिखित कारणों से वैज्ञानिक नहीं समझा जा सकता है :

१. बेकन की आगमन-विधि का मुख्य उद्देश्य था कि अरस्तूवादी फॉर्म का आविष्कार किया जाय। इसके विपरीत विज्ञान का उद्देश्य है कि प्राकृतिक नियमों की स्थापना की जाय।
२. फिर, बेकन की विधि में गणित और निगमन का भी स्थान नहीं स्वीकारा गया है।
३. वास्तव में, वैज्ञानिक विधि आगमन नहीं, प्रत्युत हेतुवाश्रित-निगमनात्मक होती है और बेकन की विधि में प्राक्कल्पना को कोई भी स्थान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत, बेकन ने कहा है कि पूर्वकल्पना नहीं करनी चाहिये।

वाद में चलकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने (सन् १८०६—१८७३ ई०) बेकन की आगमन-विधि को पूरा किया और पाँच अभिनियमों (Canons) को स्थापित कर आकस्मिक घटकों के निरास (Elimination) तथा वास्तविक कारण के सत्यापन पर जोर दिया। यह ठीक है कि इस समय मिल के सिद्धान्त को भी युक्तिसंगत तथा पर्याप्त नहीं कहा जायगा। परन्तु, इन दार्शनिकों के मत ने दो निष्कर्षों को असाक्षात् रीति से स्थापित किया है :

(अ) 'अनुभव' को धार्मिक उद्देश्यों की पुष्टि के लिए नहीं, वरन् ऐहिक तथा प्राकृतिक नियमों की स्थापना के लिये ही यथोचित रीति से काम में लाया जा सकता है।

(आ) फिर, उसी निष्कर्ष को सत्य माना जायगा, जिसे अन्त में इन्द्रियानुभव पर आधृत किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में ह्यूम की उक्ति उल्लेखनीय है :

यदि हम अपने हाथ में ईश्वरदर्शन तथा तत्त्वमीमांसा के किसी ग्रन्थ को, उदाहरणार्थ लें, तो इसके सन्दर्भ में हम पूछें, क्या इसके अन्तर्गत संख्या अथवा परिमाण-सम्बन्धी असूक्त युक्तियाँ हैं? नहीं। क्या इसमें अस्तित्व (Existence) तथा तथ्य-सम्बन्धी प्रयोगात्मक युक्तियाँ हैं? नहीं। तो, इसे अग्नि-विसर्जन कर दो; क्योंकि इनमें छल तथा भ्रम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता है।

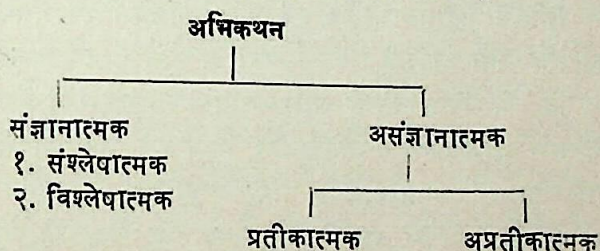
इसलिये, ह्यूम का सुझाव था कि किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को अर्थपूर्ण होने के लिये उसे किसी-न-किसी संवेदन-छाप पर आधृत होना चाहिये। इस कसौटी को ध्यान में रखकर ह्यूम ने द्रव्य तथा कारण-कार्य-सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। प्रायः समझा जाता है कि परिवर्तनशील गुणों के अतिरिक्त उन गुणों का कोई स्थायी आश्रय होता है, जो उन्हें धारण किये रहते हैं। परन्तु, इस प्रसंग में ह्यूम का प्रश्न है, 'गुणों को हम इन्द्रियानुभव से जानते हैं, पर इन गुणों के आश्रय स्थायी द्रव्य को हम कैसे निर्धारित करते हैं?' निर्धारित करने की एक ही विधि है, अर्थात् इन्द्रियानुभव से सिद्ध करना। अब क्या स्थायी द्रव्य नाक से जाना जाता है? यदि ऐसी बात हो, तो द्रव्य एक परिवर्तनशील गन्ध-संवेदना होगी; यदि यह द्रव्य आँखों से अनुभूत हो, तो यह रंग-संवेदना होगी, यदि कान से यह स्थायी आश्रय जाना जाय, तो यह श्रवण-संवेदना होगी। परन्तु, कहा जाता है कि यह द्रव्य संवेदनायें नहीं, परन्तु इनके द्वारा इंगित गुणों का आश्रय है। इस रूप में आश्रय-रूप द्रव्य अज्ञात और अज्ञेय हैं और यह किसी भी चिन्तन का उचित विषय नहीं हो सकता है। इसलिये, ह्यूम ने द्रव्य-प्रत्यय को खोखला और काल्पनिक भ्रम कहा है।

इसी प्रकार ह्यूम ने कारण-कार्य-प्रत्यय का गम्भीर विश्लेषण किया है। कारण-कार्य का सम्बन्ध दो आनुक्रमिक घटनाओं के बीच पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अग्नि को कारण और ताप को कार्य कहा जाता है। यह ठीक है कि आनुक्रमिक घटनाओं में पूर्व और अपर का सम्बन्ध देखा जाता है और कारण को नित्यपूर्ववर्त्ती घटना कहा जाता है। दिन और रात के बीच भी नित्य पूर्ववर्त्तित्व का सम्बन्ध देखा जाता है, परन्तु कोई भी दिन या रात को एक-दूसरे का कारण नहीं मानता है। इसका कारण यह है कि नित्य पूर्ववर्त्तित्व के साथ कारण-कार्य के बीच अनिवार्यता (Necessity) का सम्बन्ध पाया जाता है। पर, किसी भी लक्षण को वास्तविक होने के लिये ह्यूम की कसौटी है कि उस लक्षण को संवेदन-छाप से प्राप्त करना चाहिये। पर, अनिवार्यता को नाक, कान, आँख, चर्म आदि किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता है।^१ कोई भी अनुभूत घटना के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि अमुक घटना अमुक रीति से घटती आयी है। पर, यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक घटना अवश्यमेव होती जायगी। इसलिये, ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य का भी प्रत्यय मिथ्या, खोखला तथा भ्रममात्र है। पर, क्या द्रव्य तथा कारण-कार्य के प्रत्ययों को त्यागा जा सकता है? नहीं। क्यों? क्योंकि, ये प्रत्यय तथ्यों से नहीं प्राप्त किये जाते हैं, परन्तु ये प्रत्यय मानसिक स्वरूप से ही प्राप्त होते हैं। कोई भी वस्तु या घटना 'कारण' नहीं कही जा सकती है। परन्तु, मानव-मन की ऐसी प्राकृतिक रचना है कि यदि दो घटनायें एक साथ या आनुक्रमिक रूप से बार-बार घटें, तो पूर्ववर्त्ती घटना को देखते ही हम उत्तरवर्त्ती घटना के होने की प्रतीक्षा करने लगते हैं। कोई तार्किक हेतु ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर अग्नि को देखकर ताप की कल्पना की जा सकती है। प्रत्युत, हम कल्पना कर सकते हैं कि अग्नि से ताप न होकर ठण्डक

१. ह्यूम अनुभववादी थे, इसलिये उनकी व्याख्या भी अनुभववादी है। कारण-कार्य में निहित अनिवार्यता को सहचार, अर्थात् बार-बार घटित घटनाओं की अनुभूति से प्राप्त कहा गया है। फिर, चूँकि यह सहचार अनुभूत होने के कारण भिन्न-भिन्न मानवों में विभिन्न रूपों से पाया जा सकता है, इसलिये इसे आत्मनिष्ठ (Subjective) कहा गया है। ह्यूम के विपरीत कान्त ने कारण-कार्य की अनिवार्यता को मानसिक कहकर इसे प्रागनुभविक कहा है। अतः, ह्यूम की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है और कान्त की व्याख्या तार्किक कही जाती है।

प्राप्त हो। परन्तु, अग्नि और ताप को बार-बार घटते देखकर इनके बीच सहचार हो सकता है। मन की ऐसी रचना ही है कि जब दो या दो से अधिक घटनाओं के बीच सहचार (Association) का सम्बन्ध हो जाता है, तब मन एक घटना को प्राप्त करते ही दूसरी घटना की प्रतीक्षा करने के लिये बाध्य हो जाता है। अतः, कारण-कार्य में निहित अनिवार्यता तथ्यात्मक नहीं है। यह मानसिक तथा आत्मनिष्ठ अनिवार्यता है। ह्यूम की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है; क्योंकि उन्होंने द्रव्य, कारण-कार्य आदि को स्पष्ट करने के लिये अनुभूत मन के स्वरूप पर अपनी व्याख्या को आधृत किया है। इसके विपरीत कान्त की व्याख्या को तार्किक कहा जायगा। कान्त ने भी द्रव्य, कारण-कार्य तथा अन्य मूलप्रत्ययों (Categories) को मन के स्वरूप पर आधृत किया है। परन्तु, कान्त के अनुसार, यह मानव-मन, जिससे मूलप्रत्यय प्राप्त होते हैं, अननुभूत तथा सर्वव्यापक मन है। कान्त ने मूलधारणाओं को प्रागनुभव (A priori) बताया है।

समकालीन अनुभववाद में ह्यूम तथा कान्त दोनों की देन को अपने-अपने रूप में अपनाया गया है। ह्यूम का साक्षात् सम्बन्ध रसेल के साथ हो सकता है और कान्त का साक्षात् सम्बन्ध वित्तिगिन्स्ताइन के साथ किया जा सकता है।^१ भाषीय (Linguistic) विश्लेषण के अनुसार सर्वप्रथम अभिकथनों को संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। संज्ञानात्मक अभिकथन वे हैं, जिनमें किसी वस्तुविशेष का वर्णन तथा तत्सम्बन्धी सूचना दी जाती है, अथवा जिनमें शब्दों को उनकी परिभाषा के अनुसार संगत रूप से व्यवहृत किया जाता है। संज्ञानात्मक अभिकथनों को विश्लेषात्मक तथा संश्लेषात्मक वर्गों में विभाजित किया जाता है।



१. देखें, David Pears, *Wittgenstein*, Fontana Modern Masters, 1971. *Introduction*. ऐयर अपना सम्बन्ध ह्यूम के साथ जोड़ना अच्छा समझते हैं।

विश्लेषात्मक अभिकथन वे हैं, जिनके उद्देश्य-पदों को उनकी परिभाषा के अनुरूप विधेय-पद में व्यवहृत किया जाता है। अतः, बिना आत्मविरोध के विधेय-पद को नहीं नकारा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'लाल गुलाब लाल है।'।

यहाँ संगत रीति से 'लाल' को 'लाल गुलाब' के प्रसंग में नकारा नहीं जा सकता है, अर्थात् हम संगत रीति से नहीं कह सकते हैं कि लाल गुलाब हरा है।

विश्लेषात्मक अभिकथनों में शब्दों का विश्लेषण-मात्र किया जाता है और शब्दों के अनुरूप सत्ता पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसके विपरीत संश्लेषात्मक अभिकथन वे हैं, जिनके उद्देश्य तथा विधेय-पदों को केवल अनुभव के ही आधार पर जोड़ा (संश्लिष्ट) जा सकता है। उदाहरणार्थ : कौवे काले होते हैं। गुलाब सुगन्धित होता है। यहाँ 'कौवे' और 'कालेपन' को और 'गुलाब' और 'सुगन्धित्व' को केवल अनुभव के आधार पर जोड़ा गया है, चूँकि इन उद्देश्य और विधेय-पदों का संश्लेष अनुभव पर आधृत होता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों को अनुभवाश्रित (Empirical) भी कहा जाता है। फिर, चूँकि केवल अनुभव के ही आधार पर तथ्यों को निश्चित किया जाता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों को तथ्यात्मक (Factual) भी कहा जा सकता है। विश्लेषात्मक अभिकथनों की तुलना में संश्लेषात्मक अभिकथनों के विधेय-पद को बिना किसी आत्मव्याघात के नकारा जा सकता है। उदाहरणार्थ, कौवे हरे होते हैं। गुलाब गन्धहीन होते हैं।

यह ठीक है कि वास्तव में किसी ने हरे कौवे को नहीं देखा है। पर, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। चूँकि विश्लेषात्मक अभिकथनों में विधेय-पद संगत रीति से नहीं नकारा जा सकता है, इसलिये विश्लेषात्मक अभिकथनों में अनिवार्यता पायी जाती है। इसके विपरीत, चूँकि संश्लेषात्मक अभिकथनों में विधेय-पद को बिना किसी आत्मव्याघात के नकारा जा सकता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों में अनिवार्यता के स्थान पर आकस्मिकता अथवा आपातिकता (Contingency) पायी जाती है। अतः, संगत रीति से किसी कथन को अनिवार्य और आपातिक नहीं कहा जा सकता है, दूसरे शब्दों में सत्ता-सम्बन्धी अथवा तथ्यपरक अभिकथनों को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि ऐसे अभिकथन संश्लेषात्मक होने के हेतु केवल आपातिक ही हो सकते हैं।

वहुसंख्य ईसाई दार्शनिक अब भी सोचते हैं कि ईश्वर-सम्बन्धी अभिकथन संज्ञानात्मक हैं। अर्थात्, या तो वे विश्लेषात्मक या संश्लेषात्मक होते हैं। परन्तु, ऐसा मान लेने पर अन्त में ईश्वर-सम्बन्धी अभिकथन आत्मविरोधी, खोखले तथा विसंगत (Absurd) सिद्ध हो जाते हैं। पहली बात है कि ई-कथन' विश्लेषात्मक नहीं ही हो सकते हैं; क्योंकि ईश्वर को एक वास्तविक सत्ता स्वीकार किया जाता है, न कि कोई एक परिभाषित शब्द। ईश्वर वह परम सत्ता है, जो व्यक्तित्वपूर्ण है और जो भक्तों के क्रन्दन को सुनता है। ईश्वर 'त्रिभुज', 'रेखा' आदि के समान परिभाषित शब्द नहीं है। इसलिये, यदि ईश्वर को वास्तविक सत्ता माना जाय, तो ईश्वर-सम्बन्धी कथन को संश्लेषात्मक ही कहा जायगा, न कि विश्लेषात्मक। अब ई-कथन को संश्लेषात्मक मानने के लिये स्वीकारना होगा कि ई-कथन आपातिक ही हो सकता है, न कि अनिवार्य। परन्तु, हमलोगों ने इस अध्याय को प्रारम्भ में ही देखा है कि ईसाइयों के लिये यदि ईश्वर है, तो वह उपास्य होगा। यदि ईश्वर उपास्य हो, तो उसका अस्तित्व और उसके उदात्त गुण ऐसे होने चाहिये कि उनके नहीं होने की कल्पना भी नहीं की जा सके। परन्तु, वह, जिसके नहीं होने की कल्पना तक नहीं की जा सके, उसे 'अनिवार्य' कहा जाता है। परन्तु, अनिवार्यता केवल विश्लेषात्मक अभिकथनों में ही देखी जाती है। तब क्या ई-कथन संश्लेषात्मक होते हुए भी अनिवार्य कहे जा सकते हैं? नहीं, क्योंकि, ऐसा कहने का अर्थ होगा कि संश्लेषात्मक अभिकथन विश्लेषात्मक होता है और यह आत्मविरोधी उक्ति होगी। अतः, उपास्य ईश्वर का प्रत्यय ही ऐसा होता है कि आत्मविरोध हो जाता है। उपास्य ईश्वर का प्रत्यय है अनिवार्य सत्ता (Necessary Being)। यदि ईश्वर अनिवार्य हो (अर्थात्, ई-कथन अनिवार्य हो), तो 'ईश्वर' केवल शब्द-मात्र हो जाता है और तब उसे सत्ता नहीं कहा जा सकता है; और यदि ईश्वर सत्ता हो, तो अन्य किसी भी वास्तविक सत्ता के समान उसके नहीं होने की कल्पना की जा सकती है, अर्थात् वह अनिवार्य न होकर केवल आपातिक ही हो सकता है। इसलिये, ईश्वर को अनिवार्य सत्ता नहीं कहा जा सकता है। अब चूँकि ईश्वर-भावना बन्ध्या माता के पुत्र के समान विसंगत है, इसलिये ईश्वर-भावना के अनुरूप सत्ता ही नहीं सकती है। इसे सत्ता-मूलक निरीश्वरवाद (Ontological atheism)

१. अर्थात्, 'ईश्वर-सम्बन्धी-कथन' का संक्षिप्त रूप है 'ई-कथन'।

कहा जाता है, जो अनुभववादी संज्ञानात्मक अभिकथनों के स्पष्टीकरण से सिद्ध होता है। फिर, अनुभववाद के अनुसार किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को सबसे पहले अर्थपूर्ण सिद्ध करना चाहिये, तब बाद में उसे सत्य-असत्य सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु, किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को अर्थपूर्ण होने के लिये इसमें सत्यापनीयता (Verifiability) तथा मिथ्यापनीयता (Falsifiability) के दो सिद्धान्तों को लागू करना चाहिये। क्या ई-कथन को सत्यापनीय तथा मिथ्यापनीय कहा जा सकता है ?

ईश्वर-सम्बन्धी कथनों की सत्यापनीयता-मिथ्यापनीयता:

ह्यूम ने तथ्यात्मक कथनों को ध्यान में रखकर कहा था कि मानव अपनी कल्पना को स्वर्ग अथवा ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक क्यों नहीं दौड़ाये, परन्तु अन्त में उसके तथ्यात्मक विचार प्रत्यक्षों की संकीर्ण सीमा से बाहर नहीं जा सकते हैं। कान्त ने भी ह्यूम के इस मत का समर्थन किया है। कान्त के अनुसार, भी तथ्यों का वैज्ञानिक ज्ञान प्रत्यक्षों की लक्ष्मण-रेखा को नहीं पार कर सकता है। समकालीन २०वीं शताब्दी में रसेल, प्रारम्भिक वित्तगिन्स्ताइन तथा तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने (Logical positivists) स्थापित किया है कि अन्त में सभी प्रकार के तथ्यात्मक कथनों को सरल अथवा अणु-वाक्यों (Atomic propositions) में आकृत्यन्तरित (Reduced) किया जा सकता है और अणु-वाक्य वे हैं, जो उँगली से इंगित किये गये इन्द्रिय-प्रदत्तों का वर्णन-मात्र करते हैं। अतः, अनुभववाद के अनुसार अन्त में किसी भी तथ्यात्मक कथन को तभी अर्थपूर्ण समझा जायगा, जब इसे साक्षात् इन्द्रियानुभव से पुष्ट-अपुष्ट अथवा सत्य-असत्य ठहराया जाय। इसी बात को प्रो० ए० जे० ऐयर ने सत्यापन-सिद्धान्त की संज्ञा दी है।

सत्यापन-सिद्धान्त का सूत्रीकरण (Formulation) सन्तोषजनक नहीं सिद्ध हुआ है। तो भी आलोचकों का कहना है कि इस सत्यापन-सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है कि किस कथन को तथ्यात्मक स्वीकार किया जाय और किस कथन को तथ्यात्मक नहीं स्वीकार किया जाय (कान्प, ऐयर, माइल्स, रसेल, फाइगल्स आदि)। परन्तु, शायद कार्ल पॉपर ने ही किसी भी कथन की तथ्यात्मकता को निर्धारित करने के लिये संगत कसौटी रची है :

कोई भी वैज्ञानिक कथन जितने अधिक तथ्यात्मक होंगे, वे उतने ही अधिक मिथ्यापनीय भी होंगे। जितनी दूर तक वे मिथ्यापनीय नहीं हैं, उतनी दूर तक वे तथ्यात्मक भी नहीं कहे जा सकते हैं।

यदि ई-कथन को संज्ञानात्मक तथा तथ्यात्मक माना जाय, तो उसे अवश्य मिथ्यापनीय भी होना चाहिये। परन्तु, निम्नलिखित कारणों से ई-कथन को मिथ्यापित नहीं किया जा सकता है :

१. ईश्वर-सम्बन्धी कथनों में शब्दों को ईश्वर के लिये शब्दशः नहीं प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'ईश्वर प्रेम है।' परन्तु, क्या ईश्वर का प्रेम पति का है, या पत्नी का या पिता का है, या माता का है इत्यादि? यदि ईश्वरीय प्रेम को इस प्रकार के अनुभूत अथवा साधारण प्रेम कहा जाय, तो विश्व की अशुभ समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। पूछा जा सकता है, यदि ईश्वर का प्रेम साधारण मानव का प्रेम हो, तो ईश्वर अपनी सृष्ट सन्तानों को क्यों दुःख से नहीं बचाता है? क्यों विधवा का एकलौता पुत्र भी जवानी में मर जाता है? क्यों बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु होती है? क्यों सूखा-बाढ़, संक्रामक रोग आदि पाये जाते हैं? जब साधारण मानव-पिता अपनी सन्तान की उँगली के भी दर्द को दूर करने का प्रयास करता है, तब असीम प्रेमी ईश्वर अपनी सन्तान के दुःखों का क्यों नहीं निवारण करता है? इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर ईश्वरवादी अनेक प्रकार से अपनी प्रतिरक्षा में तर्क प्रस्तुत किया करते हैं। परन्तु, उनकी मुख्य दलील यही रहती है कि ईश्वर-सम्बन्धी शब्द शब्दशः (Literally) नहीं प्रयुक्त किये जाते हैं। ईश्वर प्रेमी है अवश्य, पर ईश्वर का प्रेम साधारण व्यक्तियों का प्रेम नहीं है। परन्तु, अनुभववादी इस नकारात्मक उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है।

तो ईश्वरीय प्रेम को हम कैसे जान सकते हैं? क्या ईश्वरीय प्रेम का निर्णायक प्रयोग किया जा सकता है?

ईश्वरवादी—नहीं! (क) क्योंकि, मानव ईश्वर के असली स्वरूप को नहीं जान सकता है। ईश्वर का प्रेम रहस्यपूर्ण हुआ करता है।

(ख) फिर, ईश्वर के सन्दर्भ में शब्दों को साम्यानुमानिक रीति से ही प्रयुक्त किया जाता है।

(ग) अपितु, ईश्वर की कार्यवाही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्तर पर प्रतिपादित होती है। जबतक हमें सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान नहीं हो, तबतक हमें ईश्वर की कार्यवाही का ज्ञान नहीं हो सकता है।

(घ) मानव का ऐहिक जीवन उसके सम्पूर्ण जीवन का एक छोटा-सा अध्याय है। मानव-ज्ञान कुछ दूर तक मरणोत्तर जीवन में स्पष्ट होता है। अतः, ईश्वरीय प्रेम तथा ईश्वर-सम्बन्धी अन्य सभी बातें अनुजीवन में ही पुष्ट-अपुष्ट हो सकती हैं। इसलिये, ईश्वरीय प्रेम की कथा भी अनुजीवन की अनुभूति से ही सिद्ध-असिद्ध हो सकती है।

अनुभववादी—परन्तु, अनुभववादी दृष्टि में ईश्वरवाद के समर्थन में प्रस्तुत सभी प्रतिरक्षात्मक तर्क वास्तव में कुतर्क हैं :

(क) रहस्यपूर्णता मानव-ज्ञान-परिधि से बाहर है और इसलिये रहस्य-पूर्णता के आधार पर दर्शन में संगोष्ठी नहीं हो सकती है। दार्शनिक कथनों को सार्वजनिक, संज्ञापनीय (Communicable) तथा आवृत्तीय (Repeatable) अनुभूति पर आवृत्त होना चाहिये। रहस्यानुभूति मूक होती है। इसलिये, दार्शनिक चिन्तन में रहस्यानुभव को स्थान नहीं दिया जा सकता है। अतः, ईश्वरीय प्रेम को रहस्यपूर्ण कहकर ईश्वरीय प्रेम-सम्बन्धी कथन को अर्थपूर्ण नहीं माना जा सकता है।

(ख) अनुभववादी की दृष्टि में साम्यानुमानिक तर्क से ई-कथन की अर्थ-पूर्णता स्पष्ट नहीं होती है। अन्त में, टॉमसवादी साम्यानुमान-सिद्धान्त का निष्कर्ष अज्ञेयवाद में परिणत हो जाता है।^१ इस अज्ञेयवाद से किसी भी आपत्ति का समाधान नहीं हो सकता है।

(ग) कान्त ने पहले ही कहा था कि ब्रह्माण्ड का सम्पूर्णत्व समस्याभास है। सम्पूर्ण विश्व किसी भी इन्द्रियानुभव में नहीं समा सकता है। इसलिये अनुभववादी दृष्टि से जो अनुभव से अतीत है, वह मानव-ज्ञान से भी अतीत है। अतः, अनुभवातीत तत्त्वमीमांसा के आधार पर किसी भी दार्शनिक कथन को पुष्ट नहीं किया जा सकता है।

१. देखें, या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ० ३१२—३१६।

